राजवाड़े लेख संग्रह

सम्पादक
तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी

अनुवादक
वसन्त देव

साहित्य अकादमी की ओर से
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी (प्रा.) लि., आगरा

अनुक्रमणिका

क्रमांक पृष्ठ

१. विकार-विचार-प्रदर्शन के साधनों की उत्क्रान्ति ... १-२९
(इतिहास तथा ऐतिहासिक खण्ड २; वर्ष ३)
२. इतिहास के दो पहलू : भौतिक एवं आध्यात्मिक ... ३०-३१
(ऐतिहासिक प्रस्तावना)
३. इतिहास का अर्थ क्या है ? ... ३२-३४
(ऐतिहासिक प्रस्तावना)
४. हिन्दू-समाज मे अहिन्दुओं का समावेश ... ३५-६४
(भारत इतिहास संशोधक मण्डल, पूना; चतुर्थ सम्मेलन-वृत्त,)
५. भारतीय आर्यों का वर्ण ... ६५-७१
(राजवाड़े-लेख-संग्रह, भाग ३)
६. हमारे पुराण तथा असीरिया की नयी खोजें ... ७२-८३
(राजवाड़े-लेख-संग्रह ; भाग ३)
७. "मग" ब्राह्मण कौन थे ? ... ९१-१०१
(राजवाड़े-लेख-संग्रह, भाग ३)
८. मगध ... १०२-१०३
(राजवाड़े-लेख-संग्रह; भाग ३)
९. नट तथा निच्छवि ... १०४-१०४
(राजवाड़े-लेख-संग्रह; भाग ३)
१०. महाराष्ट्र की प्राकृतिक भाषाओं तथा साहित्य का इतिहास ... १०५-१२१
(इतिहास तथा ऐतिहासक; वर्ष २)
११. मराठों का इतिहास किस प्रकार लिखा जाय ? ... १२२-१२६
(ऐतिहासिक प्रस्तावना)
१२. महाराष्ट्र का उपनिवेशन ... १२७-१५९
(राधामाधवविलास चम्पू)
१३. महाराष्ट्र तथा उत्तरी कोंकण का उपनिवेशन .. १६०-१८६
(महिकावती की बखर)
१४. मराठा राज्य का हेतु ... १८७-२०७
(ऐतिहासिक प्रस्तावना)
१५. मराठों का ऐतिहासिक कार्य एवं पराजय ... २०८-२१६
(ऐतिहासिक प्रस्तावना)
१६. मराठा राज्य का विकास ... २१७-२२१
(ऐतिहासिक प्रस्तावना)

क्रमांक		पृष्ठ
१७. मराठाशाही का संस्थापक : शाहजी (राधामाधवविलास चम्पू)	....	२२२-२४८
१८. शिवाजी की गुण-सम्पत्ति (ऐतिहासिक प्रस्तावना)	...	२४६-२५५
१६. रामदास (ग्रन्थमाला : संकीर्ण लेख-संग्रह)	..	२५६-२६३
२०. उपन्यास (ग्रन्थमाला : संकीर्ण लेख-संग्रह)	...	२६४-३२३

मराठी के निरुक्तकार एवं इतिहासाचार्य
विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े

: जन्म :
१२ जुलाई, १८६४ ई०

: मृत्यु :
३१ दिसम्बर, १९२६ ई०

प्रस्तावना

जन्म तथा शैशव

श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े का जन्म शक-सम्वत् १७८५ (सन् १८६३ ई०) की आषाढ़ सुदी ८ को कोकण के वरसई नामक ग्राम मे हुआ। आपका वचपन वरसई मे ही बीता और प्राथमिक शिक्षा पूना जिले के बड़गाँव में हुई। आपके पितामह वड़गाँव के निकट स्थित लोहगढ के किलेदार थे। राजवाडेजी के वचपन मे ही उनके पिता नही रहे। प्रारम्भ मे आप अपने चाचा के यहाँ रह कर अध्ययन करते रहे। भाषा और गणित मे आप विशेष प्रवीण थे, पर ऊधमबाजी, मार-पीट, और उद्दण्डता दिखलाने तथा गिल्ली-डण्डा, तैरना, दौड़ना, आट्यापाट्या[१], खो-खो[२] आदि खेलों मे कम रुचि नही रखते थे। महाविद्यालय की शिक्षा समाप्त होने तक व्यायाम का शौक रहने के कारण आप का शरीर दृढ किन्तु छरहरा बना रहा।

माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा

आपने माध्यमिक और अधिकाश उच्च शिक्षा पूने मे पाई। "कनिष्ठ, मध्यम तथा उच्च विद्यालयों का अनुभव" शीर्षक विस्तृत (मुद्रित ५० पृष्ठ) लेख में आपने विद्यार्थी-दशा के अनुभवों का उल्लेख किया है जो आपकी आत्मकथा का एक उत्तम अध्याय है। उत्कृष्ट साहित्य के उदाहरण के रूप मे वह लेख मराठी मे चिरजीवी रहेगा; किन्तु महत्त्व की वात यह है कि उसमें तत्कालीन भारतीय शिक्षा-सस्थाओं की स्थिति के दर्शन के साथ ही अंग्रेजों द्वारा प्रचलित शिक्षा-पद्धति के गुणावगुणों की गम्भीर मीमासा भी मिलती है। राजवाड़ेजी ने स्वाभाविक विशाल बुद्धिमत्ता पायी थी। उसका समुचित उपयोग कर बौद्धिक प्रगति करानेवाले तथा मूलगामी अध्ययन करने-करानेवाले अध्यापकों का आज की भाँति उस समय भी अभाव था। राजवाड़ेजी ने इस सम्बन्ध मे लिखा है: "गुरुजी (अध्यापक) असंस्कृत, उदरार्थी एवं यहाँ का बोझ वहाँ पटकने वालों मे थे", "(हाईस्कूल मे) उत्तम अध्यापक मिलता तो तीन वर्षों में बी० ए० उत्तीर्ण करने के योग्य हो जाता।" माध्यमिक शिक्षा देने वाले अंग्रेजी

१-२ विशेष प्रकार के मैदानी खेल जिनमे काफी फुर्ती से दौड़ना पड़ता है। —अनु०।

विद्यालयों के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि "मैंने पूना के तीन इंगलिश विद्यालयों में क्रमपूर्वक अध्ययन करने का अवसर पाया।" सन् १८७६ ई० में आप श्री बाबा गोखले के विद्यालय में दाखिल हुए। विद्यालय का स्थान गन्दा, दुर्गन्ध का गढ, ढहती दीवार, पास ही खुले पनारे और डलियावाले पाखाने। अध्यापक कामचोर, घण्टे में पाँच-दस मिनट पढानेवाले थे। उसके पश्चात् आप वासुदेव बलवन्त फडके (क्रान्तिकारी) द्वारा स्थापित हाईस्कूल में पहुँचे। संस्थापक ने सद्बुद्धि से प्रेरित होकर विद्यालय प्रारम्भ किया, परन्तु वहाँ के अधिकतर अध्यापक भी अयोग्य थे। उसके उपरान्त आप ईसाई मिशनरियों के हाईस्कूल में प्रविष्ट हुए। वहाँ भी अनेक अध्यापक व्यसनी, शराबी और अनाचारी दिखायी पडे। सर्वत्र ऐसे अध्यापक भरे हुए थे जिनमें उच्च आचारों तथा देश-भक्ति का नितान्त अभाव था। सबसे बडा अपवाद था स्व० विष्णु-शास्त्री चिपलूणकर द्वारा स्थापित "न्यू इंगलिश स्कूल"। उसके विषय में राजवाडेजी लिखते है कि "स्थापना के समय चिपलूणकर महोदय ने प्रतिज्ञा की थी कि अपने विद्यालय में गोरे साहब को घुसने न दूंगा। पर दुर्भाग्यवश चिपलूणकर अल्पायु सिद्ध हुए। उनकी संस्था ने आगे चलकर अंग्रेज अधिकारियों का स्वागत-समारोह करने की प्रथा जारी की।"

राजवाडेजी ने ई० सन् १८८२ की जनवरी में बम्बई विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षा (एन्ट्रेन्स) उत्तीर्ण की। प्रारम्भ में आप बम्बई के एलफिन्स्टन कॉलेज में विद्यार्थी रहे। बाद में धनाभाव के कारण कॉलेज छोड़कर आपने माध्यमिक शिक्षा देनेवाला निजी वर्ग खोला। सन् १८८४ ई० में आपके ज्येष्ठ बन्धु प्रो० वैजनाथ काशिनाथ राजवाड़े पूना के डेक्कन कॉलिज में "फेलो" नियुक्त किये गये। उनकी सहायता से राजवाड़ेजी को डेक्कन कॉलिज में अध्ययन करने का अवसर मिला। उस समय डेक्कन कॉलिज में भारतीय कीर्ति प्राप्त विद्वान न्यायकोशकार महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर, डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर आदि विद्वान व्यक्ति प्राध्यापक थे। राजवाडेजी ने उक्त कॉलेज में छः वर्ष बिताए। सन् १८९० ई० की जनवरी में वे बी० ए० उत्तीर्ण हुए। क्रमपूर्वक परीक्षा देना आपको कभी पसन्द नही आया। इच्छा होती तो पूरे वर्ष का पाठ्यक्रम दो महीनो में तैयार कर लेते और परीक्षा में भाग लेकर उत्तीर्ण हो जाते; इस प्रकार बीच का समय बरबाद हुआ। प्रमुख कारण यह था कि अनेक पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन में कालक्षेप करने में आपकी रुचि नही थी। तर्क-संग्रह, लॉर्ड बेकन आदि की पुस्तके प्राचीन जीर्ण-शीर्ण तथा असंगत सिद्धान्तों से भरी प्रतीत होती थी अतः उनका विचार था कि ऐसी पुस्तकों का अध्ययन करना व्यर्थ है। इसी कारण उस बीच आपने पाश्चात्य ग्रन्थकारों के

इतिहास, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, साहित्य आदि विषयों के छोटे-मोटे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का परिशीलन और समवयस्क विद्यार्थियों से खूब वाद-विवाद किया, साथ ही शारीरिक व्यायाम कर शक्ति अर्जित की। कॉलेज के सात वर्षों में आप कभी बीमार नहीं पड़े। कॉलेज-शिक्षा की परीक्षा-पद्धति आपको उबाने वाली और बचपन-भरी प्रतीत होती रही। कॉलेज में प्रवेश पाते ही राजवाड़ेजी ने निश्चय किया कि सरकारी नौकरी नहीं करेंगे; इसी कारण उन्होंने परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप आप कॉलेज के अध्यापकों तथा विद्यार्थी-मित्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पाये। वे लिखते हैं : "अध्यापकों और परीक्षार्थियों से मैं जो स्नेह-सम्बन्ध नहीं रख सका उसका प्रमुख कारण था उद्देश्यों की भिन्नता। अध्यापकों का उद्देश्य विद्यार्थियों को परीक्षा के लिए तैयार कराना था, विद्यार्थियों का उद्देश्य परीक्षा उत्तीर्ण कर नौकरी पाना था। मेरा उद्देश्य विद्यार्जन कर सम्पूर्णतः स्वतन्त्र व्यवसाय करना था। मात्र विद्यार्जन के उद्देश्य से कॉलेज में मैं क्यों आया, नौकर तैयार करने के कारखाने में आकर फँस गया.. मैं दृढ़ निश्चय कर चुका था कि सरकारी नौकरी नहीं करूँगा। अतः किराये के अध्यापक की, गुलामी में जकड़नेवाली नौकरियों और मानसिक शैथिल्य उत्पन्न करनेवाली परीक्षाओं से मैं जो दूर होकर ग्रन्थालय के ग्रन्थों के पास एकाग्रता से पहुँच गया। यह अत्यन्त स्वाभाविक था। सन् १८८४ से १८९० ई० के सात तथा पूर्व के दो वर्षों में मैंने यूरोपीय इतिहास, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दर्शन, तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान-विषयक असंख्य प्राचीन तथा अर्वाचीन, मौलिक तथा अनुवादित ग्रन्थों का अध्ययन-मनन किया। इसके अतिरिक्त वनस्पतिशास्त्र तथा फारसी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त किया... प्लेटो के सुराज्य (रिपब्लिक) का इसी समय मराठी में अनुवाद किया.... उस (सरकारी) शिक्षा-पद्धति का जो मुख्य उद्देश्य था नौकरी पाने के लिए परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना उससे मैं पूर्णतः मुक्त हो गया। वह शिक्षा-पद्धति एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता उत्पन्न कराती है, कर्तृत्वशक्ति का ह्रास कराती है; उसे मन-ही-मन त्याग देने के कारण मैं उसके दोषों का शिकार नहीं बन पाया। किन्तु एक कुटेव में बुरी तरह फँस गया। कोई और चीज तो नहीं, पर थी वह अँग्रेज़ी बोलने और अँग्रेज़ी में विचार करने की बुरी आदत। पन्द्रह साल तक मैं चौबीसों घण्टे अँग्रेज़ी का व्यवहार करने लगा। दो-तीन सज्जनों ने मुझे इस विपदा से उबारा। विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के समीक्षात्मक निबन्धों ने मुझे अँग्रेज़ी के खग्रास-ग्रहण से बचाया। काव्येतिहास-संग्रहकार के ऐतिहासिक पत्रों ने स्वदेश की कल्पना कराई और परशुरामतात्या गोड्बोले द्वारा प्रकाशित काव्यों ने महाराष्ट्र-साहित्य के प्रति

गर्व उत्पन्न कराया।" इससे स्पष्ट होगा कि राजवाड़ेजी के ध्येयवादी जीवन का प्रारम्भ महाविद्यालय की शिक्षा के साथ ही हुआ।

भारतीय पुनरुज्जीवन की प्ररणा

महाविद्यालय की शिक्षा समाप्त करते ही आपने विवाह किया; परन्तु पत्नी की अकाल मृत्यु ने राजवाड़ेजी के ध्येयवादी जीवन को, दीर्घ तथा ज्ञानमय तपस्या को एकाग्रता प्रदान की। सन् १८८५ ई० मे आपने "भाषान्तर" नामक मराठी मासिक-पत्रिका चलाई। आपका उद्देश्य यह था कि पत्रिका मे प्लेटो, अरस्तू (एरिस्टॉटल), गिवन आदि पाश्चात्य ग्रन्थकारों और शंकराचार्य जैसे भारतीय मनीषियो की रचनाओं का क्रमशः अनुवाद प्रस्तुत किया जाय। इस कार्य मे आपने अंग्रेजी और संस्कृत के अनेक विद्वान् उपाधिधारियों का सहयोग प्राप्त किया। पर "भाषान्तर" कठिनाई से दो वर्ष चलकर वन्द हो गया। "भाषान्तर" के प्रथम अंक का प्रस्तावनात्मक लेख राजवाड़ेजी के जीवनोद्देश्य को अभिव्यक्त करता है। उनका विचार था कि जिस ज्ञान की ज्योति ने यूरोप को अन्धकारमय मध्ययुग से मुक्त कराया वह भारत मे भी प्रज्ज्वलित हो; उसी ज्ञान-ज्योति के प्रभाव से बौद्धिक तथा मानसिक अवनति रुकेगी और पुनरुज्जीवन (रिनैसाँ) का शुभारम्भ होगा। वह नया ज्ञान यहाँ की जनता अपनी भाषा मे प्राप्त करे, इसी उद्देश्य से "भाषान्तर" का जन्म हुआ। "भाषान्तर" भले ही शीघ्र वन्द हो गया; परन्तु राजवाड़ेजी के पुनरुज्जीवन अथवा नवजीवन विषयक प्रयत्नों मे कोई बाधा उत्पन्न नही हुई। इतिहास का आश्रय ग्रहण करने का यही कारण था। चौदहवी शती के यूरोप के पुनरुज्जीवन की अपेक्षा उन्नीसवी शती के भारतीय पुनरुज्जीवन की पार्श्वभूमि अत्यन्त भिन्न होने के कारण राजवाड़ेजी ने उसे ऐतिहासिक चेतना की पीठिका देने का निश्चय किया। विदेशी सत्ता ने देश को पराजित कर दिया था और पराजित मनोवृत्ति को सुधारने के लिए अस्मिता एवं आत्मस्मृति की आवश्यकता थी। इतिहास-विद्या की स्थापना की गरज इसी कारण प्रतीत हुई। अस्मिता के साथ ही आधुनिक बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक संस्कृति का वल प्राप्त करना भी उतना ही अनिवार्य था। विदेशियो के हाथो भारत की पराजय होने के कार्य-कारण भाव की मीमांसा करते हुए राजवाड़े महोदय ने बतलाया है कि पाश्चात्यों की संस्कृति भारतीय हिन्दुओं की संस्कृति से अधिक उन्नत अतः अधिक सामर्थ्यवान थी। इसका आशय यह कि जब तक भारतीय जनता स्वाभिमान तथा वैज्ञानिक संस्कृति से लाभ नही उठा

सकती तब तक नवजीवन की कल्पना करना बेकार है। राजवाड़ेजी इसी सिद्धान्त को सूचित करना चाहते थे। इसी ऐतिहासिक चिन्तन ने मराठी भाषा के क्षेत्र में नवजीवन का बीजारोपण किया।

मराठों के इतिहास, मराठी भाषा तथा संस्कृति के ऐतिहासिक व्याकरण, प्राचीन मराठी साहित्य के इतिहास तथा भारतीय या हिन्दू समाज के इतिहास की समाजशास्त्रीय मीमांसा के सम्बन्ध में इतिहासकार राजवाडेजी ने जो गवेषणात्मक लेखन तथा ग्रन्थों का सम्पादन किया है, वे अनन्य साधारण महत्व रखते हैं। मराठों के इतिहास के साधनों को एकत्र कर प्रकाशित करना अथवा मराठी साहित्य की मध्ययुगीय ग्रन्थ-सम्पत्ति तथा अनेक ग्रन्थकारों को परिश्रमपूर्वक प्रकाश में लाना ही—राजवाडेजी ने इतिहास के क्षेत्र में प्रस्तुत किया हो, ऐसी बात नहीं; बल्कि उन्होंने और आगे बढ़कर इतिहास के आधुनिक तत्व-दर्शनों, समाज-शास्त्रीय विविध विचार-प्रणालियों तथा भाषा-विज्ञान का चिरकाल तक मनन कर तत्सम्बन्धी स्वयं अपने सिद्धान्त रचे और उन्हें भारतीय समाजेतिहास तथा भाषा-इतिहास पर चरितार्थ कर महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्थापित किये। इसी कारण आपने विख्यात् इतिहासकारों द्वारा रचित यूनान, रोम, मध्य तथा आधुनिक-कालीन यूरोप के इतिहास तथा जागतिक इतिहास के ग्रन्थों का व्यापक अध्ययन किया।

लेखन-कार्य का विवरण

राजवाड़ेजी के लेखन-कार्य का विवरण इस प्रकार है। सन् १८९० से १९२६ ई० तक की प्रौढ़ायु में आपने भारतीय और विशेषकर महाराष्ट्रीय आधुनिक पण्डितों के लेख तथा चर्चाओं में उपस्थित होने वाले ऐतिहासिक विवादों तथा लेखन-भाषणात्मक आन्दोलनों के अनुषंग से चिन्तन-मनन तथा अनुसंधान किया और अपने निष्कर्षों को समय-समय पर प्रकाशित भी किया। कॉलेज में अध्ययन करते समय आप प्लेटो के "रिपब्लिक" का मराठी में अनुवाद कर ही चुके थे जो अंशतः उनके पत्र-'भाषान्तर' सन् १८९५ ई० में प्रकाशित किया जा चुका था। किन्तु "भाषान्तर" डेढ़ वर्ष में बन्द ही जाने के कारण पूरी पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी। सन् १८९८-१९२६ ई० के बीच आपने अपने जीवनोद्देश्य के महत्वपूर्ण कार्य के रूप में "मराठों के इतिहास के साधन" नामक संग्रहात्मक पुस्तक के २२ खण्ड (लगभग ११ सहस्र पृष्ठ) प्रकाशित किये। बाईस खण्डों में से १ से ६ और ८ से खण्डों तथा १० व

११ वे खण्डो के लिए ऐतिहासिक विवेचनात्मक निबन्धों की भाँति प्रस्तावनाएँ लिखी। क्रमांक १,३,४,६,८ की प्रस्तावनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और प्रथम छः खण्ड की प्रस्तावना तो सबसे दीर्घ (१२३ पृष्ठ) है जिसमें आपने मराठी के इतिहास के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित कर उनका उत्तर दिया है और इतिहास-दर्शन का अपना मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तावना से राजवाडेजी महाराष्ट्रीय सुशिक्षित समाज में प्रसिद्ध हो गये और महान् इतिहास-चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। आपकी प्रतिष्ठा चिरकालिक बनी रही; यही नही, लेखन-कार्य के साथ उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गयी, अपने विभिन्न आलोकपूर्ण पहलू दिखलाती गयी। तत्कालीन महाराष्ट्र में महत्वपूर्ण वैचारिक विषयों को स्थान देनेवाली जो मासिक-पत्रिकाएँ तथा नियतकालिक[1] प्रकाशन थे, उनमें विश्ववृत्त, ग्रन्थमाला, सरस्वती-मन्दिर, प्राची-प्रभा इतिहास तथा ऐतिहासिक, रामदास तथा रामदासी, केसरी भारत इतिहास संशोधक मण्डल का वार्षिक अनुसन्धान-वृत्त आदि, आपके लेखों को प्रायः प्रकाशित करते थे। उन्हीं पत्रों में आपके विस्तृत निबन्ध छपे। "महाराष्ट्र का उपनिवेशन काल" ग्रन्थ "इतिहास तथा ऐतिहासिक" मासिक-पत्रिका मे खण्डशः निकला। "तिडन्त-विचार" नामक मराठी का ऐतिहासिक व्याकरण-विषयक निबन्ध "प्राची-प्रभा" में छपा। "सुबन्त-विचार" शीर्षक निबन्ध भारत-इतिहास संशोधक मण्डल, पूना ने; "संस्कृत भाषा का रहस्योद्घाटन" निबन्ध स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में सत्कार्योत्तेजक सभा, धूलिया ने और "मराठी धातुकोश" नाम मराठी की तीस सहस्र धातुओं के निरुक्त के सम्बन्ध में लिखा गया ग्रन्थ धूलिया के राजवाड़े संशोधन मन्दिर ने प्रकाशित किया है। सन् १९३० ई० में "ग्रन्थमाला" के सम्पादकों ने आपके तब के अप्रकाशित लेखों को "संकीर्ण लेख-संग्रह" मे संकलित किया। ग्रन्थों की प्रस्तावनाओं अथवा मौलिक लेखों के रूप में आपने जो रचनाएँ प्रस्तुत की थीं उनका सम्पूर्ण संग्रह आपके देहान्त के बाद चित्रशाला प्रेस, पूना ने तीन खण्डो मे प्रकाशित कर अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है। तीन खण्डों के संग्रहों तथा उपर्युक्त लेख-निबंन्धों के अतिरिक्त चिरन्तन निबन्ध हैं "राधा-माधव-विलास चम्पू" एवं "महिकावती की बखर" की प्रस्तावनाएँ। वैचारिक मूल्य रखनेवाली प्रस्तावनाओं को भारत तथा महाराष्ट्र के इतिहास का गम्भीर तत्व-चिन्तन कहा जाता है।

---

[1] अंग्रेजी: पीरियॉडिकल—अनु०।

मराठी के इतिहास-साधनों को एकत्र करने मे राजवाडेजी ने जीवन समर्पित कर दिया। उनका मत था कि भारत तथा महाराष्ट्र के शास्त्रशुद्ध इतिहास के लिए इंगलिश इतिहासकारों पर निर्भर करना[1] खतरे से खाली नही। उनके द्वारा लिखा गया इतिहास अधिकतर विजेता की दृष्टि से जेता का इतिहास होने की प्रबल सम्भावना है। यदि हमें अपना इतिहास शास्त्रशुद्ध निःपक्षपाती तथा पूर्वाग्रहशून्य मन से लिखना है तो वह तथ्य-निष्ठ प्रमाणों पर आधारित होना चाहिए। इस प्रकार लिखा गया इतिहास राष्ट्र की आत्मस्मृति दिलायेगा। अतः ऐतिहासिक साधनो को एक करना इतिहासकार का पहला कर्तव्य है। आपकी श्रद्धा थी कि इस कार्य के लिए इतिहासकार को आजन्म साधना करना अनिवार्य है।

राजवाड़ेजी की ज्ञानमय तपस्या

राजवाड़ेजी मे साधना के प्रति श्रद्धा की भावना यौवन-काल मे विद्यार्थी-दशा में उत्पन्न हुई और तदनन्तर उन्होने सारा जीवन इतिहास की ज्ञानमय तपस्या मे व्यतीत किया। सन् १८८५ से १९२६ ई० तक अर्थात् जीवन के अन्त तक आप लोक-निरीक्षणार्थ तथा इतिहास के साधनो की खोज करते हुए भारत मे और विशेषकर मराठी-भाषा के प्रदेश में निरन्तर घूमते रहे। यात्रा आपने की अनिकेत होकर; किन्तु स्थिरमति से। गार्हस्थ्य का बन्धन तभी टूट चुका था जब २७ वर्ष की आयु मे पत्नी का देहान्त हुआ। तब से आप चिरयात्री ही नही, परिव्राजक तक बन गये; इतिहास तथा पुराणों मे वर्णित स्थानों का दर्शन करते रहे। जो स्थान इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण जान पड़ते थे, उनका निरन्तर दर्शन करते रहे। तमाम प्रदेश, ग्राम, नगर, सरोवर, नदियाँ, पहाड़ियाँ, किले और गढ़ियाँ आपने छान मारी। अवलोकन के साथ इतिहास मे वर्णित घटनाओं की तुलना सम्बन्धित स्थान तथा समय से करते जाते और इतिहास का मनन जारी रहता। स्थान-विशेष अथवा प्रदेश-विशेष की जातियो-जमातो का, उनकी रीति-नीतियो का, साहित्य का, भाषा-

[1] कॉलेज मे इतिहास का अध्ययन करते समय उद्भूत विचारों को राजवाड़ेजी ने यों प्रकट किया है "हिन्दुस्तान के और विशेषकर महाराष्ट्र के इतिहास के विषय में इंगलिश लेखकों ने जो "ग्रन्थ" लिखे है, वे इसी समय देखने मे आये; यूरोपीय इतिहासकारों से उनकी तुलना करने पर मेरी दृढ धारणा बन गई है कि इतिहास लिखने की इंगलिश लोग जरा भी पात्रता नहीं रखते।"

उपभाषाओं का, नाम और उच्चारण का निरुक्तशास्त्र, वंशशास्त्र तथा समाजशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करते थे। कुछ दिन, सप्ताह या महीने एकाध स्थान पर लेखन, अध्ययन तथा मनन करते हुए रम जाते थे।

जहाँ राजवाडेजी इस प्रकार रम जाते वहाँ पता लगाते कि किस व्यक्ति के यहाँ ऐतिहासिक दस्तावेज अथवा हस्तलिखित पोथियाँ हैं। पता चल जाता तो उसे हस्तगत करने का प्रयत्न करते और महत्व का दस्तावेज़ या ग्रन्थ मिल जाता तो उस पर भूखे की तरह टूट पड़ते। स्वामी की अनुमति होती तो अध्ययनार्थ ले जाते; न होती तो वहीं रहकर पढ़ते; प्रतिलिपि करते। प्रसिद्ध है कि राजवाडेजी दुर्वासा के अवतार थे, पर जिन व्यक्तियों से ऐतिहासिक साधन मिल जाने की अपेक्षा होती उनसे आप अत्यन्त विनयशील तथा विवेकपूर्ण व्यवहार करते थे। नया दस्तावेज या अन्य प्रकार का विशिष्टता-पूर्ण ग्रन्थ हाथ आ जाता तो समय-असमय नहीं देखते थे, तन्मय होकर दिनरात जुटे रहते। मितनिद्रा तथा मिताहार उनकी विशेषता थी। दिन में एक बार दोपहर के दो-तीन बजे अपने हाथ से भोजन बनाते; दूध-भात जैसा सात्त्विक आहार करते। रात में फलाहार अथवा दूध पीते। बहुत सफाई-पसन्द थे। व्यसन एक ही था—धूम्रपान। कितनी ही बार चार-पाँच बीड़ियाँ एकदम सुलगाकर पीते और धूम्र-वलयों की ओर एकाग्रता से देखते हुए इतिहास-चिन्तन में खो जाते।

हस्तलिखित दस्तावेज़ों की जाँच करना टेढ़ी खीर थी। बहुत कम स्थानों पर स्वच्छ तथा व्यवस्थित रीति से बाँधकर रखे गये दस्तावेज़ मिलते थे। कई बार लोग अपने घर के कागज-पत्र दिखाने में आनाकानी करते, उन्हें राजी करने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता था। जान-पहचान या प्रभावशाली व्यक्तियों की ओर से दबाव डलवाना पड़ता था। दस्तावेज मिल तो जाते, पर उनकी प्रतिलिपि आदि करने के लिए अन्य स्थान पर ले जाने की अनुमति न मिलती, फिर हाथ-पाँव जोड़ने पड़ते। पुलिन्दे के पुलिन्दे रद्दी चीजों में गन्दगी के बीच अस्तव्यस्त बिखरे रहते थे। वर्षा के प्रभाव से, भीगकर एक कागज दूसरे से बुरी तरह चिपक जाता तो पुलिन्दा ईंट जैसा पुख्ता हो जाता था। पंक्तियों की पंक्तियाँ और अक्षर धूमिल बन जाते; पोथियाँ झींगुरों और चूहे-दीमकों की भेंट चढ़ जातीं, अर्धनष्टावस्था में मिलतीं। फिर भी वे किसी प्रकार का क्षोभ प्रकट न कर शान्तिपूर्वक झाड़-पोंछ करते; एक-एक दस्तावेज़ जोड़ते, अध्ययन करते। ३५-४० वर्षों तक राजवाड़ेजी ने उग्र तपस्या कर इतिहास-साधनों को एकत्र किया। अविराम परिश्रम

करते हुए संकटों से सामना करना पड़ता; पर वे जूझते रहे और उत्साह से काम करते रहे।

उदाहरणार्थ प्रथम खण्ड के सम्पादन की कथा ध्यान में रखने योग्य है। इतिहास-साधनों के अनुसंधान का वास्तविक प्रारम्भ वाई में हुआ। वाई से श्री एरण्डे के बाडे में आपको पानीपत की लड़ाई से सम्बन्धित प्रथम कोटि के प्रमाणों से परिपूर्ण दस्तावेज चमडे के बक्स मे सुरक्षित रूप मे प्राप्त हुए। इसी के आधार पर उन्होने प्रथम खण्ड तैयार किया और पूना के फड़के-बाड़ा स्थित विट्ठल मुद्रणालय में छपवाया। मुद्रणालय मे आग लग जाने से पाण्डुलिपि और पुस्तके जलकर राख हो गई। राजवाड़ेजी ने वही खण्ड दुबारा लिखा। फिर वही परिश्रम, फिर पुराने दस्तावेजो की जाँच और परीक्षा। उनके एक मित्र ने कहा कि आप क्यों इतना परिश्रम करते हैं? उनका उत्तर था—"आदमी परिश्रम से नही मरता; आलस से मरता है।" प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में आपने पानीपत की लड़ाई में मराठों की हार की मीमांसा की है। उसके पश्चात् वाई के निकट मेणवली नामक ग्राम मे नाना फडनीस सम्बन्धी कागज-पत्र दिन-रात काम कर जाँचे। मुगलो के देशमुख ओझडे के सूर्याजी पिसाल के दस्तावेजों का अध्ययन किया। उसके सम्बन्ध मे लिखते हुए आपने कहा कि सूर्याजी पिसाल मुगलों का सहायक और मराठों का गनीम (शत्रु) था और इसीलिए उसकी कडी आलोचना की। फलतः नाराज होकर कागज-पत्रो के स्वामी ने ओझडे-पुलिन्दा राजवाड़ेजी को नहीं दिया।

राजवाडेजी ने दस्तावेजों के रूप में जितने इतिहास-साधन प्रकाशित किये, उनसे कितने ही अधिक उनके पास अप्रकाशित रहे जिन्हे उन्होंने पूने मे स्वयं अपने द्वारा सन् १९१० ई० में स्थापित "भारत-इतिहास-संशोधक मण्डल" में रक्खा। उसके बाद का संग्रह उनकी पुण्यस्मृति में संस्थापित धूलिया के "राजवाड़े संशोधक मण्डल" में सुरक्षित है।

उन्होने मराठी और संस्कृत भाषा तथा व्याकरण तथा हिन्दू-समाज के सम्बन्ध मे जो अनुसन्धान किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महाराष्ट्र तथा पंजाब मे विख्यात् महानुभाव-सम्प्रदाय का मराठी साहित्य, मराठी का प्राचीनतम साहित्य है जो अनेक गुप्त एवं सांकेतिक लिपियों मे लिखा हुआ है। गुप्तलिपियों का रहस्योद्घाटन सब से पहले राजवाड़ेजी ने स्वबुद्धि से किया और महानुभाव-साहित्य का द्वार सब के हितार्थ खोल दिया। एकनाथ के पूर्व की ज्ञानेश्वरी की एक प्रति उन्होंने सब से पहले खोज नि[illegible] व्याकरण तैयार किया और सिद्ध किया कि वही [illegible]

का व्याकरण है। इस महान् कार्य से राजवाडेजी की अनुसन्धानात्मक प्रतिभा का प्रकाश और भी दीप्त हो उठा। मुकुन्दराज, मुक्तेश्वर, दामोपन्त, रघुनाथ पण्डित, जनीजनार्दन, शिवदिन, केसरी आदि मध्ययुगीय साहित्यकारों तथा सन्तो का साहित्य, वंशावली तथा काल-निर्णय विषयक महत्वपूर्ण खोजे राजवाडेजी ने ही की। तात्पर्य यह कि मध्ययुगीय मराठी-साहित्य तथा मराठी-राज्य के बारे मे जो खोजे महाराष्ट्र मे की गई उनमे राजवाडेजी का कार्य सर्वोत्कृष्ट तथा अद्वितीय है।

राजवाड़ेजी की इतिहास-कल्पना

राजवाडेजी की इतिहास-विषयक कल्पना विज्ञाननिष्ठ तथा जीवनव्यापिनी है। मनुष्य के सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक परिवर्तनो का समावेश करने वाले वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण अर्थ राजवाड़ेजी की इतिहास-कल्पना की परिधि मे आता है। इतिहास की यह व्यापक कल्पना उन्होने पाश्चात्य इतिहासज्ञ पण्डितो के समस्त विवेचनों का मन्थन कर प्राप्त की। "मराठो के इतिहास के साधन" खण्ड ६ की प्रस्तावना मे आपने इतिहास-विषयक महत्वपूर्ण पाश्चात्य कल्पनाओं का ऊहापोह किया है। "विद्यासेवक" मासिकपत्र (वर्ष १; अक ७) मे प्रकाशित "भारतीय इतिहास के मौलिक सिद्धान्त" शीर्षक लेख मे इतिहास के लक्षणो का विवरण दिया गया है। वह इस प्रकार है : इतिहास शब्द के दो अर्थ है। (१) गतकालीन घटनाएँ अथवा कार्य को इतिहास के नाम से पहचाना जाता है। (२) गतकाल में हो चुके कार्यों एवं घटनाओं के परम्परागत वर्णन को भी इतिहास कहा जाता है। कार्य और वर्णन, दोनो का वाचक शब्द समान है। कार्य-परम्परावाचक "इतिहास" शब्द यहाँ इष्ट है। इतिहास के मौलिक सिद्धान्तों का अर्थ है कार्य-परम्परा के मूल कारण। मूल कारण दो प्रकार के होते हैं—बाह्य तथा आन्तरिक। मनुष्य पर बाह्य सृष्टि आघात करती रहती है। आघातों की सततता मनोरचना बनाती है। सृष्टि मनोरचना अथवा स्वभाव का बाह्य कारण होती है और कार्य रूप मे फलित होनेवाला स्वभाव कार्यों का आन्तरिक कारण बन जाता है।"

इतिहास की उपर्युक्त व्याख्या वैज्ञानिक है; वह गूढवाद को दूर कर देती है। इतिहास की इस व्याख्या मे परिस्थिति तथा मानव के द्वन्द्व भाव पर आधारित एतिहासिक प्रक्रिया निहित है। इसमे राजवाड़ेजी ने दैवी संकेत अथवा दिव्य और वीर विभूतियों का कृतित्व अथवा भौगोलिक कारण या आर्थिक, राजनीतिक या अन्य प्रकार की सामाजिक शक्ति या

विशिष्ट वंश या राष्ट्र के जन्मसिद्ध सामर्थ्य या इतिहास की अबाधित गति, या युग-प्रेरणा आदि कोई एक कारण लेकर इतिहास की दिशा, उन्नति, अवनति तथा परिणति निश्चित करने वाली विविध ऐतिहासिक उपपत्तियों को कम महत्वपूर्ण माना है। व्याख्या में अभिव्यक्त ज्ञाननिष्ठ दृष्टिकोण को स्वीकार कर राजवाड़ेजी बिलकुल आरम्भ में इतिहास की ओर मुड़े। राजवाड़ेजी पर प्लेटो, हीगेल तथा कॅण्ट आदि दार्शनिक वैचारिक प्रभाव डाल चुके थे। कॅण्ट द्वारा प्रस्थापित मानवीय समाज के वैचारिक विकास की क्रमिक सोपान-परम्परा वे प्रमुख रूप से मान चुके थे। धार्मिक, आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक श्रेणियों में वे "वैज्ञानिक" अवस्था को सर्वोच्च मानते थे। उदाहरणार्थ, "विकार एवं विचार प्रदर्शन के साधनों की उत्क्रान्ति" नामक लेख में उन्होंने धार्मिक कल्पना, धार्मिक ग्रन्थ तथा धार्मिक कला को भ्रमाधिष्ठित माना है। छठे खण्ड की प्रस्तावना में दर्शन-शास्त्र को स्वच्छन्द कल्पनाओं का खेल कहकर भविष्य-वाणी की है कि कालान्तर में मानवीय ज्ञान की उत्कृष्ट प्रगति होगी और विज्ञान दर्शन के प्रदेश को हड़प लेगा; पारमार्थिक-दर्शन की पग-पग पर पराजय होगी। इसी कारण उन्होंने वैज्ञानिक अथवा भौतिकवादी (पॉज़िटिविस्ट) इतिहासोपपत्ति को सर्वथा ग्राह्य माना है। "मराठों के इतिहास के साधन" खण्ड १ की प्रस्तावना में उन्होंने "ऐतिहासिक प्रसंग" का जो स्पष्टीकरण दिया है वह इसी व्याख्या पर आधारित है। वे कहते है—"मानवीय इतिहास, काल एवं स्थल से आबद्ध है। किसी भी प्रसंग का वर्णन करना हो तो दिखलाना पड़ेगा कि वह विशिष्ट काल तथा विशिष्ट स्थल द्वारा किस प्रकार परिष्कृत किया गया है। काल एवं स्थल द्वारा परिष्कृत प्रसंग की अभिव्यक्ति करते समय स्वाभाविक है कि इतिहासकार उस काल अथवा स्थल में प्रमुखतः अवतीर्ण होनेवाले व्यक्तियों का वर्णन करे। सारांश, काल, स्थल तथा व्यक्ति, इन तीनों के त्रिवेणी संगम को ही प्रसंग अथवा 'ऐतिहासिक प्रसंग' संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।" (राजवाड़े लेख-संग्रह; पृ० ३२)। यहाँ इतिहास के मूल में समाज का नहीं; व्यक्ति का अधिष्ठान माना गया है। अर्थात् सिद्धान्त प्रस्थापित किया गया है कि इतिहास मानव नामधारी व्यक्तियों द्वारा निर्माण होता है। व्यक्ति को मूलभूत घटक मानकर वे समाज को व्यक्ति-समुदाय कहते हुए समाजेतिहास का निम्न अर्थ बतलाते है—"लघु और महान् व्यक्तियों के चरित्र मिलकर ही समाज का सम्पूर्ण इतिहास-निर्माण होता है। महान् व्यक्तियों की संख्या, स्वाभाविक है कि, छोटी होती है इसीलिए महान् व्यक्तियों के इतिहास को लघु व्यक्तियों का

अर्थात् बहुजन-समाज का इतिहास योग देता है।...केवल महान व्यक्तियों के चरित्र से ही समाज के पूरे इतिहास का चित्र नहीं बनाया जा सकता। (राजवाडे लेख-संग्रह, पृ० ८४)

इस प्रकार इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या स्वीकार करने पर समाज का अर्थ व्यक्ति-समुदाय-वाचक करना पडता है। व्यक्ति को मूलभूत इकाई मानकर इतिहास-मीमांसा प्रारम्भ करें, फिर भी मूल-इकाई के पास रुककर काम नहीं चलता। मीमांसा का विस्तार करने के लिए व्यक्ति-समुदाय के विभिन्न प्रकारों को ध्यान में रखना पडता है। समाज के भिन्न-भिन्न कार्यों और उनके लिए आवश्यक भिन्न प्रकार के मानवीय संघटनों को समझ लेने पर ही इतिहास का मर्म ध्यान में आ सकता है। संस्था तथा संस्था के कार्यों में इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह बात राजवाड़ेजी ने स्वीकार की है। "मराठों के इतिहास के साधन" के खण्ड ६ की प्रस्तावना में वे संस्था को शरीर के रूपक में बाँधते हुए कहते हैं—"वासना—यन्त्रणा—साधना अथवा इच्छा—शरीर—कर्म। मानवीय समाज के आन्दोलनों की यह त्रिविध परम्परा है। इसी त्रिविध परम्परा का वर्णन करना इतिहास लिखना है। किस वासना के लिए संस्था-यन्त्र का कौनसा अवयव निर्माण हुआ है, उस अवयव से किन अंशों में इष्ट कार्य सम्पन्न होता है और वह अवयव सम्पूर्ण यन्त्र के अनुसार कार्य करता है अथवा प्रतिकूल, इसका विवरण शरीरक-पद्धति के अन्तर्गत आता है। वस्तुतः संस्थाओं के शरीर की अपेक्षा शरीर के द्वारा किया गया काम ही इतिहास के लिए महत्त्व रहता है। किन्तु कार्य-सिद्धि के लिए शरीर की आवश्यकता होने से तथा शरीर की सिद्धता के लिए समाज प्रयत्नशील होने से अथवा रचना और सुधार के किंचित्कालिक अथवा सार्वकालिक राष्ट्रीय कर्तव्य बन जाने से शरीर, शरीर-रचना तथा शरीर-सुधार ही इतिहास का मुख्य विषय बन गया है.......बिना वासना का निर्देश किये यह नहीं बतलाया जा सकता कि शरीर का निर्माण क्यों हुआ और बिना कार्य का निर्देश किए शरीर के लक्षण भी निश्चित नहीं किए जा सकते। यह कठिनाई ध्यान में रख कर मैंने एक ही पद्धति—शरीरक-पद्धति—स्वीकार की है। (ऐतिहासिक प्रस्तावना; पृष्ठ २२८-२९)

राजवाडेजी के मतानुसार इतिहास के निश्चित अर्थ की यह रूपरेखा हुई। वे बारम्बार कहते थे कि इतिहास पूर्वाग्रहरहित तथा प्रामाणिकता से लिखा जाना चाहिए। आप का मत है-"निर्लिप्त होकर तथा निरहंकारपूर्वक इतिहास का विचार करना इतिहास का सत्य स्वरूप जानने की पहली सीढी है। दूसरी है सब प्रकार के अधकचरे आग्रहों का त्याग।" (ऐतिहासिक प्रस्तावना; पृष्ठ

१३२); किन्तु वे निराशा से कहते हैं—"वर्तमान की पीठिका पर स्थित भूतकालीन विश्व के समस्त प्राचीन-प्रर्वाचीन समाजों की सब प्रकार की घटनाओं का आद्योपान्त तथा विश्वसनीय विवरण इतिहास कहलाता है। ऐसा इतिहास विश्व की किसी भाषा मे आज तक नही लिखा गया······प्रत्येक लेखक का इतिहास उसके स्वदेशाभिमान के रंग मे रँगा हुआ पाया जाता है इसी कारण अन्य देशो के इतिहासज्ञ सहजता से उसे स्वीकार नही कर पाते। निष्पक्षपाती होने की प्रतिज्ञा कर चुकने के बाद भी प्रत्येक लेखक अपने देश को त्रिलोक का केन्द्र मानकर कुछ ऐसा चित्र बनाने का प्रयत्न करता रहा है कि जैसे अन्य सब देशो का इतिहास उसके देश पर निर्भर रहा हो। स्वदेशाभिमान के अतिरिक्त प्रत्येक लेखक का कोई अन्य वैयक्तिक पागलपन भी रहा है। कोई केवल भौगोलिक दृष्टि से, कोई केवल काल की दृष्टि से, कोई केवल व्यापारिक दृष्टि से, तो कोई स्वदेश-सस्कृति की दृष्टि से विश्व के इतिहास की परीक्षा करता रहा है····· इस स्थिति मे समाज के सच्चे स्वरूप का, उसके केन्द्र-स्थान का, उसकी प्रगति-अधोगति अथवा अगति का सन्तोषपूर्ण निर्णय करना प्राय. असम्भव हो जाता है। यदि वैयक्तिक मतो को दूर रखकर तथा स्वदेशाभिमान का अहकार छोडकर इतिहास-लेखन किया जाय तो ही विशुद्ध एवं विमल तत्व हस्तगत होने की सम्भावना है; अन्यथा नही। (ऐतिहासिक प्रस्तावना ; पृष्ठ ३१२)

ऐसा पूर्वाग्रहमुक्त इतिहास कहाँ मिलेगा ? निर्लिप्त तथा निरंजन बनकर इतिहास का विचार करना दुर्घट है। प्रत्येक पूर्वागह को छोड़ना मनुष्य के लिए स्वभावतः असम्भवप्राय है। मानवीय मन का विकास सांस्कृतिक सम्प्रदाय के परिसर मे बचपन से होता जाता है। जिस प्रकार बिलकुल बचपन में वह अपने समाज की भाषा नैसर्गिक रीति से आत्मसात् करता है उसी प्रकार वह अपने समाज की इष्टानिष्टता-विषयक भावनाओं, परम्परा-विषयक अभिमान-अभिरुचि आदि को अपनाता है। मानसिक निर्माण के आधार पर ही सत्यासत्य तथा सारासार निश्चित करने की स्वाभाविक बुद्धि विवेक तथा निर्णय करने लगती है। इसी कारण प्रत्येक समाज, काल तथा व्यक्ति की विश्व की ओर तथा स्वय अपने इतिहास की ओर देखने की दृष्टि कठिनाई से समान हो सकती है। राजवाडेजी ने इस तथ्य को विस्मृत नही किया। वे कहते है—"भिन्न दृष्टि का परिणाम यह होता है कि एक युग में एक समाज को जो बातें सिद्धान्तवत् प्रतीत होती हैं, उन्हें दूसरे युग में दूसरा समाज अश्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इस विरोध का कारण यह है कि इतिहास विकार और विचारों द्वारा स्पन्दित होने वाले व्यक्तियों और समाजों से सम्बन्ध रखता है

मनुष्य जिस निर्विकार दृष्टि से पत्थर या पेड़ की ओर देख सकता है उसी दृष्टि से मनुष्य-समाज की ओर नही देख सकता। निर्विकार दृष्टि का उपयोग *करने वाला व्यक्ति स्वय विकारवश होता है; जिन समाजो के सिलसिले में* दृष्टि का उपयोग करना है वे समाज भी विकारवश होते हैं।" (ऐतिहासिक प्रस्तावना, पृष्ठ ३१६)

इतिहास-विषयक विवेचन के सम्बन्ध मे उक्त अड़चन के अतिरिक्त एक और भी अड़चन है। वह है इतिहास की घटनाओ के मूल्याकन के सम्बन्ध मे। मूल्याकन के अन्तर्गत ऐतिहासिक घटना के कार्य, विधि-निषेध, संस्था, प्रचार, प्रवृत्ति वह अधम है अथवा उत्तम, हितकारी है अथवा अहितकारी, प्रगत है अथवा अप्रगत आदि प्रश्न उपस्थित होते हैं। इस विषय पर राजवाड़ेजी का मत है कि मूल्याकन इतिहासकार का उद्देश्य नही; क्योकि वह नीतिशास्त्र से सलग्न है और नीतिशास्त्र शाश्वत निष्कर्ष प्रस्तुत करने मे असमर्थ है क्योकि वह विशिष्ट देश-काल-सापेक्ष होता है। वे कहते है—"मानव-समाज का विवरण देते समय संस्थाओ अथवा घटनाओं की अधमोत्तमता निश्चित करने का स्थिर मापदण्ड नही हो सकता। यह कहा जा सकता है कि हो सकता है, पूर्वग्रह का आश्रय लेना होगा। पूर्वग्रह का आश्रय लेना इतिहास के शास्त्रीय परिशीलन की दृष्टि से अत्यन्त घातक है। बुरा और अच्छा, शुभ और अशुभ आदि नीतिशास्त्रीय अर्थों को ग्रहण कर ऐतिहासिक घटनाओ, समाजो तथा सस्थाओं की परीक्षा करना मानवीय समाज को स्थिर नीतिशास्त्रीय अर्थ की परिधि मे बाँध रखने के समान है.........." तात्पर्य यह कि प्रगति की है अथवा अप्रगति, यह देखना नीतिशास्त्र का कार्य है; इतिहास का नही।

"सूक्ष्मता से देखने पर प्रतीत होता है कि जिसे विशुद्ध इतिहास कह सकते हैं उसका कार्य घटित घटनाओ का विश्वसनीय विवरण देना है। काल के पौर्वापर्य का विचार कर तथा प्रसगो की कार्य-कारणता सिद्ध कर इतिहास बतलाता है कि भूतकालिक घटनाएँ अमुक-अमुक क्रमानुसार घटित हुई, वही उसका कार्य समाप्त हो जाता है। ....इतिहास जहाँ भूतकालिक घटनाओ *का विश्वसनीय साराश प्रस्तुत करता है, वहाँ नीतिशास्त्र उनकी उत्तमाधमता* निश्चित करता है.........तटस्थ होकर प्रस्तुत किया गया साराश यावच्चन्द्र-दिवाकरौ अजरामर बना रहता है।" (ऐतिहासिक प्रस्तावना; पृष्ठ ३१७-१८)

उपर्युक्त प्रतिपादन सिद्ध करता है कि राजवाड़ेजी इतिहास को विज्ञान की भाँति ज्ञान की शाखा मानते थे। इतिहास को ज्ञान की शाखा मे स्थित कराने का प्रयत्न आधुनिक युग मे ही आरम्भ हुआ। इसके पूर्व संसार मे

हिन्दू-सस्कृति यूरोपीय सस्कृति से हीन थी। राजवाड़ेजी का अन्य लेख "शिवाजी की गुण-सम्पत्ति" शिवाजी के सम्बन्ध मे नैतिक निर्णयों को सिद्ध करता है वे मानते है कि समाज-रचना की मीमांसा इतिहास का एक भाग है (ऐतिहासिक प्रस्तावना ; पृष्ठ ३६१)। उसमें नैतिक कल्पनाश्रो का प्रमुखता से अन्तर्भाव होता है। हिन्दुश्रो का इतिहास इस सम्बन्ध मे कौनसा सन्देश देता है, वह राजवाडेजी के शब्दो मे इस प्रकार है "इतिहास का यह प्रश्न कहता है कि हिन्दुश्रो की दार्शनिक सन्यास-प्रवण मनोरचना बदलने के लिए दीर्घोद्योग करना पड़ेगा।" नैतिक वा कलात्मक मूल्यों का सापेक्षवाद स्वीकार करने पर भी इतिहास मूल्य-चर्चा के बन्धन से कभी मुक्त नही हो सकता; क्योंकि तथ्य (फैक्ट) तथा मूल्य (वैल्यू) का क्षेत्र अलग कर मानवीय विश्व की हलचलो का विचार करना असम्भव है। राजवाड़ेजी के ध्यान में यह वदतोव्याघात अथवा स्वविरोध (सेल्फ कॉण्ट्रेडिक्शन) नही आ पाया।

राजवाड़ेजी द्वारा स्वीकृत उपर्युक्त इतिहास-कल्पना पाश्चात्य इतिहास-दर्शन मे अत्यन्त मान्यता एवं ख्याति पा चुकी है। वहाँ गत दो शतियों में इतिहास-दर्शन की मीमांसा जारी है। अतः राजवाड़ेजी वे सर्वप्रथम इतिहासकार थे जिन्होने उपर्युक्त गहनता को स्पर्श किया था। इसी कारण उनका दृष्टिकोण संक्षेप मे देना आवश्यक जान पड़ा।

इतिहास-दर्शन-मीमांसा के दृष्टिकोण से राजवाड़ेजी ने जिस प्रकार संस्कृत तथा मराठी भाषा का व्याकरणमूलक इतिहास लिखा उसी प्रकार भारतीय समाज तथा महाराष्ट्र का सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास भी लिखा है जिसका दिग्दर्शन पाठको को इस लेख-संग्रह मे मिलेगा।

प्रस्तुत लेख-संग्रह का स्वरूप

प्रस्तुत संग्रह मे राजवाड़ेजी की लेखन-सम्पत्ति के कुछ चुने हुए नमूने ही संग्रहीत किये गये है। अतः पाठको को यहाँ राजवाड़ेजी के विविध एव समृद्ध साहित्य के विशिष्ट प्रकार के उदाहरणों के दर्शन होगे। जिस समय उन्होंने ऐतिहासिक विवेचन प्रारम्भ किया उस समय मराठो के इतिहास की अत्यन्त शोचनीय स्थिति थी। अधूरे आधार, विपर्यस्त, पूर्वाग्रहयुक्त और अधकचरी जानकारी के आधार पर लिखे गये यूरोपीयों और भारतीयो के इतिहास की पार्श्वभूमि पर राजवाड़ेजी ने अपना विवेचन प्रस्तुत किया। उसके पश्चात् स्वयं राजवाडेजी ने तथा अन्य पण्डितो के परिश्रम से भारत और महाराष्ट्र के इतिहास की प्रमाण-सामग्री बहुत विशाल परिमाण में एकत्र की गयी और उस समय विवाद्य समझी जानेवाली तथा अन्धकार में खोई हुई बातें एकदम प्रकाशान्वित हो उठी। उसी कारण आज बहुत प्रगति की

जा चुकी है। अतः आज भी जो विवाद महत्व रखते है उनके बहुत-कुछ विस्तार को छोटा कर उनके साहित्यगुणालंकृत सारभूत अंशो को यहाँ उद्धृत किया गया है। साहित्यगुणालंकृत भाग ही क्यो चुने ? इसलिए कि साहित्यगुणों से सम्बन्ध न रखने वाले परन्तु निरुक्त अथवा संस्कृत अथवा प्राकृत व्याकरण से सम्बद्ध अत्यन्त नवीन सिद्धान्त प्रस्थापित करने वाले निबन्धों के अंश यहाँ उद्धृत नहीं किये। "ज्ञानेश्वरी का व्याकरण", 'संस्कृत भाषा का रहस्योद्घाटन", "सुबन्त-विचार", तिङन्त-विचार", "गुण तथा वृद्धि" आदि निबन्धों को हमने नहीं चुना। इसी प्रकार "पाणिनि-काल-निर्णय", "सप्तशती" आदि विशेषता-परिपूर्ण लेखो को स्थानाभाव के कारण नही ले पाये।

हमे आशा है इस पुस्तक में जो लेख अथवा निबन्धो के अंश उद्धृत किये गये है, वे राजवाड़ेजी के ऐतिहासिक तत्व-दर्शन तथा भारतीय एवं महाराष्ट्रीय सोपपत्तिक इतिहास का सम्यक् दर्शन करायेंगे। वही भाग हमने चुने जहाँ राजवाड़ेजी की साहित्यिक शैली, ऐतिहासिक तत्व-मीमांसा तथा ऐतिहासिक निर्णय का संगम हो पाया है। "विकार-विचार-प्रदर्शन के साधनों की उत्क्रान्ति", "इतिहास के दो पहलू—भौतिक एव आध्यात्मिक" तथा "इतिहास का अर्थ क्या है ?" शीर्षक प्रथम तीन लेख राजवाडेजी की ऐतिहासिक तत्व-मीमांसा की झलक दिखलाते हैं। "हिन्दू-समाज मे अहिन्दुओ का समावेश" नामक निबन्ध में उन्होंने हिन्दू, यूरोपीय अथवा ईसाई और मुसलमान समाजों के सामाजिक विस्तार की संस्थात्मक पद्धति का विवेचन किया है। इस निबन्ध मे हिन्दू समाज-रचना के ऐतिहासिक सिद्धान्तों के कुछ मौलिक तत्वों को दिग्दर्शित किया गया है। "भारतीय आर्यो का वर्ण", "हमारे पुराण तथा असीरिया की नयी खोजें", "'मग' ब्राह्मण कौन थे ?", "मगध", "नट तथा निच्छवि" लेखों में अतिप्राचीन भारत के वंश-विषयक इतिहास की रूपरेखा सूचित की गई है। "प्राकृतिक भाषाओं तथा साहित्य का इतिहास" मराठी के सन्दर्भ में लिखा गया है जो दिखलाता है कि भाषा और साहित्य के ऐतिहासिक चिन्तन का दृष्टिक्षेत्र अत्यन्त व्यापक होना चाहिए। उसके पश्चात् "महाराष्ट्र का उपनिवेशन" तथा "महाराष्ट्र तथा उत्तरी कोंकण का उपनिवेशन" शीर्षक लेखों मे भाषा और वंश सम्बन्धी सामाजिक संस्थारूप प्रमाणों के आधार पर, महाराष्ट्र के अतिप्राचीन इतिहास का दर्शन कराया गया है। साथ ही भारत के राजनीतिक इतिहास का रहस्योद्घाटन भी किया गया है। उसके उपरान्त "रामदास" तक मराठा राज्य की ऐतिहासिक मीमांसा मिलेगी जो महाराष्ट्र के आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृति के गुण-दोषों की चर्चा

पर आधारित है। उसी चर्चा के एक अंश के रूप में "रामदास" शीर्षक निबन्ध उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त "उपन्यास" नामक अत्यन्त विख्यात् निबन्ध देकर पुस्तक समाप्त की गई है। उस निबन्ध के प्रारम्भ में पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य की अद्भुत (रोमाण्टिक) तथा यथार्थवादी (रियलिस्ट) नामक दोनो ऐतिहासिक अवस्थाओं की मीमासा कर अन्त में उसी पार्श्वभूमि पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से स्वर्गीय उपन्यासकार श्री हरि नारायण आपटे के युग के मराठी उपन्यास-साहित्य की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

—लक्ष्मणशास्त्री जोशी

आभार :

इस पुस्तक का अनुवाद करते समय तथा कई नये-पुराने सन्दर्भ खोजने में प्रो. कृ पा. कुलकर्णी, प० गणेश शास्त्री जोशी तथा डॉ० र० वि० हेरवादकर से बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई। अनुवादक उक्त सज्जनो का चिर आभारी है।

—वसन्त देव

१ | विकार-विचार-प्रदर्शन के साधनों की उत्क्रान्ति

१. सहज विक्षेप अभिप्रायसूचक हैं

मन सकल्प-विकल्प करता है जिनका प्रदर्शन मनुष्य अनेक प्रकार से करता है। मुंह, दांत, जिह्वा, नाक कान, आँखें, हाथ, पैर तथा अन्य अवयवों के विक्षेप द्वारा संकल्प-विकल्प दिखाये या देखे जाते हैं। इस साधन को विक्षेप-साधन कहते हैं। यह साधन सबसे सामान्य है जो जल, वायु, अग्नि आकाश इत्यादि की सहायता की अपेक्षा नही करता। मुंह चिढाना, दांत निकालना, मुस्कराना, जीभ दिखाना, मूंछो पर ताव देना, बाल बिसराना, माथा झुकाना भौहें सिकोड़ना, माथे पर बल लाना कान हिलाना, गाल फुलाना, नाक-भौ चढ़ाना-सिकोडना, आँख मारना, आँखें लाल करना-फाडना हाथ हिलाना, अँगूठा दिखाना, उँगली चटकाना घूँसा दिखाना हाथ मलना, लात मारना, घुड़की देना, पूँछ हिलाना, खुर से जमीन कुरेदना, पंख फड़फड़ाना, फन पटकना, सूँड़ घुमाना, लँगड़ाना, नाचना, उड़ना, फुदकना, दौड़ना, उतान लौटना, करवट पर लेटकर मरने का स्वांग रचाना, लेटना, झुकना, नमस्कार करना आदि सैकडों प्रकार से सामान्य विक्षेप द्वारा संकल्प-विकल्प प्रकट किये जाते है। बोलना, सुर बांधना, हंसना, सूंघना, खुजलाना, ताली बजाना, बगलें भाँकना, चुटकी बजाना, सीटी बजाना फूत्कार करना थूकना, बिगड़ना, चिल्लाना, चीखना, पुकारना, खिलखिलाना, गुर्राना, किकियाना, भूँकना-भूँकना, बाँग देना, चहचहाना, किचकिचाना, दांत किटकिटाना, जीभ तालू पर मारना, सिसकी लेना, हुआ-हुआ करना, रँभाना टिटियाना चटकारे भरना, ललकारना, गुनगुनाना, ठनठनाना, फफकना, कुटकुटाना हाय-हाय करना, तिलमिलाना, पैर पटकना, चूमना, चाटना, आलिंगन करना, पुचकारना चिकोटी काटना, घूँसा मारना, थप्पड़ मारना, ठुकराना, धकेलना आदि सैकड़ों प्रकारों में अपने से अन्य व्यक्ति पृथ्वी, जल, वायु, आकाश आदि बाह्य पदार्थों की सहायता से सकल्प-विकल्प प्रकट किये जाते है। यह दूसरा प्रकार मिला-जुला है। दोनो प्रकार सम्पूर्णतः सहज अर्थात् जन्मसिद्ध है और मनुष्य की भांति पशु-पक्षियों में भी पाये जाते है। क्रियाएँ सिखलाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे प्राणियो के भिन्न-भिन्न अवयवों के धर्म हैं। प्राणिधारिता की

संगठना कुछ इस प्रकार की है कि आन्तरिक अथवा बाह्य कारणों का आघात होते ही प्रत्याघात अनिवार्यतः होता है। ऐसी बात नही कि उपरिनिर्दिष्ट सभी विक्षेप सभी प्राणियों मे प्रादुर्भूत होते हों। कुत्ता हर्ष से, कृतज्ञता से अथवा सन्तोष से पूँछ हिलाता है। पूँछ के अभाव में मनुष्य विक्षेप नहीं कर सकता। हँसना मनुष्य के लिए सम्भव है, पर कान हिलाना प्रायः नही। प्रायः इसलिए कि कुछ व्यक्ति कान हिलाने की सामर्थ्य रखते है जिसका उल्लेख ग्रन्थों में कही किया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि उपर्युक्त विक्षेप सहज अथवा जन्म-सिद्ध होते है, कृत्रिम अथवा यत्नसिद्ध नही।

२. ध्वनियों के अनुकरण द्वारा भाषा की उत्पत्ति

प्रत्यभिज्ञान से सहज विक्षेपों को यत्न द्वारा दोहराने का विचार करना दूसरी सीढ़ी है। यह गुण मनुष्य की भाँति अन्य प्राणियों में अधिक विकसित होता नही दिखाई देता, किम्बहुना अन्य प्राणियो मे उसका नितान्त अभाव ही प्रतीत होता है। विक्षेपों का विज्ञान बनाने का सामर्थ्य केवल मनुष्य में ही पाया जाता है। वह पुनरावृत्ति केवल अपने विक्षेपो की ही नहीं करता बल्कि अन्य प्राणियो की भी कर सकता है। मनुष्य की अनुकरण-कुशलता अद्भुत है। वह विक्षेपो के अन्तर्गत केवल हलचल को दुहराकर नही चुप रहता; बल्कि विभिन्न प्राणियों की भिन्न-भिन्न ध्वनियो को दुहराकर, उनका अनुकरण कर अन्य मनुष्यों को अन्य प्राणियो से परिचित कराता है। शब्दानुकरण के साथ ही वह प्रत्येक प्राणी की ध्वनि के आधार पर उसका नाम निश्चित करना प्रारम्भ कर देता है। प्राणियो के नामकरण का रहस्य यही उसके सम्मुख उद-घाटित होता है। कांव-कांव करने वाले पक्षी को काक, किः-खिः करने वाले वानर को किखिः, रू-रू की आवाज करने वाले को रुरुः, भृंग आवाज करने वाले को भृंगः नाम उनकी ध्वनियों के आधार पर ही दिये गये हैं। कृकवाकु, कोकिल, कुक्कुट, फेरव, कुक्कुर, करेटु, क्रकर, चील, कीर, कुरर, केकी, मयूर, तित्तिरिः आदि प्राणियों के नाम ध्वन्यानुकरणजन्य हैं। कई नामों मे कर' इत्यादि प्रत्यय जोड़े गये है और कई ध्वनियों को प्राणिवाचक बना दिया गया है। कर, कुर, र, इन्, रव इत्यादि प्रत्यान्त प्राणिनाम कर—करना, कुर—आवाज करना, इन्—पास होना, रव—आवाज करना आदि धातुओं की खोज कर चुकने के बाद अस्तित्व में आये, अतः प्रकट है कि वे काक, कृकवाकु, चिल्ल (चील) कीर आदि अप्रत्यान्त संज्ञाओं की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। सबसे प्राचीन या प्राथमिक केवल शब्दजन्य प्राणियों के नाम हैं। प्राचीन या प्राथमिक अर्थात् किस युग के हैं? उस युग के जब मनुष्य ने उन प्राणियों को पहली बार देखा। किस मनुष्य ने? संस्कृत अथवा वैदिक भाषा-भाषी मनुष्य ने अथवा अन्य पूर्ववर्ती मनुष्य ने?

इस समस्या का हल तभी हो सकता है जब प्रत्येक प्राणी के मूल निवास-स्थान अथवा जन्म-स्थान का निश्चय किया जा सके। मान लीजिए कि कौआ हिमालयोत्तर प्रदेश में नही पाया जाता है; हिमालयदक्षिण प्रदेश मे पाया जाता है। यह भी मान लीजिए कि वैदिक भाषा-भाषी ऋषियो का मूल निवास-स्थान हिमालयोत्तर मेरु पर्वत था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक भाषा में "काक" शब्द तब आया जब वे ऋषि हिमालय के दक्षिण में आये। हो सकता है कि उस शब्द को ऋषियों ने प्राचीनतम वन्य जातियों से लिया हो, तो उस स्थिति मे शब्द और भी प्राचीन माना जायगा। वह एक लाख अथवा पाँच लाख वर्ष प्राचीन भी हो सकता है। भूस्तर-शास्त्रानुसार मनुष्य को पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए लाखो वर्ष व्यतीत हो चुके है। इस अवधि मे उसने अत्यन्त धीमी गति से प्रगति की है। भाषणादि मुख-विक्षेप तो वह लाखों वर्षों से करता आ रहा है और विशिष्ट ध्वन्यादि आघातों के आधार पर वस्तुओं को नाम देने का पता उसे लाखों वर्ष पूर्व चल चुका है। भाषा का इतिहास तथा व्युत्पत्ति-शास्त्र इस बात के साक्षी हैं कि वह जैसे-जैसे नये-नये प्राणियों की ध्वनियाँ सुनता गया वैसे-वैसे नये प्राणिवाचक नाम तैयार करता गया है। तात्पर्य यह कि प्राणि-ध्वनिजन्य प्राणिवाचक संज्ञाएँ अत्यन्त प्राचीन है। यह आशय नही कि संस्कृत अथवा वैदिक भाषा में अत्यन्त प्राचीन है बल्कि मानव-वंश की किसी भाषा अथवा उसकी निकटस्थ शाखा की मानवीय भाषा मे अत्यन्त प्राचीन हैं। वैदिक ऋषियों ने भले ही "काक" शब्द हिमालय के दक्षिणी प्रदेश में सुना हो, परन्तु उनके पूर्व जो अन्य जातियाँ निवास करती होंगी उनकी भाषा में वह अत्यन्त रूढ तथा प्राचीन रहा होगा।

अप्रत्ययान्त केवल-शुद्ध-ध्वनिजन्य प्राणिवाचक संज्ञाएँ इसलिए अत्यन्त प्राचीन मानी हैं कि स्पर्शज्ञान छोड़ दें तो ध्वनिज्ञान समस्त प्रकार के ज्ञानों मे अत्यन्त प्राथमिक होता है क्योंकि ध्वनि बिना कठिनाई के कानों पर आघात करती है, केवल आकाश की सहायता चाहिए। रंग, गति अथवा क्रूरता आदि गुणों की सहायता से प्राप्त होने वाला ज्ञान पृथ्वी, तेज, वायु आदि अनेक मिले-जुले तत्वों की अपेक्षा करता है। अल्पश्रम से अधिक लाभ पाना मनुष्य के स्वभाव की विशेषता है, इसे मान ले तो कहना होगा कि ध्वनिजन्य प्राणि-वाचक संज्ञाएँ सहज ध्यान में आने वाली अथवा सबसे पुरातन हैं। दिन हो या रात, प्राणी दिखाई पड़े-न-पड़े, ध्वनि से मनुष्य को उसके अस्तित्व का बोध होता ही है। अस्तित्व-बोध होने पर अन्य प्राणियों से उसका परिचय कराने का या उसके अन्तर्धान हो जाने पर उसके सम्बन्ध मे अन्य व्यक्तियों से बात-चीत करते समय कर, कुर, इन् आदि प्रत्यय न जोड़कर (क्योंकि उस युग में

प्रत्ययों का अस्तित्व ही नहीं था) उसकी ध्वनि का अधिकाधिक उत्कृष्ट अनुकरण कर उसकी स्मृति दिलाने का दीर्घ प्रयत्न मनुष्य करता है । यहाँ गुण द्वारा गुणी का निर्देश कराने के रहस्य का पता चल जाता है । उस प्रारम्भिक काल मे मनुष्य गुण और गुणी का भेद नही कर पाता । वह जिस प्रकार ध्वनि के आधार पर प्राणियो का नामकरण करता है उसी प्रकार उसके निवास-स्थान के इर्द-गिर्द के एक-एक सजीव पदार्थ से जो एक-एक ध्वनि निकली हुई वह मानता है उसी ध्वनि को आधार मानकर वह नदी, प्रपात, वृक्ष, मेघ आदि सजीव पदार्थों का नामकरण करता है। इस प्रकार मनुष्य सैकड़ों पदार्थ-दर्शक ध्वनियो का सग्रह करता है। मनुष्य का पहला शब्दकोश इमी प्रकार निर्माण होता है । सजीव पदार्थदर्शक ध्वनियों के साथ ही वह लड़खड़ाना, खर्राटे भरना, सूंघना, घसीटना, कुरकुराना, थापना, थपकना, आदि क्रियाओं की ध्वनियाँ भी पहचानता है और उन क्रियाओ का नामकरण उनकी ध्वनियाँ की सहायता से विशिष्ट पदार्थों और क्रियाओ का निर्देश तथा प्रत्यभिज्ञान कराने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है । उस युग मे भाषा नामक वस्तु के दो प्रमुख अंगों—सज्ञा तथा क्रिया—की दर्शक ध्वनियों का अद्‌भुत रहस्य जान लेता है । परिपूर्ण भाषा इसी क्षण जन्म पाती है । भाषा कोई अन्य वस्तु नही, वह मुख से निकल सकने वाली ध्वनियो की सहायता से क्रियाओं और पदार्थों को ध्यान मे रखने की कला है। ध्वनि उत्पन्न करने के लिए मुँह और उन्हें सुनने के लिए कान, दो इन्द्रियों के साधन उस कला के लिए पर्याप्त हैं और प्रायः प्रत्येक मनुष्य इन दो साधनों से युक्त होता ही है ।

३. अध्वनिवाचक तथा जातिवाचक संज्ञाएँ

अनुकरणात्मक ध्वनियों द्वारा अपना मनोगत दूसरों को सूचित करने की अथवा अपना भूत मनोगत वर्तमानकाल में स्वयं प्रत्यक्ष उपस्थित कराने की खोज मनुष्य की प्रगति के इतिहास में अत्यन्त क्रान्तिकारक सिद्ध हुई है । जिस समाज ने खोज की, उसे उस समाज पर जो खोज नही कर पाया था, अपने आप प्रभुता प्राप्त हुई । मन के विचार तार द्वारा सूचित कर पाने वाले आज के पाश्चात्यों ने तदनभिज्ञ हिन्दू, नीग्रो, चीनी आदि पौर्वात्यों को किस प्रकार नीचा दिखाया है, यह हम जानते ही है । उसी प्रकार अनुकरणात्मक ध्वनियो की सहायता से भाषा तैयार करने वाले समाज ने अन्य समाजों को नीचा दिखाया । पर प्रत्येक आविष्कार की भाँति यह भी पुराना पड़ गया; अधूरा प्रतीत होने लगा । उन पदार्थों और क्रियाओ का नामकरण कर पाना जो ध्वनि उत्पन्न कर सकते है कोई छोटी बात नही थी, किन्तु असंख्य पदार्थ और वस्तुएँ अब भी शेष थी जो अध्वनि थी । उनका निर्देश अब तक हाव-भाव द्वारा

किया जाता था। कौग्रा मास खाता है—इस ग्राशय को अभिव्यक्त करने के लिए ग्रनुकरणार्थक "काक" शब्द का उच्चारण किया जाता था, ग्रध्वनि मास के निर्देश के लिए उसकी ग्रोर उँगली उठाकर सकेत किया जाता था, खाने की क्रिया वक्, भक्, भक्ष, ग्रादि ग्रनुकरणात्मक ध्वनि द्वारा सुनाई जाती थी ग्रौर वर्तमानकाल का बोध हाथ या उँगली से धरती की ग्रोर इशारा कर कराया जाता था—कुल मिलाकर कड़ा परिश्रम करना पड़ता था। ध्वनि तथा हाव-भाव का मिश्रण कर मनोगत सूचित करने का द्राविडी प्राणायाम सैकड़ों वर्षो तक जारी रहा। इस मिश्र प्रकार में कान, मुंह, ग्राँखें ग्रौर हाथ, चार साधनों का उपयोग किया जाता था। रोशनी होती तो कोई बात न थी; पर ग्रँधेरे मे काम नही बनता था। ग्रध्वनि पदार्थों ग्रौर क्रियाग्रों का प्रदर्शन ध्वनि द्वारा कैसे किया जाय, ग्रर्थात् उनके क्या नाम रक्खे जायें; यह कठिनाई विचार-प्रदर्शन की राह में रोडा बनकर उपस्थित थी ग्रौर उसे दूर करने मे बहुत समय लगा। कालान्तर मे किसी कल्पनाशील व्यक्ति के मन में ग्रध्वनि पदार्थों ग्रौर क्रियाग्रों को सध्वनि पदार्थो ग्रौर क्रियाग्रो के ग्राधार पर नाम देने की जुगत ग्राई। शारीरिक दाह ग्रौर उष्मा की स्थिति में मराठी भाषी व्यक्ति के मुख से हुश्-हुश् की ध्वनि निकलती है। वैदिक लोगों के पूर्वजो के मुख से 'उष्-उष्' दाहदर्शक ध्वनि निकलती थी। यही दाहवाचक ध्वनि पाणिनि के धातु पाठ मे "उष् दाहे" के रूप मे दी गई है। इसी दाहार्थक 'उष्' ध्वनि से तपी रेत मे चिलकती धूप मे मनुष्य को ढो ले जाने वाले प्राणी के लिए "उष्ट्र" शब्द बना। "उष्" ग्रर्थात् दाह से तारने वाला "उष्ट्र"। दाह कराने वाले वनस्पतिरहित निर्जन स्थान को "उषर" ग्रौर दाह का प्रतिकार करने वाली सिर की पगडी को उष्णीष नाम मिला। ऊँट को उसकी ग्रावाज के कारण "उष्ट्र" नाम नही दिया गया, ग्रत: ग्रनुमान किया जा सकता है कि ग्रार्यो के ग्रत्यन्त प्राथमिक निवास-स्थान में ऊँट नही था। इसी ध्वनि के ग्राधार पर प्रभातवाचक उष, सन्ध्या-रागवाचक उषस् ग्रौर धूपवाचक उष्ण, ये तीन ग्रध्वनि शब्द ग्रस्तित्व में ग्राये। उषा, उषस्, उष्ण ग्रादि शब्दों में जो प्रत्यय संस्कृत भाषा-भाषी लोग जोड़ते थे वे उनके हजारों वर्ष पुराने पूर्वज नही जोड़ते थे। प्रत्ययों के स्थान पर वे प्रत्ययार्थक सम्पूर्ण शब्द व्यवहार में लाते थे।

धीरे-धीरे सम्पूर्ण प्रत्ययार्थक शब्द सक्षिप्त होते गये ग्रौर प्रत्यय ग्रस्तित्व मे ग्राये; किन्तु सप्रत्यय भाषा बहुत ग्रर्वाचीन है। इस समय हम जिस हजारों-लाखों वर्ष पूर्व की भाषा के सम्बन्ध मे कह रहे है, वह युग ग्रप्रत्यय भाषा का था। सम्भव है कि प्राणि तथा वस्तुग्रो की ध्वनियो के ग्रनुकरणात्मक शब्दो से

बनी लाखों वर्ष प्राचीन प्रारम्भिक अप्रत्यय भाषा का वैदिक अथवा संस्कृत भाषा कदाचित् पच्चीस-तीसवाँ अपभ्रंश हो, फिर भी प्रारम्भिक भाषा आज भी संस्कृत में किसी न किसी रूप में छिपी हुई है। पाणिनि ने उसका पता दिया है। धन्य है उस वैयाकरण की पृथक्करण शैली कि उसने समस्तप्राय संस्कृत शब्दों के धातुबीज प्रत्ययोपसर्ग छिलके निकालकर धुले चावलों की भाँति अलग कर दिखाये है। पाणिनीय धातुकोश की धातुओं तथा अन्य धातुओं की जाँच करते समय हमे पता चला कि लगभग सात सौ धातुएँ ध्वन्यनुकरणोत्पन्न हैं। कई एकध्वन्यात्मक हैं और कई अनेक ध्वनियों के सयोग से बनी हैं। इनके अतिरिक्त चिमचिम, गपगप, फिसफिस, धपधप जैसी ध्वन्यनुकारक धातुएँ और है जिन्हे पाणिनि तथा कोशकारो ने समाविष्ट नही किया पर जो संस्कृत ग्रन्थों मे बारम्बार प्रयुक्त की गई हैं, ऐसा उनके मराठी अपभ्रंश से जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि लाखों वर्षों पूर्व आर्य-पूर्वज प्रारम्भिक मनुष्य को या मनुष्य-समाज को हजारो ध्वन्यनुकारक शब्दो की भाषा का ज्ञान था। इसमें कोई विचित्रता भी नहीं। बोलना मूलतः विकार, विचार, वस्तु तथा क्रिया का मुख की ध्वनि की सहायता से किया गया प्रदर्शन ही तो है। प्रत्येक अनुभव को मुखध्वनि से प्रकट करने की कला का सार है ब्रह्माण्ड को ध्वनि-रूप दिखलाना। किस प्रारम्भिक समाज ने ब्रह्माण्ड का कौनसा अंश किस प्रकार ध्वनिमय बनाया, यह उस समाज के बहिःसृष्ट्यनुभव पर तथा प्रतिभा पर निर्भर करता है। कहने की आवश्यकता नही कि आज हम अपने इर्द-गिर्द के प्राणियों और पदार्थों की जो ध्वनियाँ सुनते हैं, उनसे भिन्न ध्वनियाँ लाखों वर्ष पूर्व के प्रारम्भिक समाज ने सुनी होंगी। तत्कालीन दो सूँड़वाला हाथी या पचास हाथ लम्बा मगर कैसी ध्वनि करता होगा अथवा तत्कालीन नदियों, पेड़ों की कैसी आवाजे थी इसकी आज कल्पना भी नही की जा सकती।

हमारे लिए अज्ञात ध्वनियों के आधार पर प्रारम्भिक मनुष्य ने जो शब्द तैयार किये वे प्राथमिक ध्वन्यनुकरणात्मक नही, बल्कि साहश्य के आधार पर बनाये गये साधित शब्द हैं, यह भूल भी हो सकती है। कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध तो है नही; न वे साधन उपलब्ध हैं जिनकी सहायता से लाखों वर्षों पूर्व की ध्वनियों को पुनरुज्जीवित किया जा सके। इसलिए मूल शब्दों और कृतक शब्दों मे भेद कर पाना बहुत कठिन है। उदाहरण के लिए काला, सफेद, हरा आदि रंगवाचक शब्द लीजिए। इन निर्जीव पदार्थों का नामकरण कैसे हुआ ? साहश्य के आधार पर अथवा ध्वनियों के ? काला और सफेद ऐसे सामान्य और नित्य देखे जाने वाले रंग हैं कि उनका नामकरण करने की अनिवार्यता प्रारम्भिक मनुष्य ने

अवश्य ही अनुभव की होगी क्योंकि बिना इनके, सामान्य व्यवहार तक नहीं चल सकता। हमारे मतानुसार इन रंगों के नाम नीचे लिखे अनुसार अस्तित्व मे आये होंगे। कोई तत्कालीन कृष्णवर्ण प्राणी "काल्-काल्" आवाज करता होगा और प्रारम्भिक मनुष्य ने काला रंग दिखाने के लिए उसी काले प्राणी की ध्वनि का अनुकरण किया होगा। जिस प्रकार मनुष्य ने प्राणी का बोध उसकी ध्वनि के आधार पर कराने का अन्वेषण किया, उसी प्रकार ध्वनि निकालने वाले प्राणी के रंग के आधार पर अध्वनि सामान्य रंगों का नामकरण करना भी प्रारम्भ किया। गुणी के आधार पर गुणों का नामकरण करना एक अद्भुत आविष्कार है। अब तक मनुष्य ध्वनि निकालने वाले मात्र प्राणियो, वस्तुओं और क्रियाओं को नाम देने की कला जानता था, अब वह अध्वनि-गुणों को शब्द से प्रकट करने में प्रवीण हो गया। भा-भा करने वाले उज्ज्वल तथा चमकीले रंगो के पशु-पक्षियों के आधार पर वह प्रकाश को "भा" कहने लगा। चोंच से, सूंड़ से, पाँवो से या दाँतों से किसी वस्तु को कर-कर ध्वनि करते हुए चीरने या खाने की आवाज से "कर" शब्द बना जो सूंड़ या चोंच या अपने हाथों के लिए प्रयुक्त किया गया। अतः कृ—करना तथा कृ—विदारण करना दो धातुएँ तैयार हुई। इस प्रकार जब से गुणो को शब्दो द्वारा प्रकट करने की युक्ति मनुष्य ने खोज निकाली तब से मानो शब्दों की टकसाल चल गई।

मनुष्य ने द्रव्य, कर्म तथा गुणदर्शक सैकड़ों शब्दों का संग्रह किया। उसके पश्चात् उनकी जाति पहचानने अर्थात् व्यक्ति पहचानने का आविष्कार किया गया। हरा, सफेद, लाल, काला आदि अनेक वर्ण देखकर उन सबके लिए एक सामान्य शब्द "रंग" निश्चित किया। "रंज्" मूलतः लाल सुर्ख रंग का द्योतक है। उसी को सामान्यवाचक बनाकर जातिवाचक संज्ञा "रंग" तैयार की गई और इस प्रकार अनेक जातिवाचक संज्ञाएँ बनी। काफी समय के बाद शास्त्रीय ज्ञान के गर्व मे आकर मनुष्य ने विवाद किया कि व्यक्ति के पश्चात् जाति आती है अथवा जाति के पश्चात् व्यक्ति। मनुष्य के मस्तिष्क में जाति-कल्पना स्वायम्भुव अस्तित्व रखती है और वह भूत-वर्तमान-भविष्य सभी में व्याप्त है, ऐसा निर्मल सिद्धान्त भी उसने बना लिया। वस्तुतः जातिवाचक संज्ञाएँ भाषा की सुविधा के लिए आविष्कृत संकेत हैं और उनके द्वारा सूचित अर्थ मूर्त नही, मात्र मानसिक होता है—एक ऐसी बात जो कल-परसों तक उसके ध्यान मे नही आई थी। जातियों का मानसिक अर्थ ज्ञान-विस्तार के साथ बदलता जाता है और कभी-कभी बिलकुल नष्ट भी हो जाता है, अतः जाति-कल्पना स्वयम्भू, स्थिर तथा व्यक्तिप्राक् नही, यह भी वह नहीं जान पाया। यों जाति और

व्यक्तिवाला विवाद एकदम प्रारम्भिक नहीं है, परन्तु उसकी जड़ें प्रारम्भिक मनुष्य-समाज मे लाखों वर्षों से निहित हैं अतएव यहाँ उल्लेख किया गया है। आगे चलकर जातिवाचक संज्ञाओं ने यद्यपि कम गड़बड़ नहीं की, परन्तु भाषा तथा विचारों की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि उनसे भाषा और विचारों का आज की भाँति बल्कि अधिक उपकार प्राचीन काल में किया गया। प्राचीन काल में मराठी भाषा की पूर्वज वैदिक भाषा की पच्चीस-तीसवी पूर्वज प्रारम्भिक अप्रत्यय भाषा केवल मुक्त ध्वनियों से युक्त थी। अर्थयुक्त ध्वनियाँ एक के बाद दूसरी के क्रम से निकालना तत्कालीन भाषण-शैली की विशेषता थी। वाक्य है—"नदी किनारे के सिंहो ने मनुष्य खा लिया।" आशय नदी—कण्ट—स्थान—सिंह—मनुष्य—नीद को एक के बाद दूसरे शब्द का उच्चारण कर ज्यों-त्यों दर्शाया जाता था और शेष अंग-विक्षेप की सहायता से पूरा किया जाता था। बहुवचन उंगलियों अथवा हाथ के इशारे से दिखलाया जाता था। अध्वनिवाचक पदार्थों के शब्द तथा जातिवाचक संज्ञाएँ बन चुकने के बाद कालदर्शक तथा संख्यादर्शक शब्द बने और उसके उपरान्त लिंग-भेद अस्तित्व मे आया। धीरे-धीरे बारम्बार प्रयोग मे आने वाले सम्बन्धदर्शक शब्द संक्षिप्त होते गये और प्रत्ययोपसर्ग निर्माण हुए और उसके लाखों वर्षोपरान्त वह भाषा उत्क्रान्त हुई जिसे वैदिक भाषा कहा जाता है। उसने अथवा उसकी भगिनी ने प्राचीन महाराष्ट्री, महाराष्ट्री, अपभ्रंश तथा प्राचीन मराठी को जन्म दिया और इसी परम्परा मे अर्वाचीन मराठी, जो हम लोग व्यवहार में लाते हैं, विकसित हुई। *प्रारम्भिक, वैदिक संस्कृत, महाराष्ट्री,* मराठी भाषाओं का अर्थात् मुख की ध्वनियों से विचारों का प्रदर्शन करा नेवाले साधनों का यही इतिहास है।

४. अनेक मौलिक ध्वनि-परम्पराएँ

उपर्युक्त परम्परा वैदिक आर्यों से सम्बन्ध रखती है। संसार में इसी प्रकार की छः-सात परम्पराएँ मिलती हैं। असुर भाषा, द्रविड भाषा, चीनी भाषा, अमेरिकन इण्डियनो की भाषा आदि विचार-प्रदर्शन के अनेक ध्वनि-साधन पाये जाते हैं जिनकी ध्वनियाँ आर्य ध्वनि-समूह से भिन्न हैं। भिन्नता का कारण यह है कि प्रारम्भिक अवस्था मे उन जातियों ने जिन प्राणियों और वस्तुओं की ध्वनियाँ सुनी वे आर्यों द्वारा सुनी गई ध्वनियों जैसी नहीं रही होंगी। आर्येतरो के ध्वनि-साधनो का इतना ही विचार कर, आइए, आर्यों के एक अन्य विचार-प्रदर्शक साधन की ओर मुड़े।

५. अभिप्राय-दर्शक चित्रारेखन

मुखध्वनि द्वारा विचार-प्रदर्शन की एक शर्त यह है कि श्रोता वक्ता के

निकट उपस्थित रहे। अनुपस्थित हो तो इस ध्वनिसाधन का कोई उपयोग नही। ध्वनि को वन्द कर अनुपस्थित श्रोता के आ जाने पर उसे सुनवाने की व्यवस्था प्रारम्भिक स्थिति मे असम्भव थी। फिर भी उस युग के मानव ने एक जुगत निकाल ही ली। वह जहाँ निवास करता था—प्राय: पहाडों और गुफाओं मे—वहाँ की भीत जैसी शिलाओं पर अथवा मरे हुए या मारकर खाये हुए प्राणियों की अस्थियो पर अपनी अवस्था के रेखाचित्र बनाता था। आशा करता था कि उसके विचार उसके सगे-सम्बन्धियों के ध्यान मे कभी-न-कभी अवश्य आयेगे। विन्ध्यपर्वत-स्थित अवशेषों से तो यहाँ तक प्रकट होता है कि वह सादे चित्र ही नहीं, रंगीन चित्र भी बना सकता था। चित्रारेखन—सादा या रंगीन—केवल अनुपस्थित व्यक्तियों के लिए ही बनाये जाते हों, ऐसी बात नही। जहाँ भाषा सम्पूर्णतः विचारो को प्रकट करने मे असमर्थ हो जाती वहाँ उपस्थित मानवो के सामने भी धरती, पत्तों और भूर्जपत्रों पर रेखाएँ या चित्र खीचकर वह अपना आशय प्रकट करता था। हमारा दृढ अनुमान है कि प्रारम्भिक मनुष्य रंगीन चित्रो और सादे रेखाचित्रों का उपयोग शब्दों की बराबरी में करता था। प्रारम्भिक मनुष्य द्वारा बनाये गये जो रेखाचित्र तथा रंगीन चित्र हिन्दुस्तान मे मिलते है उनका सम्बन्ध हम वैदिक लोगो के पूर्वजों से नहीं है क्योंकि हम लोग यहाँ के मूल निवासी नही हैं। फिर भी इसमे जरा भी सन्देह नही कि हम आर्यो का मूल स्थान हिन्दुस्तान के बाहर जहाँ कही रहा हो, वहाँ हमारे प्रारम्भिक पूर्वजो ने रेखा तथा रंगीन चित्र विचार-प्रदर्शन के उद्देश्य से अवश्य बनाये होंगे। ध्वनि अथवा भाषा जन्मजात देन है, उसी प्रकार रेखाचित्र तथा रंगीन चित्र बनाना भी स्वयम्भू शक्तियाँ है। यों हिन्दुस्तान के रेखाचित्रों आदि से हम आर्य लोग दूसरे प्रकार से सम्बन्धित है। वैदिक आर्यों के पूर्व इस देश में नाग लोग निवास करते थे। यदि उन्हे यहाँ के मूल निवासी मानें तो प्राथमिक चित्रारेखन उन्ही के द्वारा सम्पन्न किया गया होगा। नाग चित्रारेखन के लिए प्रसिद्ध है। इतिहास-सिद्ध तथ्य है कि उनका शरीर-सम्बन्ध वैदिक आर्यो से हुआ और नागवंश को आर्यवंश के अन्तर्गत मानने का रिवाज भी है। जो हो, चित्रारेखन द्वारा मन के विचार अभिव्यक्त करने की कला बहुधा ध्वनियों द्वारा विचार अभिव्यक्त करने की कला जितनी पुरानी है। चित्रारेखन का साधन, नित्य के सामान्य विचार प्रकट करने के काम आता था। आर्यो का प्राथमिक अवस्था में विचाराभिव्यक्ति के लिए स्वयम्भू चित्र-साधनों का उपयोग न करना सम्भव नही जान पड़ता।

६. चित्रों तथा ध्वनियों का पृथक्करण

ध्वनि-साधन के लिए केवल मुंह और कान, दो इन्द्रियों की आवश्यकता

होती है जबकि चित्र-साधन के लिए हाथ और आँखों के अतिरिक्त एकाध चित्रक्षम बाह्य पदार्थ की भी आवश्यकता होती है। ध्वनि-साधन अँधेरे-उजेले में उपयोगी होता है, परन्तु अनुपस्थित व्यक्ति के लिए किसी काम का नहीं होता। मानो, चित्र-साधन अनुपस्थित व्यक्ति के लिए ही प्रारम्भिक मानव द्वारा निर्माण किया गया हो। कालान्तर मे अपने एव अन्य व्यक्तियों के पुन-रानुभव की दृष्टि से चित्र-साधन अत्यन्त उपकारी सिद्ध हुआ होगा—इतना अधिक कि प्रारम्भिक मानव चित्र द्वारा सन्देश तक भेजता रहा होगा। ज्यो-ज्यो चित्र-साधन की उपयोगिता स्पष्ट होती गई त्यो-त्यों उसमें सुधार होता गया। लकडी के तख्तो और भूर्जपत्रों पर महत्त्वपूर्ण प्रसंगों अथवा वीरो के चित्र अंकित कर उन्हे गोत्रजों के आसपास या दूर निवास करने वालों को दिखाते हुए घुमक्कड़ वक्ता तैयार हुए और चित्रो की सहायता से रसपूर्ण कथाएँ सुनाते हुए भटकने लगे। हमारे यहाँ के निरक्षर लोगों में चित्रकथक लोग अब तक यही व्यवसाय करते है। चित्रकथको की सस्था अत्यन्त पुरातन है, इतनी कि वेदादि ग्रन्थो को उनकी तुलना मे अर्वाचीन कहना होगा। ऋग्वेद मे "चित्र" शब्द का प्रयोग मिलता है और उसका अर्थ "आश्चर्यपूर्वक देखना" लगाया जाता है। धातुपाठकार चित्र धातु के दो अर्थ देता है—चित्रीकरण तथा कदा-चिद्दर्शन। ऐतिहासिक दृष्टि से चित्रीकरण अर्थ प्राचीन समझकर ग्राह्य मानने की इच्छा होती है। प्राथमिक अवस्था में "चित्" अत्यन्त पुरातन धातु है। उससे जिस वस्तु को संज्ञा मिली उसे बाह्य पदार्थ पर रेखाकित करने की क्रिया के लिए चित्र् शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। "मन्—विचार करना" से दूसरे के हृत्पटल पर विचार अकित करने को "मन्त्र", "तन्—फैलना" से दूसरे पर अधिकार होने को "तन्त्र" शब्द मिलते है। वे उक्त सिद्धान्त के उदा-हरण के रूप मे माने जा सकते है। चित्र, मन्त्र, तन्त्र शब्द चित्, मन्, तन् की अपेक्षा अर्वाचीन हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि चित्रीकरण की कला ने वैदिक लोगों के पूर्वजों मे अत्यन्त प्राचीन युग से विचार अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से अस्तित्व पाया।

ध्वनि-साधन तथा चित्र-साधन मे दूसरा अन्तर यह है कि ध्वनि-साधन ध्वनियो का और चित्र-साधन आकृतियों का अनुकरण करते हैं। आकृति जैसी कुछ दिखाई देती है मनुष्य उसी रूप में आँखों से ग्रहण करता है। आकृतियाँ सादा कम, मिश्रित अधिक पाई जाती है। सरोवरतट के वृक्ष पर पत्थर लेकर बैठे हुए वानर ने चोंच में साँप पकडने वाला गरुड देखा—मिश्रावस्था मनुष्य देखता है और सबसे पहले मिश्रित चित्र खीचता है। कालान्तर में मिश्रावस्था की एक-एक वस्तु को पृथक् करना सीखता है। पहले मिश्रित तदनन्तर सादा,

चित्रीकरण की यह परम्परा ध्वनिकरण मे भी पाई जाती है। पशु-पक्षी एक-एक अलग आवाज नही करते, अनेक ध्वनि-सम्वलित ध्वनि-परम्परा बनाते है। यही ध्वनि-परम्परा जब मनुष्य के कान में पडती है तब वह उसका अनुकरण सबसे पहले मुँह द्वारा करने का प्रयत्न करता है और फिर मिश्रित ध्वनि-परम्परा की एकाध न्यस्त ध्वनि अनुकरणार्थ चुनता है। मिश्र से न्यस्त का विकास होने मे कितना समय लगा होगा, उसकी मात्रकल्पना की जा सकती है। मिश्रित चित्रो से न्यस्त चित्रो तक आने का वही काल होगा जो मिश्रित ध्वनियो से न्यस्त ध्वनियों के अनुकरण का रहा होगा। मिश्रित चित्रो से तथा मिश्रित ध्वनियो से न्यस्त चित्रो तथा ध्वनियों की ओर बढ़ते हुए प्रारम्भिक मनुष्य ने अनेक कष्ट सहे होंगे, वह गड़बड़ाया होगा, घबराया होगा, चौंका और भ्रमित हुआ होगा। स्पेनिश घुडसवार को देखकर अमेरिकन इण्डियन ने पहली बार घोडे और सवार को एक ही वस्तु माना था और कालान्तर मे घोडे को सवार से अलग किया। जल की बूँद के सम्बन्ध मे अनेक युगों तक कल्पना की जाती रही कि वह अविभाज्य द्रव पदार्थ है, पर वैज्ञानिकों ने अभी-अभी यह सिद्ध कर दिया है कि जल हाइड्रोजन और आक्सीजन के मिश्रण से बना है। पृथक्करण ने इण्डियनों और वैज्ञानिकों को जिस आश्चर्य और हर्ष से भर दिया था वही प्राथमिक मनुष्य ने मिश्रित चित्रों और ध्वनियों से न्यस्त चित्रो और ध्वनियों की ओर बढते हुए अनुभव किया होगा।

७. चित्रलिपि का उदय

न्यस्त ध्वनि-साधन तीन बातों का बोध कराते हैं: (१) बाह्य वस्तु, (२) वस्तु के प्रति मानसिक कल्पना, और (३) बाह्य वस्तु तथा आन्तरिक कल्पना का निदर्शन कराने वाला शब्द। प्रारम्भिक मानव पहले चित्र के द्वारा बाह्य वस्तु दिखलाने लगा। उसके बाद वस्तु को सम्भवत: उसने शब्द द्वारा पहचाना अर्थात् उसका बोध कराने के लिए निश्चित ध्वनि की योजना की होगी। कालान्तर मे उसने सोचा कि चित्र जिस वस्तु का निर्देश कराता है उसकी दर्शक ध्वनि का दर्शक चित्र भी बनाया जा सकता है। यही चित्रा ध्वनि का अर्थात् वस्तुदर्शक शब्द का निदर्शक बन गया। घोडे का चित्र घोड़ नामक वस्तु का दर्शक है उसी प्रकार "घोड़ा" शब्द का भी निदर्शक है। यह भी ध्यान में आया कि घोड़े की सम्पूर्ण आकृति बनाने की अपेक्षा घोड़े का केवल मुँह बनाये तो वह भी "घोड़ा" शब्द का निर्देश कर सकता है। इस युक्ति द्वारा चित्र की सहायता से शब्द का निर्देश कराना अधिक सुविधा-जनक हो गया। चित्रारेखन वस्तु के साथ शब्द का बोध भी कराता है। चित्रारेखन द्वारा शब्दो के समास तक दिखलाये जा सकते है। "तडागान्त-

गतमच्छ." शब्द-समास या कल्पना-समास का चित्र-समास तालाब के चित्र में मछली का चित्र बनाकर दिखलाया जाता रहा होगा। चित्ररेखन की कला इसी प्रकार अस्तित्व में आई।

८. मूलाक्षरों की लिपि

दिनोदिन यह कला कठिन बनती गई। हजारों वस्तुओं की मनुष्य कल्पना करता था तो उन वस्तुओं और कल्पनाओं के हजारों चित्र खीचने पड़ते थे और उनका अर्थ ध्यान मे रखना पड़ता था। इसके अतिरिक्त विभिन्न कलाकार एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न चित्र बनाते रहे होंगे, सो अलग। सम्पूर्ण आकृति बनाना छोड़कर प्राणियों का सिर, कान, खुर, चोंच और पूंछ का चित्र बनाना और हँसना, शरमाना, खाना, दौड़ना आदि क्रियाओं का भी चित्र बनाना कठिन हो गया। कल्पनाशील मानव ने उसे भी हल किया। प्रत्यक्ष सिर, कान आदि बनाने की अपेक्षा खड़ी, लेटी, टेढी, तिरछी, वक्र, नीचे, ऊपर, पीछे, आगे रेखाएँ खीचकर वस्तु और शब्द का बोध कराने की कला ने जन्म लिया।

रेखांकन में आकृतियो की "चित्रता" और वस्तु-दर्शन पिछड़ते गये, आकृतियाँ सिर्फ शब्दों और शब्दों द्वारा वस्तुओं का बोध कराने लगीं। रेखाएँ शब्द दिखलाती थी, अतः सैकडों रेखाओ को ध्यान मे रखना पड़ता था। शब्द तोडकर उसके विभिन्न अवयव विशिष्ट रेखाओं द्वारा दिखलाना अगली सीढ़ी है। यहाँ भी हजारों चिह्नो को याद कर लेना पड़ता था। अन्त मे उन सरल ध्वनियो को, जो शब्दावयव होती थीं, दर्शित कराने के उद्देश्य से विशेष चिह्नों का आविष्कार किया गया; अर्थात् जिन्हें संस्कृत मे "मातृका" कहा जाता है वे अस्तित्व में आई। मातृक अर्थात् इने-गिने विशिष्ट चिह्नों को संस्कृत में "अक्षर" अर्थात् परिवर्तित न होने वाले स्थिर चिह्न अन्वयर्थक नाम मिला। मूलाक्षरों की खोज सीढ़ी-दर-सीढ़ी और अत्यन्त प्रयास से की गई; किसी ने मूलाक्षर एकाएक तैयार कर दिये हों, ऐसा नहीं हो सकता। मूलाक्षर एकदम सामान्य और अत्यन्त पृथक् की गई ध्वनियो का निर्देशन करते हैं; वस्तु, कल्पना अथवा शब्द का नही। चित्रों से अक्षरों की ओर बढते समय वस्तु और कल्पना को छुट्टी मिली, पृथक्कृत ध्वनियाँ शेष रही।

९. अक्षर तथा वर्ण

अक्षर-संख्या की परम्परा इस प्रकार है: (१) सम्पूर्ण प्रसंग का मिश्रित चित्र, (२) न्यस्त चित्र, (३) चित्र का अंश, (४) सीधी रेखा, (५) वक्र रेखा, (६) शब्द-दर्शक रेखा, (७) शब्दावयव-दर्शक रेखा, तथा (८) सादी

मूल ध्वनि का सीधी और वक्र रेखायुक्त चिह्न अर्थात् मूलाक्षर। चित्र खीचने और लिखने की प्राक्सिद्धि न मिले तो मूलाक्षरों की सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। मूलाक्षरों के पूर्व मनुष्य को चित्र और रेखा खीचने का ज्ञान होना ही चाहिए। जो लोग मूलाक्षरों से परिचित है वे या तो स्वयं अथवा जिनसे उन्होंने मूलाक्षरों को ग्रहण किया, वे लेखन की मंजिल सबसे पहले तय कर चुके होंगे। बिना उपर्युक्त आठ सीढियाँ पार किये मिश्र-ध्वनियो का मूल-ध्वनियों से पृथक्करण असम्भव है। सुलभ तथा सुविधाजनक मूलाक्षरों तक पहुँचते-पहुँचते या पहुँच चुकने के बाद मूलध्वनियो का पृथक्करण सम्भव हो गया। वैदिक आर्यो ने जिस युग में अक्षरों का आविष्कार किया उस युग में वे अक्षरों को वर्ण के नाम से भी पहचानते थे। "वर्ण" और 'अक्षर" शब्द शक-सम्वत् के हजार वर्ष पूर्व के लगभग रचित पाणिनीय अष्टाध्यायी में गृहीत माने गये हैं। वर्ण का अर्थ है रंग-द्वारा बनाया गया ध्वनि चिह्न तथा अक्षर का अर्थ है ध्वनि का अपरिवर्तनशील चिह्न। '—ह्रस्वं लघु' तथा 'दीर्घं च' सूत्रों में 'ह्रस्वं' नपुसक लिंग के रूप के सामने "उच्चारण" पुल्लिंग शब्द अध्याहृत नही माना जा सकता, यहाँ अक्षर तथा वर्ण, यही दो नपुसक लिंग के शब्दो को निहित मानना पड़ेगा। अक्षर और वर्ण मे भेद है। अक्षर वह आकृति है जो लोहे की शलाका से तख्ती, पटिया, पत्थर जैसी सख्त भूमि पर कुरेद कर बनाई जाती है और वर्ण वह आकृति है जो भूर्जपत्र जैसी मुलायम भूमि पर रंगो से खींची जाती है। प्रसिद्ध है कि प्रारम्भिक मानव शलाकादि सख्त पदार्थो से पत्थर पर रेखाचित्र तथा रंगों की सहायता से रंग, चित्र बनाने की कला जानता था। अतः कहना न होगा कि पाणिनिकालीन आर्य, लेखन की दोनों पद्धतियो से भलीभाँति परिचित रहे होंगे। यही नहीं, पंचकर्ण्यः अष्टकर्ण्यः रूपों से यह भी पता चलता है कि ऋग्वेद काल मे रेखा-चिह्नो द्वारा संख्यादर्शक ध्वनियाँ दिखलाने की कला जन्म पा चुकी थी। ऐसी स्थिति मे यह तर्क युक्तिशून्य है कि हिन्दुओं ने आर्मनीयो से अक्षर ग्रहण किये। इसके विपरीत प्रतीत होता है कि आर्मनीय लोगों ने आर्यो से अक्षर-लेखन और अक्षर-परम्परा ग्रहण की। शकपूर्व चौदहवीं शती मे आर्यो का मितानी देश पर अधिकार था। उसी समय के लगभग आर्मनीयों ने आर्य अक्षर-परम्परा स्वीकार की होगी और वह भी तोड़-मरोड़ कर की होगी। मूल निवास-स्थान से हिन्दुस्तान में आकर बस जाने, मूल स्थान मे भौगभिक परिवर्तन होने और बीच के प्रदेश और काल का अन्वेषण अब भी शेष होने के कारण आर्यो के रेखाचित्रों तथा रंगचित्रों का पता नही चल पाया है। फिर भी पाणिनि-पूर्व आर्य वर्ण-परम्परा की खोज कर चुके थे, इसमें सन्देह नही। पाणिनिकालीन यही वर्णमाला अपभ्रष्ट होकर आज महाराष्ट्र में

'बालबोध लिपि' के नाम से पहचानी जाती है।

१० विचारसूचक अभिनय

विचार-प्रदर्शन के साधन के रूप मे मनुष्य ने ध्वनियों से प्रारम्भ कर भाषा का आविष्कार किया और चित्रों से अक्षर लिखना जाना। इन दो साधनो के पूर्व मनुष्य एक तीसरे साधन का आविष्कार कर चुका था—हाव-भाव अथवा विक्षेप जिसका उल्लेख प्रस्तुत लेखक द्वारा लेखारम्भ में किया जा चुका है। इस साधन की आज वही स्थिति दिखाई देती है जो शतियों पूर्व थी। भाषा तथा अक्षरो की महान् प्रगति के कारण विचार-प्रदर्शन तथा व्यवहार के लिए उस साधन मे सुधार करने की आवश्यकता न थी। यदि भाषा तथा अक्षरो के अभाव मे आवश्यकता होती तो भी विक्षेप में वह सामर्थ्य नही जो भाषा तथा अक्षर के ब्रह्म मे है। तथापि बोलने के सिलसिले में पोषक-तत्व के रूप मे जो भाषा पशु-पक्षियों के काम आती है, वह हम समझ नही सकते, या तब भाषा तथा अक्षरो की सहायता से विचार-विकारों का प्रदर्शन कर पाना कठिन हो जाता है। विक्षेप-साधन का उपयोग मनुष्य सदियों से करता चला आ रहा है और इस प्रकार उसने विक्षेप-साधन को पर्याप्त व्यवहारक्षम बना लिया है। स्वाभाविक हाव-भावो का परिणत तथा कृत्रिम रूप वह है जो अभिनय के नाम से विख्यात है। भाषा अनुकरणात्मक ध्वनियों का परिणत तथा कृत्रिम रूप है, अक्षर अनुकरणात्मक रेखाओ का; उसी प्रकार अभिनय सहज अनुकरणात्मक हाव-भावों का परिणत तथा कृत्रिम रूप है।

११. आकृति-निर्माण

ध्वनि, रेखा तथा हाव-भाव की भाँति मनुष्य ने एक चौथा साधन अनुकरण द्वारा आविष्कृत किया। वह है देखी हुई वस्तु की हू-ब-हू आकृति बनाना। रेखाएँ लम्बाई और चौडाई, दो परिमाणों में कार्य करती है। हू-ब-हू आकृति लम्बाई-चौड़ाई के अतिरिक्त गहराई को उपयोग में लाती है। पहले-पहल आकृतियाँ लकडी, मिट्टी या पत्थर से बनाई जाती थी। निवास-स्थान की कन्दरा या गुफा का अनुकरण कर दो खड़े किये गये पत्थरो पर तीसरा पत्थर रखना या पेड़ के झुरमुट का अनुकरण कर जल मे बजरा चलाना, जलाशय के पास जल भरे गड़्हों को देखकर छोटे-बड़े पात्र बनाना या बेल, नारियल की खोपडी की तरह मिट्टी के बर्तन बनाना, गुफा मे चूने वाले पानी से बने स्तम्भों की तरह पत्थर के स्तम्भ बनाना, पशु-पक्षियों को मृत्तिका, काष्ठ अथवा पाषाणमय मूर्तियाँ बनाना आदि त्रिपरिमाणक आकृतियाँ बनाकर मूल वस्तुओं का निर्देश कराने का प्रारम्भिक मनुष्य को बडा शौक था। इसी का विकास होते-

होते मनुष्य ने धरती और पानी पर उपयोग मे आ सकने वाले अनेक वर्तन बनाने की कला निर्माण की। कहने की आवश्यकता नही कि कला का रूप धारण करने मे हजारों-लाखों वर्ष का समय लगा।

१२. भापा तथा वर्ण की दैवी उत्पत्ति

इस प्रकार मनुष्य ने (१) ध्वनियों से भापा, (२) रंगीन अथवा सादे रेखाचित्रों से अक्षरमाला, (३) स्वाभाविक हाव-भावों से कृत्रिम अभिनय, तथा (४) देखी हुई आकृतियों से बर्तन—चार व्यावहारिक कलाएँ अपनी वुद्धि से अवगत की। सैंकडों जगह धक्के खाकर और हजारों प्रयोगों मे असफलता पाकर मनुष्य ने चार नित्योपयोगी कलाएँ परिश्रमपूर्वक पसीना वहा कर प्राप्त की, किसी काल्पनिक स्वर्ग अथवा नरक के निवासी देवता अथवा असुर ने नही दी। शंकर के डमरू मे से ध्वनियाँ निकली, चित्रलेखा नामक गन्धर्व-कन्या ने चित्रकला सिखाई और किसी किन्नर ने अभिनय-कला अथवा विश्वकर्मा ने बर्तन बनाने का पाठ पढ़ाया आदि कथाएँ अन्धश्रद्धा से भरी है। इन किम्वदन्तियों का अर्थ यही हो सकता है कि अभी कल-परसों तक उस ऐतिहासिक परम्परा का हमे ज्ञान नहीं था जिसके अनुसार मनुष्य ने भापा, अक्षर, अभिनय तथा पात्र-निर्माण कलाएँ प्राप्त की। सर्वत्र पाया जाता है कि जिन बातो का उद्गम, घटना, वृद्धि तथा परिणति का पता नही चलता उनके सम्वन्ध में अज्ञजनों का विश्वास होता है कि वे दैवी शक्ति से निर्माण की गई हैं। बहुत परिश्रम के पश्चात् मनुष्य जान पाया कि सारी भापा-सृष्टि मेरे अपने द्वारा बनाई गई है। आज शंकर के डमरू अथवा देवताओ के विश्वकर्मा अथवा वागधिष्ठात्री सरस्वती अथवा पशु-पक्षियों का नामकरण करने वाले नोह की दैवी शक्ति से हमें कुछ नही करना; हाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर वे कथाएँ निहित इतिहास को प्रकाशित कर सकती है।

१३. यथार्थ तथा भ्रान्त कलाओं का विकास

मनुष्य ने ध्वनि, रेखा, हाव-भाव तथा आकृति को क्रमशः भापा, अक्षर, अभिनय तथा पात्र का रूप देकर इन चारों स्वाभाविक तथा अनुकारक शक्तियो का उपयोग नित्य के विचार-प्रदर्शन में किया। यह ठीक है कि सीधे, सरल, उदरार्थक व्यवहार का जहाँ तक प्रश्न है, भापादि साधनो से काम चल ही जाता है; किन्तु जब विचारो और विकारों की तीव्र वाढ आती है और सुख-दुखादि मनुष्य को आन्दोलित कर देते हैं तो सामान्य वातचीत और सहज लिखने से काम नही चलता। बिना तीव्रतर साधनों के प्रयोग के तूफान नहीं रुकता। ऐसी बात नही है कि विचार-विकारों का महदावेग दर्शाने के लिए

मनुष्य ने अज्ञातपूर्व साधनों की खोज की हो, बिना नींव के प्रासाद नहीं रचा जा सकता। यहाँ नींव पुरानी है, साधन भी पुराने ही हैं सिर्फ रचना नयी है। सामान्य सम्भाषण के लिए ध्वनि का प्रयोग करना ही पड़ता है, उसी को दीर्घ तथा गहराई के साथ निकाला जाय और आवेग का तीव्रता से प्रदर्शन किया जाय तो संगीत निर्माण होता है। सामान्य हू-ब-हू चित्ररेखाओं में शक्तिशाली, काल्पनिक और नाजुक रंगों से आवेग की तीव्रता भर देना ही तो चित्र बनाना है। सामान्य हाव-भावों की अतिशयोक्ति अभिव्यक्ति ही तो नृत्य है, नित्य की घन-आकृतियों से तीव्र आवेग प्रकट करना शिल्प-निर्माण करना है। इस प्रकार ध्वनि, रेखा, हाव-भाव तथा आकृति में से प्रत्येक की सहायता से मनुष्य ने सादगी और अतिशयता, दो ऐकान्तिक भेदों के आधार पर दो प्रकार की कलाओं को जन्म दिया। मानचित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

	गुण	सादगी अथवा व्यवहार	अतिशयता अथवा तीव्रता
१.	ध्वनि	भाषा	गायन
२.	रेखा	अक्षर	चित्रण
३.	हाव-भाव	अभिनय	नृत्य
४.	आकृति	पात्र	शिल्प

नित्य व्यवहार अत्यन्त सादगी से सम्पन्न होता है। तीव्र अनुभव अतिशयता से प्रकट किये जाते है। ऐसे अवसर कम नही आते कि नित्य की सादगी से हम ऊब जाते है; आकस्मिक तीव्र आवेग सबके बस की बात नही। अतः सादगी और अतिशयता का न्यूनाधिक सम्मिश्रण कर कल्पनाशील मनुष्य ने चार नयी कलाओं का आविष्कार किया। भाषा के चुने हुए शब्दों और संगीत की टेक के मनोहर मिश्रण से काव्य-कला का आविर्भाव हुआ। अक्षर तथा चित्रण से सुबोध चित्रयुक्त अथवा सचित्र ग्रन्थ तैयार किये गये। अभिनय तथा नृत्य ने नाटक और पात्र तथा शिल्प ने स्थापत्य को जन्म दिया। सब लोग तानसेन नही बन सकते; पर स्रग्धरा और मालिनी को सभी गले का हार बना सकते हैं। अजन्ता अब अजन्मा रहेगी पर चित्रमयजगत[1] इच्छा हो तो घर-घर पाया जा सकता है। ताण्डव नृत्य शंकरजी ही जानते है, पर ललित[2] और

[1] पूना के विख्यात चित्रशाला प्रेस से प्रकाशित मराठी की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका —अनु०

[2] ललित : नवरात्रि जैसे उत्सवों के अन्तिम दिवस रात मे उत्सव के देवता को सिंहासनारूढ़ मानकर विभिन्न भक्तों के स्वाँग रचना, प्रसाद माँगना और बाँटना —अनु०

तमाशा[3] ग्रामीणों को पागल बना देते है। भिवा बढ़ई[4] को घर-घर काम के लिए नहीं बुलाया जा सकता पर जालीदार महराब या तुलसीघरा कम खर्च में बनवाना कोई बड़ी बात नही। ये चार कलाएँ साध्यासाध्यता तथा सम्भवासम्भवता की दृष्टि से निर्माण हुई है :—

१. ध्वनि	भाषा × गान	= काव्य
२. रेखा	अक्षर × चित्रण	= चित्रमय ग्रन्थ
३. हाव-भाव	अभिनय × नृत्य	= नाटक
४. आकृति	पात्र × शिल्प	= स्थापत्य

गाना, चित्र बनाना, नाचना और मूर्ति निर्माण अथवा काव्य, सचित्र ग्रन्थ, नाटक, तथा स्थापत्य, इन आठों कलाओं में अन्तःकरण अर्थात् मन, और उसके स्वामी मानव के कृतृत्व की प्रधानता होती है। मनुष्य के कृतृत्व और हस्तक्षेप की अप्रधानता रखने वाली चार कलाओ का निर्माण ध्वन्यादि की नीव पर मनुष्य ने किया है। बाह्य साधनों पर विशेष निर्भर होकर ही वह उन्हें तैयार कर पाया है। खाल, बाँस, धातु, बाल, तार आदि पर आघात करने से निकलने वाली ध्वनि को योग्य रीति से निनादित कराया जाय तो सुमधुर स्वर गूँज उठता है। बाह्य पदार्थों की सहायता से मधुर स्वर निकालने की कला को वादन कहते हैं। हाथ से चित्र बनाने की अपेक्षा प्रकाश की सहायता से खींचा जाय तो वह प्रकाशलेखन-कला कही जायगी। अभिनेताओं का मिजाज न मिले तो केवल पुतलियों से अभिनय तथा नृत्य कराने की कला— कठपुतली का खेल—अत्यन्त पुरातन है। मूर्ति की बनावट और मुखचर्या द्वारा विचार-विकार प्रकट कराने की अपेक्षा वृक्ष, बेलि, उपवन, उद्यान, मैदान और पहाड़ियों की विशिष्ट रचना कर विचार तथा विकार उद्दीप्त कराने की भूमि-रचना-कला भारत के लिए अपरिचित नहीं। वाद्यों में फोनोग्राफ, चित्रण में प्रकाश-लेखन और कठपुतलियों के खेल मे सिनेमा का आविष्कार आधुनिक विज्ञान की देन है। इन तीनो के अतिरिक्त शेष सभी रूप हमारे महाराष्ट्र में प्राचीन काल से आज तक भली भाँति प्रचलित हैं। पहले वाली आठ कलाओं के साथ उपर्युक्त बाह्य कलाओं को जोड़ा जाय तो मानचित्र इस प्रकार होगा :—

---

[3] तमाशा : शृङ्गारिक गीत-नृत्य जो महाराष्ट्र की अपनी एक विशेषता है; अश्लीलता की ओर झुका हुआ। —अनु०

[4] लगभग सन् १७८० ई०। महाराष्ट्र का एक उत्कृष्ट मूर्तिकार जिसके द्वारा बनाई गई कई मूर्तियाँ पुणे तथा वाई के देवालयों की शोभा बढ़ाती हैं। —अनु०

क्रम	मनुष्याधीन साधन	सामान्य व्यवहार	अतिशयता	व्यवहार अतिशयता	बहिःसाधन
	१	२	३	४	५
१.	ध्वनि	भाषा	संगीत	काव्य	वाद्य
	६	७	८	९	१०
२.	रेखा	अक्षर	चित्रण	चित्रमय ग्रन्थ	प्रकाश-लेखन
	११	१२	१३	१४	१५
३.	हावभाव	अभिनय	नृत्य	नाटक	कठपुतली का खेल
	१६	१७	१८	१९	२०
४.	घन आकृति	पात्र	शिल्प	स्थापत्य	भूमि-रचना

मनुष्य इन्ही बीस प्रकारों से विचारो तथा विकारों की अभिव्यक्ति करता है। इनमें से १. ध्वनि, ६. रेखा, ११. हाव-भाव और १६. घन आकृति और २. भाषा, ७ अक्षर, १२. अभिनय और १७. पात्र—इन आठ मूल व्यावहारिक सामान्य साधनों के कार्य का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। यहाँ "पात्र" का अर्थ है विचार-विकार-प्रदर्शनार्थ अथवा व्यवहारोपयोगार्थ बनाई गई प्रतिमा, मूर्ति, घर, छप्पर, हौज आदि घन आकृति। विकार-विचारों का अतिरेक होने पर जब वे हृदय मे समा न पायें, फूट पड़ने की स्थिति मे पहुँच जायें और सामान्य साधनों द्वारा प्रदर्शित नही किये जा सकें तो मनुष्य ने अतिशयता परिपूर्ण ३. गान, ८. चित्रण, १३. नृत्य तथा शिल्प कलाओं का आश्रय लिया। हृदय द्रवित होकर वह पड़े वही रस है। शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, रौद्र, भयानक, वीभत्स तथा शान्त, नौ प्रकार से हृदय वह पड़ता है। इस आवेग को संगीत, चित्र, नृत्य तथा शिल्प आदि चार अतिशयतायुक्त अभिव्यक्तियुक्त कलाओं की सहायता से प्रकट किया जाता है। यों शब्द और भाषा का संगीत से कोई सम्बन्ध नही। सगीत हजारों शब्दो में नही प्रकट होता केवल सात सुरों मे नौ रस बोलता है। चित्र अक्षरों अर्थात् बावन मातृकाओं की सहायता से नही अर्थ दिखलाता, केवल पाँच रंगों के न्यूनाधिक्य से नौ रसों का आविष्कार करता है। नृत्य सामान्य अभिनय नही है, अंगांगो के उद्धत हाव-भावो से नौ रसों की अभिव्यक्ति नृत्य है—वही ताण्डव है। शिल्प पात्र-निर्माण तक सीमित नही, घन आकृतियो के उभार और दबाव द्वारा नौ रसों का प्रदर्शन शिल्प के ही अन्तर्गत आता है।

अतिशयतायुक्त संगीतादि चार कलाएँ सामान्य व्यवहार की भाषादि चार कलाएँ और मूल-ध्वन्यादि चार साधन मिलकर विचार-विकार-प्रदर्शन के बारह साधनों के कार्य केवल श्रेणी की उच्च-निम्नता से निर्धारित होते हैं। मानचित्र में जो काव्यादि चार साधन दिखलाये गये है वे सादगी और अतिशयता के सम्मिश्रण से अन्तर्बाह्य निर्मित हुए है। संगीत की टेक और भाषा के शब्द से मिलकर काव्य का गद्य-पद्यात्मक बहिःस्वरूप बनता है, शब्दों का अर्थ और अतिशयता से उद्भूत नौ रस मिलकर काव्य के अन्तःस्वरूप का निर्माण होता है, अर्थ और वस्तुओं का साक्षाद्दर्शन उनका अन्तःस्वरूप है। अभिनय के हाव-भाव और नृत्य का औद्धत्य नाटक का बहिःस्वरूप है, हाव-भाव द्वारा प्रकट किये गये विचार एवं विकार और औद्धत्य की अतिशयता द्वारा दिखलाये गये नौ रस उसका अन्तःस्वरूप है। पात्र-स्थापत्य का बहिःस्वरूप और नौ रसों का मूर्त उभार अन्तःस्वरूप है। चार मिश्र कलाओं के अत्यन्त विशुद्ध रूप यही हैं। अन्य नाना कलाओं के सम्मिश्रण से मूल विशुद्ध मिश्र-कलाएँ बहुधा मिश्रित बन गई हैं और आज इसी रूप में उपलब्ध है; उदाहरणार्थ--नाटक जिसमे गद्य, पद्य, काव्य, वाद्य, चित्र, शिल्प आदि अनेक मिश्रण देखे जाते है। दूसरा उदाहरण स्थापत्य का है जिसका मूल कार्य है केवल पात्र की मूर्ति द्वारा नौ रसों का प्रदर्शन कराना; उसमे भी भित्ति-चित्र, नक्काशी, अक्षर, अर्द्धमूर्ति, लेप, सांझी आदि का मिश्रण हो गया है। अस्तु।

बारहों कलाएँ मनुष्य की कर्तृत्वशील वृत्ति का विजयगान करती हैं। वाद्यादि चार कलाएँ रह गई जिनमे मनुष्याधीन साधनों की अपेक्षा बाह्य वस्तुओं का साधनाधिक्य दिखाई पड़ता है। बात स्पष्ट है अतः उक्त बीस साधनों का विवरण यही समाप्त कर मनुष्य-निर्मित एक विचित्र साधन का वर्णन किया जायगा। वह साधन पूर्ण विकारमय है और फिर भी आश्चर्य की बात है कि अत्यन्त गूढ विचारों का प्रदर्शन करने का प्रयत्न करता है। उसकी नीव अन्य कलाओं की भाँति है अर्थात् ध्वनि, रेखा, हाव-भाव तथा घनाकृति पर वह आधारित है। अन्तर है तो केवल नीव के उद्गम का। संगीतादि कलाओं मे आधार ज्ञात होता है, वर्णयिष्यमाण कलाओं में नहीं होता। आकाश-वाणी, अरण्य-रुदन, पिशाच-गायन, श्मशान-कोलाहल आदि ध्वनियाँ कभी-कभी सुनाई पड़ जाती हैं, पर समझ में नही आता कि वे कहाँ से और कैसे उत्पन्न हुई। मनुष्य उन्हें सुनकर चौंकता है, घबराता है, हैरान होता है और कभी-कभी तो बीमार तक पड़ जाता है। ध्वनियों को दैवी बाधा मानकर उनके प्रतिरोध के लिए श्रुत-ध्वनियों की सदृश अथवा विरुद्ध ध्वनियाँ टो

रूप उत्पन्न करता है ह्रा, ह्री, ह्रूं, क्रां, क्री, क्रूं, फट्, वषट्, स्वाहा आदि असंख्य ध्वनियाँ मुख से निकालकर अन्य अर्थयुक्त अथवा अर्थहीन संस्कृत, प्राकृत तथा खिचड़ी भाषा के शब्द अथवा शब्दमालाएँ गुनगुनाता है और इस प्रकार मांत्रिक लोग दैवी ध्वनियों की बाधा को शक्तिहीन बनाते हैं। कहा जाता है कि ध्वनियाँ मन्त्र हैं और उनकी साधना को मन्त्र-साधना कहा जाता है। अज्ञातोद्गम अथवा काल्पनिक ध्वनियों को सुनने की भाँति कुछ लोगों को आकाश नगर, गन्धर्वपुरी, सूर्य-मुख आदि अनेक चित्र आकाश में तैरते दिखाई देते हैं। काल्पनिक चित्रकला इसी का नाम है। बहुत से व्यक्तियों के देह में दैवी संचार होता है और वे नाना प्रकार के उल्टे-सीधे हाव-भाव करते हैं, अँगड़ाई लेते हैं, बदन ऐंठते हैं और नाचते हैं। काल्पनिक ताण्डव या नृत्य यही है। कितने ही मनुष्य भ्रान्तिवश पिशाच, राक्षस, खँस, वैताल, स्वर्ग, नरक, देवता, दानव आदि घनाकृतियाँ बनाते हैं। इसे काल्पनिक मूर्तिकरण तथा स्थापत्य समझिए। अज्ञानोद्भव भ्रान्तिकृत ध्वनि, रेखा, हाव-भाव तथा घनाकृति, इस चार काल्पनिक साधन-चतुष्टय को उपरिनिर्दिष्ट ज्ञातोद्गम विश्वसनीय वास्तविक साधनों से जोड़कर निम्नलिखित आलेख तैयार होगा :—

विचार-विकार-प्रदर्शन के साधन

वास्तविक या शुद्ध	भ्रान्त या शबल
१. ध्वनि–भाषा–संगीत–काव्य–वाद्य	१. ध्वनि–भाषा–संगीत–काव्य–वाद्य।
२. रेखन–अक्षर–चित्रण–चित्रमय ग्रन्थ–प्रकाशलेखन।	२. रेखन–अक्षर–चित्रण–चित्रमय ग्रन्थ –प्रकाशलेखन।
३. हावभाव–अभिनय–ताण्डव–नाटक–कठपुतलियाँ	३. हावभाव – अभिनय – नृत्य–नाटक वैतालसभा।
४. घनाकृति–वर्तन–मूर्ति–स्थापत्य–भूमिरचना।	४. घनाकृति–वर्तन–मूर्ति–स्थापत्य–भूमिरचना।

वास्तविक एवं भ्रान्त साधनों के उदाहरण निम्नलिखित सूची में क्रम से दिये गये हैं :—

	वास्तविक	भ्रान्त
१. ध्वनि :	मानवीय तथा बाह्य सृष्टि के पदार्थों की।	अज्ञात स्रोतों से निकली हुई।
२. भाषा :	व्यवहार में बोली जाने वाली।	अज्ञातोद्भव ध्वनियों के अनुकरण से ह्रां ह्रीं ह्रूं आदि मन्त्र-भाषा।

३. संगीत :	स्वरोद्भव ।	गुनगुनाना, बड़बड़ाना, पुटपुटाना, आदि मन्त्र-गान ।
४. काव्य :	शिवाजी-काव्य, नारायण-वध, पोप के इनशियाड, रामदास रचित "मनके श्लोक" आदि ।	मिल्टन का पेराडाइज लॉस्ट, दान्ते का काव्य, कुमारसम्भवम् आदि ।
५. वाद्य :	शहनाई, ढोल आदि ।	डमरू, ताशा आदि ।
६. रेखन :	वस्तुदर्शक रेखाएँ ।	जादू-टोनेवाली सीधी, वक्र . तथा सर्पाकृत रेखाएँ ।
७. अक्षर :	अ, क, आदि ।	ओंकार, यन्त्र, स्वस्तिक, चिह्नादि ।
८. चित्र :	पशु-पक्षियों के ।	राक्षस-किन्नर, देव-दानवों के ।
६. सचित्र ग्रन्थ :	इतिहास, बढ़ईगीरी, लुहारगीरी, आदि के विशदीकरणार्थ ।	पुराण, स्तुति ग्रन्थ, इन्फर्नो आदि के विशदीकरणार्थ ।
१०. प्रकाशलेखन :	फोटोग्राफी ।	आकाशादि मे कल्पना द्वारा नगरादि देखना ।
११. हावभाव :	नित्य शारीरिक विक्षेप ।	शक्ति-संचार के समय होने वाले विक्षेप ।
१२. अभिनय :	विक्षेपों का वैज्ञानिक वर्गीकरण ।	बेताल, श्मशान, खण्डोवा आदि से सम्बन्धित निश्चित विक्षेप ।
१३. नृत्य :	स्पष्ट है ।	घेरा बना कर नाचना, दैवी संचार होने से नाचना, आदि आदि ।
१४. नाटक :	मानवीय समाज-संसार-दर्शक ।	देवासुर- पिशाच- समाज-दर्शक ।
१५. कठपुतलियाँ:	मनुष्याकृति ।	नाना पिशाचाकृति ।
१६. घनाकृति :	पशु-पक्षियों की ।	नाना देव-दानवों की ।

१७. वर्तन :	भोजन बनाने के, मामूली मकान, बाड़े ।	देव, वैतालादि की पूजा के काम आने वाले उपकरण, पूजा की लकड़ी आदि के ठाकुरद्वारे, ईसाइयों के मामूली गिर्जाघर, सामान्य कब्रें इत्यादि ।
१८. मूर्ति :	पशु-पक्षियों की ।	राम, कृष्ण, शैतान, देव-दूतादि की ।
१९. स्थापत्य :	बाड़े, किले, परकोटा, घाट ।	मन्दिर, गिर्जाघर, मसजिद आदि ।
२०. भूमिरचना :	उद्यान, बगीचा, पदार्थ-संग्रहभूमि, नगर-रचना ।	स्वर्ग, नरक, पाताल, वायु-लोक, चन्द्रलोक आदि ।

अज्ञातोद्भव सबल साधन केवल भ्रान्तिमय होते हैं; पर मनुष्य उन्हे यथार्थ मानता है, यथार्थ साधनों और कलाओं जैसा या उनसे अधिक सत्य मानता है। गूढ ध्वनि आधार है। उसके बाद कहाँ से आई, एतद्विषयक तर्क है। जाने-माने पदार्थ से नही आई, अतः किसी प्राणी की होगी। इस प्रकार उपमान-प्रमाणानुसार किसी अदृश्य प्राणी की ही आवाज होगी। पेड़, जगल, तालाब, बादल अथवा आकाश जहाँ से आवाज आई, वही वह अदृश्य प्राणी निवास करता है। यों नाना तर्कों के आधार पर मनुष्य ने भूत, यक्ष, देव, दानव, अप्सरा, गन्धर्व, वैताल, पिशाच आदि गूढ प्राणियों की पहले कल्पना की और तदनन्तर उनके निवास-स्थान, प्रदेश, प्रजा निर्माण की और अन्त में उनके गुणानुरूप उपमानप्रमाण से रूप निर्माण किये। मनुष्य इसके बाद भी चुप न रहा, बल्कि गूढ़ प्राणियों के क्रोध की कल्पना कर पूजा, प्रार्थना, नैवेद्य तथा बलि देकर उन्हे प्रसन्न रखने की युक्तियाँ भी उसने सोच निकाली। देव धर्म इसी मार्ग का नाम है। सुष्ट देवता, दुष्ट देवता, क्रोधी देवता, वरिष्ठ देवता, कनिष्ठ देवता, प्रेष्ठ देवता, श्रेष्ठ देवता, और एकमेव एक देवता — नाना प्रकार के देवता, देवदूत, भूत, शैतान, उनकी स्त्रियाँ और परिवार—मनुष्य ने एक नया संसार रच दिया और उसी को सत्य मानने लगा। मृत्यु के बाद उसी सत्य संसार में सदा के लिए जाना है; यही नही, यह ससार दो दिन का खेल है, असत्य है, असत्य नही तो क्षणिक अवश्य है—आदि तर्कों का तूमार खड़ा कर यह अपने सत्य परलोक पर आसक्त हुआ कि नित्य-व्यवहार के कार्य, आयुध, उपकरण, चित्र, मूर्तियाँ, इमारतें, कब्र, विवाह, जातकरण, पताका, ध्वजा, संस्कारादि

पर उस सत्य-संसार की मुहर लगा दी। उसी सच्चे लोक और वहाँ के देव-दानवों के चित्र, स्तोत्र, वेद, बाइबिल, कुरान, त्रिपिटक, काव्य, नाटक, ताण्डव आदि की रचना मनुष्य ने यहीं बैठकर की। एक अजीब-सा हंगामा-सा मचाया। जो सचमुच सत्य था उसे असत्य, और मात्र काल्पनिक था उसे सत्य निश्चित कर डाला। मनुष्य की कल्पना-सृष्टि का उत्कट ऐतिहासिक रूप देखना हो तो किसी देवालय की ओर जाइए, भ्रान्त साधनों का विशाल ऐतिहासिक संग्रह एक ही स्थान पर मिलेगा। सौ-डेढ़ सौ साल पुराना देवालय छोड़िए, गाँव-गँवई का प्राचीन जीर्ण-शीर्ण मन्दिर-स्थान लीजिए और जो स्थान या भाग कालवश अथवा मन्दिर-भंजकों द्वारा छिन्न-भिन्न हो चुका हो उसे कल्पना द्वारा जोड़िए। सबसे पहले पुरातन पीपल और बरगद के पेड़ दिखाई देंगे। वृक्ष ब्राह्मण हैं और यहाँ ब्रह्मराक्षस रहता है। भ्रमवश ब्रह्मराक्षस व्यन्तरयोनि माने जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो ब्रह्मराक्षस ब्राह्मण और राक्षस के सम्बन्ध से उत्पन्न एक पुरातन संकर जाति मानी जा सकती है—उस काल की संकर जाति जब यहाँ राक्षसों की बस्ती थी। वृक्ष के तले म्हसोबा, बिरोबा या पोटोबा आसन जमाये होंगे—एक मामूली बेढब पत्थर, सिन्दूर से पुता हुआ। सुन्दर मूर्ति प्रतिष्ठित कराई न जा सकती हो, ऐसी बात नहीं, परन्तु म्हसोबा जैसे देवता बहुत सादे और बेढब ही होते हैं। उनका बेढबपन इतिहास प्रकट करता है। पुरातन काल में जिन लोगों ने इन देवताओं की कल्पना की वे कौशलपूर्ण मूर्ति-कला से अनभिज्ञ थे, न भी हों फिर भी स्वयम्भू बेढंगी मूर्ति की तुलना में कृत्रिम सुदर्शन-मूर्ति को स्वीकार करना नहीं चाहते थे। और आगे बढ़ेंगे तो एक ओर बैताल-सभा दिखाई देगी। बैताल महारों या नागों की एक अत्यन्त कनिष्ठ जाति का देवता है। दूसरी ओर पत्थर के आले में दीप जल रहा होगा। यह आला पितरों का है और उन्हीं के लिए दीप दिन-रात जलाया जाता है। दस-पाँच हाथ के फ़ासले पर गाँव की दो-चार सती स्त्रियों के चौरे मिलेंगे जिन पर दम्पति का चित्र खुदा होगा। फिर ओयेरा, मारुति-हनुमान का मन्दिर। वैदिककालीन मरुत्, पौराणिककालीन मारुति है। मरुत्–मारुत–मारुति तीसरी पीढ़ी है। मारुति पथिकों का संरक्षक देवता है। आगे चलकर ड्योढ़ी और गोपुर मिलेंगे। गोपुर में किसी ज़माने में मन्दिर-स्थान की गौएँ बाँधी जाती थीं, आजकल बजैये रहते हैं। गोपुर पूर्वाभिमुख है जिसमें होकर प्राचीर के अन्त:प्रदेश में जाने का रास्ता गया है। प्राचीर दो-ढाई पुरसे की ऊँचाई की है और उसकी ईंटें हाथ-हाथ भर की हैं। दुमंजिला है। नीचे वाली मंजिल में [illegible] रहते हैं, और ऊपरवाली खुली छत पर दीवार में छोटे-छोटे छेद हैं जो किसी युग में [illegible] पर तोप आ

गोलियाँ बरसाने के काम आते थे। मन्दिर-स्थान एक छोटा-मोटा दुर्ग ही है। दो हजार वर्ष पूर्व शक-यवनों के आक्रमण का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से प्राचीर दुर्गनुमा बनाई गई है। और भीतर जायेंगे तो एक-दो प्रमुख देवालय और इर्द-गिर्द उपदेवालय दिखाई देंगे और उनके सामने दस-पाँच बाँस गड़े होंगे। एक बाँस इन्द्रध्वज है, दूसरा गरुड़ध्वज, तीसरा सिंहध्वज और चौथा रामदासी गेरुआ झंडा है। सारी ध्वजाएँ ऐतिहासिक निर्देश करती हैं। इन्द्र से लेकर रामदास तक सबकी ध्वजा-पताकाएँ मिलेंगी। भगवा झण्डा भी इन्द्रध्वज ही है। "ध्वजदंड" का मराठी अपभ्रंश इस प्रकार बना है— ध्वजदण्ड-भग्रग्रण्डा-झण्डा। भगवान इन्द्र का अपभ्रंश भगवा। भगवद्ध्वज-दण्ड—भगवा झण्डा। पाँचवाँ बाँस पेशवाओं के जरीपटके का है। जरीपटका का मतलब है इन्द्रध्वज। इन्द्र की ध्वजा को संस्कृत में "जर्भर" नाम से जानते थे। पटका का अर्थ कपड़े का टुकड़ा। जर्भरीकपटकः=जरीपटका। तो जरीपटका इन्द्र का चिह्न है। पेशवाओं ने नयी खोज नहीं की। वैदिककालीन चिह्न है। बीच के जमाने में मुसलमानों के आक्रमण के भय से मन्दिर में छिप गया था, छत्रपति शिवाजी और पेशवाओं ने उसे फिर फौज मे भरती कराया। इन ऐतिहासिक बाँसों के निकट अत्यन्त जीर्ण, धूप-वरखा की मार खाकर धुले-पुछे पाँच-दस पत्थर ध्यान से देखने पर ही दिखाई देंगे। पत्थर लगभग छह फुट ऊँचे और फुट-पौन फुट चौड़े हैं जिन पर लकीरें खींचकर मजिलें बनाई गई हैं। अर्द्ध-मूर्तियाँ खुदी हैं। नक्काशी बेढब है परन्तु म्हसोबा, विरोबा से कही अधिक कलात्मक है। एक मजिल पर शिवलिंग और स्त्री-पुरुष उपासकों के चित्र है, दूसरी पर भल्लधारी अश्वारोही खुदे हैं। तीसरी मजिल पर नितम्बिनी एव कुम्भस्तनी महाराष्ट्र वधूटिकाएँ स्थित हैं। इन अर्द्धमूर्तियुक्त पत्थरों को मराठी मे 'कान्दल' या 'कान्दल के पत्थर' कहते हैं। महाराष्ट्र मे एक भी ऐसा ग्राम नही होगा जहाँ के देवालयों के बाहर या निकट या भीतर 'कान्दल' न हों। किस युग के हैं? उस युग के जब पर्वतो, गुफाओं और घाटियों मे भित्ति-मूर्तियाँ बनाने का रिवाज था। कान्दल सस्कृत कन्दर का अपभ्रंश है। "कन्दरस्य इदं कान्दरम्" कन्दर का अर्थ है पर्वतों में खोदी गई गुफाएँ। यह शब्द बाल्मीकि रामायण मे प्रयुक्त हुआ है। कन्दरपूजा या लिंग-पूजा महाराष्ट्र में प्राचीन काल से होती आई है। लिंगोपासकों की बौद्धों से रक्षा करने वाले भल्लदारी सैनिक खुदे है। प्रायः बौद्धो की पराजय और लिंगोपासकों की विजय सूचित की गई है। चूंकि प्रत्येक ग्राम में कन्दर मिलते हैं इसलिए प्रतीत होता है कि महाराष्ट्र मे किसी युग में बौद्धो और शैवों के बीच प्रबल संघर्ष छिड़ा होगा। कुछ पत्थर अत्यन्त प्राचीन और कुछ अनुकरण कर बनाये गये हैं अर्थात् पाँच-सात सौ वर्ष पुराने हैं। उनके निकट वीर हैं। असुरों,

राक्षसों, शकों, यवनों तथा मुसलमानों से युद्ध कर वीरतापूर्वक अपने ग्राम की रक्षा करते हुए जिन वीरों ने देह अर्पित कर दी उनकी मूर्तियाँ देवालय के परिसर में सम्मानसहित प्रदर्शित करने का रिवाज महाराष्ट्र में पाया जाता है। मूर्तियाँ ग्रामीण कारीगरी दिखलाती हैं, कुछ मूर्तियों पर कुछ अक्षर भी खुदे पाये जाते हैं।

केन्द्र में स्थित देवालय होता है, प्रायः शिवालय अथवा विष्णवालय अथवा दोनों के दो अलग मन्दिर होते हैं। कई देवालय चालुक्यकालीन (या राष्ट्रकूट-कालीन, यादवकालीन) हैं और एकाध मुसलमानकालीन। यादवकालीन तथा मुसलमानकालीन देवालय सामान्य हेमाड़पन्ती[१] हैं। चालुक्यकालीन देवालयों में कलात्मकता बहुत पाई जाती है। सबसे आगे गरुड अथवा नन्दी, उसके बाद सभामण्डप और गर्भागार के प्रारम्भ में जय-विजय की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती है। अनुमति प्राप्त करते समय गणेश तथा उनके बन्धु स्कन्द की स्तुति करनी पड़ती है और देहली के नीचे स्थित कीर्तिमुख को रौंदकर भीतर प्रवेश करते ही गर्भागार की अपूर्व शोभा आश्चर्यचकित कर देती है। दर्शक का छोटा-सा हृदय हैरान हो जाता है। क्या-क्या देखे? पहले क्या देखे, फिर क्या देखे? पहले गर्भागार देखें या सभामण्डप या प्राचीर-चित्र, नहीं निश्चय कर पाते। कहीं इन्द्र-सभा या दशावतारों के रंगीन चित्र हैं तो कहीं देवयोनि तथा गणदेवताओं की अर्द्धमूर्तियाँ। कहीं यक्ष-किन्नर-राक्षसों की प्रतिमाएँ हैं तो कहीं तत्कालीन राजाओं की सभाएँ। सब का भली भाँति आद्योपान्त एवं सार्थ दर्शन करना चाहें तो एक महीने से अधिक समय चाहिए। केवल उपकरण ही ले तो शंख, सर्पाकृति चमची, कमलाकृति अभिषेकपात्र, मत्स्याकृति दीपक आदि वस्तुओं में भी इतिहास निहित है। देवालय से प्राकार के आँगन में पहुँचे और देवालय को नीचे से ऊपर शिखर तक देखें तो उसकी बनावट मोहित कर लेगी। मेहराबें, जालियाँ, मूर्तियाँ, कोण, आकाशदीप—जहाँ दृष्टि पहुँचे चकित रह जाते हैं। आँगन में नाग-शिला पड़ी है जो नागों की स्मृति कराती है। पश्चिमी द्वार से बाहर आइए तो पार्श्व-प्रवाहिनी नदी के जल तक अर्द्ध चन्द्रा-

---

[१] हेमाड़पन्त देवगिरि के राजा रामदेवराय का मन्त्री हेमाद्रि पण्डित (सन् १२६०-१२७५ ई०) है जिसने 'चतुर्वर्ग-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ का निर्माण कराया महाराष्ट्र में पाये जाने वाले विशिष्ट रचना के देवा-लय को 'हेमाड़पन्ती' कहा जाता है। वास्तव में चालुक्य शिल्प-पद्धति के देवालयों की ओर संकेत है जिनमें बड़े-बड़े शिलाखण्डों को चूना और गारा की सहायता न लेते हुए खास प्रकार से एक पर एक रखकर मज-बूत दीवार बनाई जाती थी। —अनु०

कृति घाट बना है। वहाँ जलदेवता का देवालय अवश्य होगा, सन्यासियों की समाधियाँ, चौंतरे होंगे और सौ फुट के फासले पर होगी मसजिद। एक ओर मिट्टी का ढूह दिखाई देता है, हो सकता है बौद्ध स्तूप हो। चार-पाँच मील दूर पर्वतश्रेणी का विस्तार आँख में नहीं समा पाता, वहाँ पाण्डव-गुफाएँ[1] है। बीच की जगह में ईसाइयों ने अभी तीन-चार सौ साल पहले नया कैथोलिक गिरजाघर बनाया है, उसके पास ही समाजिस्टों[2] का दस-बीस वर्ष पुराना सादा प्रार्थना-मन्दिर स्थित है।

लोकभ्रम शैशवावस्थादर्शक

इस झाँकी का क्या अर्थ हो सकता है? यह दृश्य पिछले तीन हजार वर्षों के महाराष्ट्रियों के शबल, काल्पनिक तथा अवास्तविक साधनों, कलाओं तथा मत-मतान्तरों का मूर्त प्रदर्शन है जिसका अर्थ तीन प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है। मात्र श्रद्धालुजन स्वर्ग-नरक याने परलोक के देवताओं का कृतृत्व देखते है और उसे सत्य से महान सत्य मान लेते हैं। मात्र कला-शिल्प के शौकीन मूर्तियों की सुन्दरता, इमारतों की बनावट, चित्रों के आकर्षण, रंगों के चमत्कार देखते है और अब ऐसा शिल्प नहीं निर्माण होता इसलिए शोक करते हैं। इतिहास का अध्येता इस दृश्य का एकदम भिन्न अर्थ करता है। सूँड़वाला गणेश, परों वाले देवदूत, चोंचवाला गरुड, शेषशायी नारायण, चतुर्मुख ब्रह्मा, दशमुख रावण, अश्वमुख किन्नर, ऊर्ध्वशिख नारद, शिर पर स्वर्ग और पैरों तले पाताल आदि भ्रान्त कल्पना का खेल है, सर्वथा असत्य है। इतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि जैसे-जैसे विशुद्ध ज्ञान का प्रसार होगा वैसे-वैसे इन कल्पनाओं का लोप होगा जो होना ही चाहिए अतः वह लुप्त होनेवाले शिल्प के प्रति दुःखकातर नहीं होता। उल्टे, दुःख होता है इस बात का कि लोप अत्यन्त मन्द गति से क्यों हो रहा है। स्थूल मूर्तियों, चित्रों तथा वृक्ष-पशु-पक्षी आदि प्रतिमाओं के प्रति हमारा भ्रान्त विश्वास कहाँ लुप्त हो चुका है? कहीं-कहीं हो चुका है, कभी-कभी हो जाता है, फिर भी स्वर्ग, नरक, देवता, देवदूत, जिहोवा, गॉड, अल्लाह जैसी अमूर्त भ्रान्तियाँ आज भी सर्वत्र फैली

---

[1] टेकरी या पहाड़ी के ऐसे स्थान पर निर्मित मूर्तियाँ या निवास-स्थान जहाँ सामान्यतया मनुष्य की पहुँच न हो। अमानवीय शिल्प अथवा स्थापत्य-रचना के अर्थ में। —अनु०

[2] प्रार्थना-समाज : बंगाल के ब्रह्म-समाज के ढंग की एकेश्वरवादी उपासना पद्धति जो महाराष्ट्र में लोकप्रिय न बन पाई—स्थापना १८६७ ई०। —अनु०

हुई है। केवल अद्वैतवादी तथा भौतिकशास्त्रज्ञ कहलाने वालों में से कुछ लोगों का विश्वास उड़ गया है। इन "कुछ" की संख्या संसार की सम्पूर्ण जनसंख्या का कितना लक्षांश है? संसार अब भी बाल्यावस्था—बाल्यावस्था क्यों? शैशवावस्था—में है।

देव-कल्पना का मूल भ्रम

विचार-विकार-प्रदर्शन के उपर्युक्त शुद्ध तथा सबल चालीस साधनों की गतिविधियों की सहायता से मानव की दीर्घकालीन शैशवावस्था के मन्दगामी इतिहास का अत्यल्प अध्ययन किया जा सकता है। वह इतिहास बतलाता है कि ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, काल, दिक्, कारण आदि शुद्ध अथवा शबल कल्पनाएँ स्वयम्भू नहीं हैं। उन्हें मानव ने शुद्ध या भ्रान्त अनुमानों द्वारा स्वयं बनाया है। अनुभव के अन्वय-व्यतिरेक ने शुद्धता के कुछ कण मनुष्य को दिये हैं, अन्यथा शबलता का निरंकुश साम्राज्य फैला हुआ है। सन्तोष की बात यही है कि मनुष्य शबलता से शुद्धता की ओर अग्रसर हो रहा है। चमत्कार की बात यह है कि वह उत्क्रान्ति अर्थात् इतिहास की ओर ध्यान नहीं दे रहा। कोई विचारक सोचता नहीं चाहता कि नीति, ईश्वर, कार्य-कारणता, काल आदि से सम्बन्धित कल्पनाएँ लाखों वर्षों की उत्क्रान्ति का फल हैं। जिसे देखिए वही स्वयम्भुत्व की ओर, ईश्वरदत्तत्व की ओर दौड़ लगा रहा है, मानो मनुष्य आकाश से धरती पर टपक पड़ा हो, जैसे उसके पार्श्व में लाखों वर्षों का इतिहास ही न हो! लाखों वर्षों की उत्क्रान्ति का एक स्फुट उदाहरण देना चाहता हूँ जिससे पता चलेगा कि उपर्युक्त कल्पनाएँ तथा उनकी स्वयम्भुता भ्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं। अज्ञात प्रदेश से आने वाली ध्वनि सुनकर मनुष्य चौंका, घबराया, बीमार पड़ गया। और जब बीमारी का कारण समझ में नहीं आ सका तो भूत-प्रेत लगने की कल्पना की। भिन्न-भिन्न अज्ञातोद्गम ध्वनियों, हाव-भावों, आकाश-चित्रों, रोगों, दुखों, सुखों, जन्म और मरण तक के नाम एक-एक भूत की कल्पना की। इससे अच्छे और बुरे भूत निर्माण हुए, उनकी उपासना आरम्भ हो गई। आगे चलकर जैसे-जैसे रोगों, सुख-दुखों के सच्चे कारणों और उनके निवारण के उपायों का पता चलता गया, वैसे-वैसे अच्छे भूतों याने देवताओं और बुरे भूतों याने शैतानों का मजाक उड़ाया जाने लगा, उनकी आवश्यकता न रही। बिजली गिरने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती तो समझा जाता था कि इन्द्र ने वज्र से हत्या कर दी और महामारी से मर जाता तो मान लिया जाता था कि मरी माता का कोप हो गया है। मकान में विद्युद्ग्राहक तार लगाने से बिजली गिरने का भय नहीं रहता, इस बात का पता चलने पर इन्द्र और उसका वज्र दोनों भ्रान्तिजन्य और काल्पनिक ठहरते हैं

और मनुष्य उनका गम्भीरता से विचार करना छोड देता है। उसी प्रकार शुद्ध हवा और पानी हो तो मरी माता की तमाम अकड़ समाप्त हो जाती है। देवता और देवियों की आवश्यकता तब तक रही जब तक सकट-निवारण के उपायो का पता नही चल पाया था। मनुष्य की आदत है कि ज्यों-ज्यों वह विपदाओं से छुटकारा पाने के अधिकाधिक उपाय खोजता जाता है, त्यों-त्यो या तो देवताओं को कम कष्ट देता है या सम्बन्धित देवता को पथभ्रष्ट करता चला जाता है। इस प्रकार अनेक देवताओं की लू उतारकर वह केवल एक महान् देवता की कल्पना करता है जो वह स्वय है, किन्तु एकमेवाद्वितीय देवता भी कभी-कभी हारकर चुप हो जाता है। अन्त मे उस अद्वितीय का त्याग कर वह अद्वैतवादी बन जाता है और ईश्वर को माया अर्थात् भ्रान्ति का चमत्कार कह कर टाल देता है या भौतिक-वैज्ञानिक बनकर काल्पनिक ईश्वर से सकट-निवारण का काम छीनता जाता है। तात्पर्य यह कि जहाँ कार्य का सच्चा कारण अवगत नही हो जाता वहाँ देवता अथवा भूत की कल्पना करता है और सच्चा कारण ज्ञात होते ही भूत-कारण अथवा देव-कारण को छुट्टी दे देता है। अन्य शब्दों मे देवता की कल्पना कृत्रिम है, स्वयम्भू नही। अस्तु।

विचार-विकार-प्रदर्शक चालीस साधन और इतिहास

हमने बीस शुद्ध तथा बीस शबल साधनों का ऊपर वर्णन किया। इन्ही साधनों की सहायता से किसी देश के भूत तथा वर्तमानकालिक लोगों के इतिहास की गुत्थी सुलझानी पड़ती है। हमारे महाराष्ट्र और उसके भूत तथा वर्तमानकालिक निवासियो का इतिहास इन्ही साधनो की सहायता से लिखा जायगा। पिछले पचास वर्षो मे हम लोग केवल अक्षर-साधन अर्थात् ग्रन्थ तथा दस्तावेजों की ओर ध्यान देते रहे। अल्पश्रम और अल्पद्रव्य देकर इसी साधन को सहज उपलब्ध किया जा सकता है। अतः जो कुछ अब तक किया गया, वह ठीक ही था; किन्तु यह भी मान लेना चाहिए कि केवल अक्षर-साधन से काम नही चलेगा। अक्षर तो विचारों का एक साधन है, इसके अतिरिक्त जो उनतालीस शेष रहते हैं उनका क्या हो? अक्षरों से तो सब विचार प्रकट होने से रहे। अक्षर जिनकी साधना नही कर सकता ऐसे अनेक शुद्ध तथा शबल विचार गान, चित्र, शिल्प, स्थापत्य सिद्ध कर दिखाते हैं। अतः उन साधनों का यथायोग्य विचार करना ही होगा। अक्षर-साधन-अन्वेषण की अपेक्षा वह संशोधन द्रव्य की दृष्टि से सापेक्षतः जटिल होगा। पर जटिल रहे या सरल, बिना अन्वेषण के महाराष्ट्र के इतिहास का चित्र फीका बना रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। इसके सिवा, अक्षर-साधन हर समय समान रूप में उपलब्ध नही भी हो सकता। चार-पाँच सौ वर्षों के बाद दस्तावेज किसी काम के नही रहते, शेष

रहते हैं अन्य जिनकी पुष्टि करते हैं चित्र, मूर्तियां और स्थापत्य। अनेक युगों का इतिहास अल्प अवशेषों के आधार पर मात्र तर्क की सहायता से लिखना पड़ता है। ऐसी कठिनाइयाँ हैं। उन्हें हटाने की दृष्टि से उपरिनिर्दिष्ट चालीसों साधनों से सहायता लेना अनिवार्य है, इसी उद्देश्य से उपर्युक्त पृष्ठों में उनका विवरण देना आवश्यक प्रतीत हुआ।

होता है। इसी प्रकार किसी राष्ट्र की राजनीतिक गतिविधि का भौतिक पद्धति से विचार करना हो तो राष्ट्र मे हुए अन्तस्थ तथा बहिस्थ कलहो का वर्णन करना पडेगा–अर्थात् राष्ट्र के विद्रोहो, भिन्न-भिन्न दलो, वर्गो तथा जातियों की प्रतिस्पर्धाओं तथा विदेशो से किये गये युद्धों का वर्णन करना पड़ेगा। आत्मिक पद्धति से राष्ट्र की राजनीतिक गतिविधियों का विचार करना हो तो अन्तस्थ तथा बहिस्थ कलहो की उत्पत्ति के कारणो का और राष्ट्र के कुल लोक-समुदाय में आत्मा की उन्नतावनत वृत्तियो मे से किस वृत्ति का विशेष प्राबल्य है, इसका सूक्ष्म विचार करना होगा। राष्ट्रान्तर्गत बडे-बड़े दलो के नेताओं के राजनीति-विषयक मतों का सशास्त्र दर्शन इत्यादि बातों की चर्चा करनी पड़ेगी। राष्ट्र की राजनीतिक गतिविधियो का भौतिक तथा आत्मिक दृष्टि से जो विचार किया जाता है, वही राष्ट्र का राजनीतिक इतिहास कहलाता है। धर्म, नीति, विद्या, समाज, व्यापार, कृषि, कला-कौशल इनमे से एक अथवा अनेक अंगो की प्रबलता अथवा दुर्बलता के कारण राष्ट्र के राजनीतिक चरित्र पर उनका प्रहार अथवा प्रभाव पडने लगता है तो उस स्थिति में उनका भी विचार राष्ट्र के राजनीतिक इतिहास के अन्तर्गत करना पड़ता है। अतएव किसी राष्ट्र का सर्वाङ्ग परिपूर्ण राजनीतिक इतिहास लिखना हो तो वह भौतिक एव आत्मिक, दोनों पद्धतियों मे लिखना चाहिए।

तथा उसका क्या परिणाम हुआ, इसका दर्शन वर्तमान तथा भावी पीढ़ी को कराना ही गत तथा वर्तमानकालीन इतिहास का मुख्य कर्तव्य है। इस कर्तव्य का पालन मराठी तथा मुसलमान बखर के और ग्राण्ट डफ के ग्रन्थों में जैसा होना आवश्यक था, नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन ग्रन्थों में स्थल-काल अथवा व्यक्ति का योग्य एवं व्यवस्थित निर्देश नहीं किया गया है। इसका अर्थ यह कि इतिहास तथा तज्जन्य उपदेश बखरों और इतिहासों में उद्भूत नहीं होता। विशेष काल, स्थान एवं व्यक्ति का विशेष प्रकार का आचरण—इन तीन इकाइयों के घात-प्रतिघात द्वारा प्रसंग का निर्माण होता है और अनेक प्रसंगों की व्यवस्थित क्रमबद्धता से ही इतिहास कहलाने वाली परम्परा जन्म पाती है।

परम्परा का निर्माण होते समय काल का वह महान् भाग जो अनेक कालांशों से बनता है और जो इपॉक, एज, मन्वन्तर इत्यादि कहलाता है उसमें जिस विचार की प्रधानता होती है वह सहज प्रकट होने वाली वस्तु है। इसी विचार के आधार पर वर्तमान तथा भावी पीढ़ी को गतकालीन पीढ़ियों के अविच्छिन्न प्रसार का ज्ञान होता है। कौनसे कर्म-प्रसार की अविच्छिन्नता लेकर हमारा समाज बना है और किस प्रकार का आचरण करने से वर्तमान तथा भावी समाज का कर्म लोप होकर समाज आत्यन्तिक सुख का अधिकारी, चाहे कालान्तर में ही क्यों न हो, बनेगा, इसका पता गतकालीन विचार से अंशतः मिलता है। गतकालीन पीढ़ियों के कर्म का ज्ञान—जिसे युगमाहात्म्य, Spirit of the Age, Espírit d' epoc, जैसे नामों से विभिन्न भाषाओं में अभिहित किया जाता है—इतिहास की आत्मा है, अथवा इतिहास की आत्मा जैसा औपचारिक नाम देने की अपेक्षा इसी को इतिहास कहा जाता है।

इस युगमाहात्म्य, इस कालमाहात्म्य, इतिहास की इस आत्मा का दर्शन कराने का कठिन कार्य अब तक महाराष्ट्र के किसी इतिहासकार ने व्यवस्थित रूप में नहीं किया। इसका कारण यह है कि उपर्युक्त तीन इकाइयों का क्रमपूर्ण बोध इतिहासकारों को नहीं हो पाया। किस प्रकार तीनों घटक एक साथ कार्य करते हैं, वे नहीं जान पाये, इसी कारण महाराष्ट्र के इतिहास की आत्मा से वे एकदम अपरिचित रहे। तीनों इकाइयों का भली भाँति ज्ञान न होने के कारण वे आत्मिक इतिहास का परिचय न पा सके—यही नहीं, तत्कालीन छोटे-बड़े व्यक्तियों के जीवन-चरित्र की अनेक घटनाओं के प्रति उनका अज्ञान स्थायी रूप से बना रहा।

राष्ट्र के महान पुरुषों का चरित्र ही राष्ट्र का इतिहास कहलाता है—यह कथन अधिकांश में सत्य है। व्यक्ति समाज की इकाई है और महान् व्यक्ति

४ | हिन्दू समाज में अहिन्दुओं का समावेश

पाश्चात्यों की समावेश करने की रीति

अंग्रेज, अमरीकी, मुसलमान, जापानी तथा हिन्दू इत्यादि संसार के विभिन्न समाज स्वेतर लोगों को किन भिन्न प्रकार की पद्धतियों से आत्मसात कर लेते हैं, इसकी खोज करना समाजशास्त्र का कार्य है। इनमें से यूरोपीय तथा अमरीकी समाज किस पद्धति से स्वेतरों का समावेश करते हैं, इसकी खोज यूरोपीय तथा अमरीकी समाजशास्त्रियों ने सूक्ष्मता से की है। ये दोनों समाज तीन स्थितियों में स्वेतरों का समावेश करते हैं—(१) केवल सामान्य राजनीतिक समावेश अर्थात् किसी व्यक्ति को यदि वह कुछ काल तक देश में निवास करता है तो उसे स्थानीय तथा राष्ट्रीय स्वराज्य के लिए खड़े हुए उम्मीदवार को निर्वाचित करने का अधिकार देकर तथा देश की विधियों द्वारा उसका समर्थन कर अपने नागरिक के रूप में समाविष्ट करना। (२) धार्मिक समावेश अर्थात् देश जिस धर्म को राजधर्म के रूप में ग्रहण करता है उसे स्वीकार कर लेने वाले व्यक्ति को केवल राजनीतिक दृष्टि से बनने वाले नागरिक की अपेक्षा अधिक प्रिय मानना। (३) सामाजिक समावेश अर्थात् समाज के स्त्री-पुरुषों के साथ बेटी-व्यवहार करने की अनुमति देना। तीसरी पद्धति के अन्तर्गत व्यक्ति देश के तमाम धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों का अन्य नागरिकों की भाँति उपभोग करने लगता है। वह स्वयं तथा उसकी सन्तान पूर्णतया तद्देशज अर्थात् अभिजन बन जाते हैं। यह श्रेष्ठ तथा प्रेष्ठ सामाजिक समावेश संसार के किसी भी व्यक्ति को नहीं मिलता। इसके लिए व्यक्ति को चुना जाता है; और ऊपर से मामूली दीख पड़नेवाले तर्क के आधार पर चुना जाता है। यह तर्क कुछ और नहीं केवल वर्ण तथा चेहरे की बनावट से सम्बद्ध है। काला, भूरा अथवा साँवला वर्ण लेकर जो व्यक्ति जन्म पाता है उसे सामाजिक समावेश की सुविधा प्राप्त नहीं होती। श्वेत वर्ण उन्हें प्राणों से प्रिय है। अश्वेतवर्णीय व्यक्ति बेटी-व्यवहार और कभी-कभी तो रोटी-व्यवहार के योग्य भी नहीं समझा जाता। यदाकदाचित किसी व्यक्ति का वर्ण तो श्वेत हो पर उसकी नाक चपटी हो या केश ऊन की तरह कड़े हों, या नेत्रों में

दोष हों या गाल की हड्डियाँ उभरी हुई हों तो उसके साथ बेटी-व्यवहार करने मे लोग आनाकानी करते है। वर्ण का, चेहरे की बनावट का अपवाद छोड़ दिया जाय तो कह सकते हैं कि यूरोपीय तथा अमरीकी समाज में संसार के किसी व्यक्ति का समावेश हो सकता है। पर इतनी बात अवश्य है कि अपवाद के अन्तर्गत आने वालो की सख्या अपवादान्तर्गत न आने वालों की अपेक्षा बहुत अधिक है। यूरोपीय समाज कथनी मे भले ही समानता के महान् व्यापक सिद्धान्तो का प्रवचन करे, पर उसकी करनी और कथनी मे धरती-आसमान का अन्तर पाया जाता है।

मुसलमानो की समावेश करने की रीति

मुस्लिम समाज स्वेतर व्यक्तियो का समावेश करने मे यूरोपीय समाज की भांति नीतिहीनता का परिचय नही देता। वह तो राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक समावेश की तीन सीढ़ियाँ तक नहीं जानता। केवल धार्मिक समावेश ही उसे ज्ञात है। इस्लाम को स्वीकार करते ही व्यक्ति मुस्लिम समाज के प्रत्येक श्रेष्ठ तथा श्रेष्ठ अधिकार का उपभोग करने की अनुमति पाता है। वर्ण-भेद अथवा चेहरे की बनावट कोई अड़चन पैदा नही कर सकती। वंश शुद्ध हो अथवा मिश्र, संस्कृति उच्च हो चाहे निम्न, एक बार इस्लाम धर्म का अनुयायी बन जाना जन्मतः मुसलमान होने के योग्य मान लिया जाता है। मुस्लिम समाज में समावेश का प्रश्न अत्यन्त सरल और सीधा है।

चीनी और जापानी समाज में समावेश-समस्या का अभाव

चीनी और जापानी समाज को स्वेतर व्यक्तियों के समावेश के प्रश्न का कभी सामना नही करना पड़ा। दोनो देशों की जनसख्या इतनी विशाल है कि वहाँ बाहर से आकर बसने वालों की संख्या नगण्य रही है। चीन अथवा जापान में कोई व्यक्ति नियत समय तक निवास करता है तो वह यूरोपीय राष्ट्रों की पद्धति के अनुसार ही राजनीतिक समावेश पा जाता है। बौद्ध धर्म स्वीकार करने पर धार्मिक समावेश भी हो जाता है। सामाजिक अर्थात् कानूनी ढंग से विवाह कर सजातीयता प्राप्त करने के सम्बन्ध में चीनी और जापानी समाज सिद्धान्ततः वंश, वर्ण अथवा चेहरे की बनावट का बन्धन नहीं मानते। वास्तव में विदेशी व्यक्तियों का इन देशों से इतना कम सम्बन्ध रहा है कि ये प्रश्न कभी समस्या का रूप धारण नही कर पाये।

हिन्दू समाज में जातियों का उद्भव

उपर्युक्त समाजों की अपेक्षा हिन्दू समाज मे बाहरी लोगों को समाविष्ट करने की पद्धति पहले एकदम भिन्न थी, और आज भी है। मान लीजिए कि

कोई अनार्य व्यक्ति व्यापार के अथवा किसी अन्य उद्देश्य से, भारत में स्थायी रूप से निवास करने की इच्छा करता, तो ऐसी स्थिति मे राजनीतिक दृष्टि से उसकी गणना नागरिकों में अथवा ग्रामजनों में करना असम्भव था। ग्राम हो चाहे नगर, उसका निर्माण बीसियों जातियों के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा नही होता था। प्रत्येक व्यवसाय करनेवालों की अलग जाति होती थी और जातियों से मिलकर ग्राम बनता था। प्रत्येक जाति अपने-अपने व्यवसाय का एकाधिकार रखती थी। जो अधिकारहीन अर्थात वृत्तिहीन होता, वह ग्राम मे साधिकार नही रह सकता था। अन्य ग्राम से आनेवाला बेकार आर्य व्यक्ति ग्राम में रहने की इच्छा करता तो ग्राम के वृत्तिवान व्यक्तियों की अर्थात् एकाधिकारियों की ग्राम-सभा जुड़ती और यदि एकमत होकर—बहुमत द्वारा नहीं—अनुमति देती, तभी बाहर से आया हुआ व्यक्ति ग्राम में बस सकता था; पर वह भी उपही-पराया माना जाता था। उपही से मीरासदार अर्थात् "खानदानी" ग्रामवासी बनने तक कई पीढ़ियाँ गुजर जाती थी। यह कथा आर्य-उपही व्यक्तियों की है।

ग्राम संस्थाएँ अनार्यों का समावेश तब तक नही करती थीं जब तक उन पर कुछ विशेष संस्कार न हो जायँ। अनार्य दो प्रकार के होते थे—एतद्देशज अनार्य तथा बहिर्देशज अनार्य। एतद्देशज अनार्यों मे नाग, कोल, भील, गोंड, पुक्कस, कातकरी, ठाकुर[1] आदि थे और बहिर्देशज अनार्यो में शक, यवन,पारसीक, बाह्लीक, मुस्लिम आदि का समावेश था। आर्यावर्त तथा दक्षिण मे आर्यो का जिन अनार्यों से पहले सामना हुआ, वे एतद्देशज नाग आदि थे। उन अनार्यों में कितने ही नागवंशी थे, कितने ही लोकवंशीय तथा राक्षसवंशीय थे। इस देश मे आर्यो के आगमन के पूर्व नाग, कोल तथा राक्षसवंशीयो का निवास था। आर्यावर्त तथा दक्षिणारण्य और अपरान्त में, जब आर्यों ने ग्राम-स्थापना की तब प्रश्न उठा कि एतद्देशज अनार्यों को ग्राम-संस्था मे कौन-सा स्थान किस प्रकार दिया जाय। इस प्रश्न को सफलता से हल करते समय आर्यो की एक प्राचीन परम्परा अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुई। अत्यन्त पुरातन काल के आर्य विभिन्न गुण तथा कर्मवालो को भिन्न वर्णो मे विभाजित करना सीख चुके थे। इसी शिक्षा की अथवा सतत मनोप्रवृत्ति की परिणति चातुर्वर्ण्य है।

चातुर्वर्ण्य के चारो वर्णीय व्यक्ति बीज-क्षेत्रानुसार नितान्त पृथक् होने के पूर्व अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह करते थे। इससे जो सन्तान होती वह तीन या पांच या सात पीढियो के बाद मूल-पुरुष के वर्णवाली बन जाती थी।

[1] महाराष्ट्र के कोकण प्रदेश में बसनेवाली अन्य जातियाँ जो अब खेती करती हैं। —अनु०

कालान्तर मे चातुर्वर्ण्य की लोकसंस्था की वृद्धि के साथ अनुलोम तथा प्रतिलोम प्रजा की भी काफी वृद्धि हो जाने के बाद अनुलोमजों और प्रतिलोमजों मे आपस में विवाह होने लगे। इस प्रकार अनुलोमज तथा प्रतिलोमज संकरो के उप-समाज अस्तित्व मे आये। माता-पिता, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी जैसे पारिवारिक स्नेह-बन्धनों के पाश में संकर-समाज आता गया। संकर-समाज से मूल वर्ण मे अर्थात् मूल ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णो में पहुँचने की इच्छा अथवा प्रयत्न एकाध सकरज व्यक्ति करता तो स्नेह के बन्धन तोड़ नही पाता था। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण बीज तथा क्षत्रिय क्षेत्र के सम्मिलन से एक पुत्र तथा एक पुत्री जन्म पाते हैं, पुत्र सदा संकरो में बना रहता, वह पिता का वर्ण नही पा सकता। पुत्री का पाणिग्रहण कोई ब्राह्मण-वर्णीय करता और उस दम्पति के पुत्री जन्म पाती और उस पुत्री का अर्थात् तीसरी पीढ़ी की पुत्री का पाणिग्रहण किसी ब्राह्मण-द्वारा किया जाता तो उस दम्पति की सन्तान—पुत्र एवं पुत्रियां—पूर्ण ब्राह्मण-वर्ण की मानी जाती थी। इन तीन पीढ़ियों की तीन पुत्रियो का—नानी, माता तथा स्वयं पुत्री का— पहलेवाली संकर-जाति के माता-पिता से, भाई-बहनो से अथवा सगे-सम्बन्धियो से स्नेह का सम्बन्ध नष्टप्राय हो जाता था। जैसे-जैसे सकरजो की सख्या बढती गई, वैसे-वैसे वर्णोन्नति के हेतु प्रिय व्यक्तियों का यह अस्वाभाविक विछोह असह्य प्रतीत होने लगा और इसे सहकर वर्णोन्नति करने का शौक मिटते-मिटते समाप्त हो गया। वह जब समाप्त हुआ तभी संकर-जातियों की स्थिरता का आरम्भ हुआ। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति मे संकरों की वर्णोन्नति की रीति का वर्णन मिलता है जिससे अनुमान किया जाता है कि मनु एवं याज्ञवल्क्य के युग में संकरजो की वर्णोन्नति समाज मे प्रचलित थी। समाज मे रूढि न हो तो धर्मशास्त्र में आज्ञा के अर्थात् कानून के रूप मे उसका एकाएक प्रख्यापन नही होता। मनु और याज्ञवल्क्य के उपरान्त संकरजो ने वर्णोन्नति के महाप्रयास का भली भाँति अनुभव पाया, फलतः संकर-समाज धीरे-धीरे स्थिर होता चला।

संकर स्थिर होने का अर्थ है संकर-समाजबाह्य विवाहों का रुक जाना। जिस संकर-समाज मे अपने से बाह्य समाज के व्यक्तियो से विवाह होने बन्द हो जाते हैं वह समाज जाति का नाम धारण करता है। केवल बीज-क्षेत्र-व्यवहार द्वारा जिस समाज की वृद्धि उसी समाज की सहायता से होती है, किसी अन्य रीति से नहीं होती, उस समाज को जाति कहते हैं। जाति-मात्र जन्मना प्राप्त होती है, किसी अन्य प्रकार से नही होती। जिन्हें संकर-जातियाँ कहा जाता है, वे इस प्रकार अस्तित्व में आई। जाति-संस्था-द्वारा एक कार्य अनजाने हो जाता है, वह यह कि बीज-क्षेत्र की शुद्धता बराबर बनी रहती है और सगे-सम्बन्धियों का विछोह नहीं होता। संकरों की वर्णोन्नति की गुत्थी

सुलझाते-सुलझाते आर्यों को जाति-संस्था निर्माण करने की युक्ति सूझ गई। उसीका उपयोग आर्यों ने एतद्देशज अनार्य समाज को ग्राम-संस्थाओं में स्थापित करते समय किया। दक्षिणी तथा उत्तरी प्रदेशों में बसते समय जिस किसी अनार्य समाज से आर्यों की भेंट हुई उसकी आर्यों ने स्वतन्त्र जाति के रूप में गणना की। विजेता पक्ष अपने समाज की संस्थाओं को प्रायः विजित पक्ष पर लादता आया है, अपनी ओर से उन्हें स्थापित कराता आया है। इस प्रयोग में जो नया अनुभव प्राप्त होता है उसका उपयोग अपने समाज का नूतन विधान करते समय होता ही है।

संकरों की व्यवस्था करते समय जाति-संस्था की कल्पना ने जन्म पाया। अनार्यों की व्यवस्था करते समय अनार्य-समाज पर ही इसका प्रयोग नहीं किया गया, बल्कि अपनी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था पर भी किया गया। बीज-क्षेत्र शुद्धि के उपरान्त कोई संकर व्यक्ति जिस प्रकार चातुर्वर्ण्य के किसी भी मूल वर्ण में पहुँच सकता था, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य के किसी भी निम्न वर्ण का व्यक्ति, यदि वह गुण कर्मों से उत्कर्ष प्राप्त करता है, तपस्या करता है, तो ब्राह्मण-वर्ण में प्रवेश पा सकता था। जाति-संस्था के विचार के प्रभाव में आकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चारों वर्ण जातियाँ बन गये। आजकल ब्राह्मणादि चार वर्ण तो है, चार जातियाँ भी मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त बढ़ई, चमार, लुहार, सुनार इत्यादि स्थिर हुई संकर जातियाँ तो है ही और नाग, कोल, राक्षस इत्यादि एतद्देशज अनार्यों के संसर्ग से उत्पन्न अन्त्यज तथा बाह्य जातियाँ अलग से बनी है। "संसर्ग" शब्द यहाँ सोच-समझ कर प्रयुक्त किया गया है। नाग, कोल, राक्षसादि मूल अनार्यों से अन्त्यो का अर्थात् शूद्रों का सम्बन्ध स्थापित होकर जो संकर-प्रजा उत्पन्न हुई उसे अन्त्यजन्मा अथवा अन्त्यज कहा जाता है। यही अन्त्यज प्रदेशानुसार, नागशूद्र, पंचम इत्यादि कहलाते है। जाति-विवेक ग्रन्थ मे वर्णन किया गया है कि भंगी, डोम, पासी, बसोर, चाण्डाल इत्यादि अन्त्यजों की उत्पत्ति किन संकरजों से हुई है। कहना न होगा कि ये वर्णन कल्पित नही, प्रत्युत वास्तविकता का निर्देश करते है। इस प्रकार एतद्देशज अनार्यों से दो भिन्न जातियाँ निर्माण हुई—एक संकरज अन्त्यज तथा दूसरी शुद्ध मूल अनार्य।

हिन्दुओं के सम्पर्क से अन्य समाजों की जाति-रूप में परिणति

ब्राह्मणादि शुद्ध, बढई-जैसी संकर तथा भंगी जैसी अन्त्यज जातियो को ग्राम में मीरासदारी दी जाती थी। प्रत्येक जाति स्वतन्त्र मीरासदारी रखती थी। पूरे भारतवर्ष में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो किसी भी जाति के

अन्तर्गत न आता हो। तात्पर्य यह है कि हिन्दू-समाज जाति-व्यवस्था से परिचित है, स्वतन्त्र तथा खण्डित व्यक्तियों से नहीं; क्योंकि व्यक्ति को उसकी जाति के नाम-द्वारा पहचाना जाता है। इसका अर्थ यह है कि हिन्दू समाज में ग्राम से सम्बन्ध स्थापित करने तथा उसे स्थिर करने की अन्तिम शृंखला जाति है, व्यक्ति नही। कुछ इस प्रकार की स्थिति होने से बहिर्देशज अनार्य भारत मे आकर निवास करने की इच्छा करता तो उसे व्यक्ति के नाते ग्राम-सस्था मे कोई स्थान नहीं मिलता था। व्यक्ति जब जातियाँ बन जाते तभी समाज उन्हे मान्यता देता था। जाति बन जाने पर ग्राम-सस्था उसकी मीरास-दारी नियत कर देता था। इस प्रकार के बहिर्देशज समाज भारत में जातियों का रूप धारण कर प्राचीन युग में बसते थे, आज भी बसते हैं। मीड़िया देश के भेदों से उत्पन्न उत्तर-भारतीय "भेघ" जाति अत्यन्त पुरातन है। यह जाति भगियो का काम करती है। पश्चिम भारत में पारसियों की जाति बने बारह सौ वर्ष बीत चुके हैं, यह जाति वैश्यो का व्यवसाय करती है। कोकण के किनारे यहूदियों की भी जाति बनकर दो हजार वर्ष बीत चुके हैं। यह जाति प्रमुखतः तेलियो का कार्य करती है। विशुद्ध अरब तथा अंग्रेज भारत मे जाति बनकर रह पाये है। अग्रेज कहते है तो अग्रेज जन्मना होना पड़ता है, अरब कहते है कि अरब बनने को तो अरब-परिवार में जन्म लेना पडता है। अग्रेज बीज तथा अन्त्यज-क्षेत्र के सम्मिलन से यूरेजियन जाति बन गई है। धर्म-परिवर्तन कर ईसाइयों की कोई जाति नही बन पाई। अब भी यह समाज धर्मान्तरित होकर बाहर से बढता जा रहा है, किन्तु इसमें सन्देह नही कि जातिबद्ध हिन्दू समाज के सम्पर्क मे आने से धर्मान्तरित ईसाइयों की एक स्वतन्त्र जाति थोडे ही समय मे बन जायगी। यह भी निश्चित है कि हिन्दू समाज इस जाति के योग्य मीरासदारी भी देगा। अन्त्यजादि हिन्दुओं मे धर्म-परिवर्तन से जो लोग मुसलमान बन गये है उनकी कई प्रान्तों में जाति बन चुकी है, कुछ प्रान्तो में अल्प वृद्धि होने के कारण अब भी जाति नही बन पाई है। कालान्तर मे यह समाज भी स्थिरता ग्रहण कर हिन्दुओं के सम्पर्क मे आकर जाति का नाम धारण करेगा इसमे तनिक सन्देह नही। एकवर्णेच्छुक हिन्दू तमाम हिन्दुओ को एकवर्णीय बनाने की अपेक्षा करता रहता है; पर जाति-संस्था की दृढ़ता देखते हुए तथा बीज-क्षेत्र की शुद्धता के प्रति हिन्दुओ की अपरम्पार आसक्ति ध्यान मे रखते हुए कह सकते है कि आगे चलकर एकवर्णे-च्छुक हिन्दुओं की भी एक स्वतन्त्र जाति बन जायगी।

हिन्दुओं में जातिशः समावेश तथा जातिबाह्य विवाह-निषेध

अनार्य एतद्देशज हो अथवा बहिर्देशज, यदि वे भारत में स्थाई रूप से रहना

चाहते तो उन्हें जाति बनकर ही रहने की अनुमति हिन्दू-समाज देता था, अर्थात वाह्य अनार्य समाज को जाति बना कर ही हिन्दू-समाज उन्हें अपने मे समाविष्ट कर लेता था। बिना जाति बने नागरिकता अथवा ग्रामवासी के अधिकार नहीं मिलते थे—स्थानीय स्वराज्य तथा साम्राज्य के छत्र का आश्रय प्राप्त नही होता था। हिन्दू समाज में बाहर से आये हुए व्यक्तियों का राजनीतिक समावेश जातियाँ बन चुकने के बाद होता था। जातिसंस्था हो जाने के बाद ही उन्हें अपने अनुरूप मीरासदारी अथवा व्यवसाय मिलता था और वे हिन्दू समाज तथा हिन्दू देश के राष्ट्रीय राज्यछत्र द्वारा संरक्षण पाते थे। इस प्रकार अनन्त काल तक जातियाँ बनती रहीं, यहाँ के अभिजनो की हैसियत से मान्यता पाती रही और हिन्दू समाज के सामान्य धर्म का पालन करती रही और कालान्तर में हिन्दू बनती गई। उस जाति के देवता की स्थापना हिन्दुओं के तेतीस करोड देवताओं मे की जाती रही और जातियों पर पूर्ण हिन्दुत्व की मुद्रा अंकित होती गई।

राजनीतिक तथा धार्मिक समावेश तो हो जाता था, पर सामाजिक समावेश कभी न हो पाता था। इसका कारण यह है कि हिन्दू मनोरचना जातिबाह्य विवाहों के प्रति पराकोटि का तिरस्कार दिखलाती रही। यूरोपीय तथा अमरीकी समाज को नीग्रो अथवा चीनियों से वर्णबाह्य विवाह करने से जो मनोरचना परावृत करती है वही हिन्दुओं को जातिबाह्य विवाह करने की अनुमति नही देती। यूरोपीय अथवा अमरीकियों में वर्णबाह्य विवाह द्वारा उत्पन्न सकर-संतान को निग्रिटो, मुलैटो, यूरेशियन इत्यादि नाम दिये जाते है और उसे अधिकतर माता की संस्कृति तथा श्रेणी का माना जाता है। आर्यों मे जब तक वर्ण बने रहे तब तक वर्णो के आपसी विवाह से उत्पन्न सन्तान को संकर समझा जाता था और उसकी श्रेणी माता अथवा पिता की श्रेणी की अपेक्षा आनुलोम्य-प्रतिलोम्यानुसार श्रेष्ठ अथवा कनिष्ठ मानी जाती थी। विशुद्ध यूरोपीय स्त्री तथा विशुद्ध नीग्रो पुरुष की सन्तान मुलैटों से भी अत्यन्त नीच मानी जाती है। आर्यों में भी यही प्रथा थी। ब्राह्मण स्त्री तथा शूद्र पुरुष की सन्तान चाण्डाल समझी जाती थी। आगे चलकर आर्यो ने जब जाति-संस्था स्थापित की तब अनुलोम-प्रतिलोम संकरों की कोई समस्या ही न रही। उस समय कोई स्त्री अथवा पुरुष जातिबाह्य विवाह करता, सन्तति उत्पन्न करता तो उन स्त्री-पुरुषों को और उनकी सन्तान को जातिभ्रष्ट समझा जाता था, उन्हें ग्राम में कही शरण न मिलती थी। मुसलमान-जैसे विधर्मी से सम्बन्ध होने पर व्यक्ति को अपनी जाति तथा हिन्दुत्व का त्याग करना पड़ता था। समस्त जाति विधर्मियों से रोटी-बेटी व्यवहार करती तो पूरी जाति बहिष्कृत मानी जाती थी। चार-पाँच सौ

वर्ष पूर्व खानदेश[1] में बोहरा और कोंकण के गोवा प्रदेश में किरिस्तांव[2] जाति इसी प्रकार अस्तित्व मे आई। बोहरा मूलतः हिन्दू व्यापारी थे और गोवा के किरिस्तांव ब्राह्मणादि वर्ण के। यूरोपीय वर्णबाह्य तथा हिन्दू जातिबाह्य विवाह के प्रति समान तिरस्कार दिखलाते रहे हैं। ऐसी स्थिति में यूरोपीय लोग बडप्पन के भाव से हिन्दुओं को देखकर नाक-भौं सिकोडे तो इसमें कौन सी बुद्धिमानी है ?

हिन्दू आर्यो की अनार्यो को सुसस्कृत बनाने की रीति

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि यूरोपीय समाज बाह्य व्यक्तियों का समावेश व्यक्तिशः तथा हिन्दू समाज जातिशः करता है। देखना होगा कि इसमें कौनसी पद्धति स्वेतरों के लिए अधिक लाभदायक है। स्वेतरों की समस्या दोनो के सामने तभी उपस्थित हुई जब विदेशों पर विजय प्राप्त की गई। जब यूरोपीय समाज अमरीका मे उपनिवेशन (colonisation) करने लगा और आर्य समाज हिन्दुस्तान में तथा दक्षिण में ग्राम-संस्थाएँ स्थापित करने लगा तब दोनों को अपरिहार्यतः बाह्य व्यक्तियो की समस्या सुलझानी पड़ी। पहले यूरोपीयों द्वारा की गई व्यवस्था लीजिए।

ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शती मे स्पेनिश लोग अमरीका के पीरू और मेक्सिको प्रदेश मे बसने के लिए गये, प्रारम्भ मे वे भली भाँति यह न जान पाये कि इन प्रदेशो के मूल-निवासियों को किस प्रकार अपने समाज मे अन्तर्भूत किया जाय। सबसे पहले उन्होने कुछ व्यक्तियो को ईसाई बनाया; परन्तु इसका कोई उचित प्रभाव न पड़ा। तब छल-कपट, क्रूरता तथा निर्दयता के बल पर पीरू और मेक्सिको के गाँव के गाँव उजाड दिये, मूल निवासियो की हत्या की। हत्याकाण्ड का इतिहास सारा संसार जानता है। संयुक्त राज्य अमरीका मे अंग्रेज उपनिवेशवादियों ने अमरीकी इण्डियनों को किस प्रकार खत्म किया, वह भी प्रसिद्ध है। अंग्रेज उपनिवेशियों की क्रूरता, खोखले बडप्पन, मदिरापान के प्रसार, आर्थिक जकड़बन्दी, रोगबीज-प्रसार, ईसाई संस्कृति तथा भूमि-तृष्णा के सामने बेचारे इण्डियन इस प्रकार विनष्ट हो गये कि आज संयुक्त राज्य अमरीका के एक छोटे-से प्रदेश में कुछ लोग ही केवल प्रदर्शनार्थ बचे हुए है। वर्ण, संस्कृति, आचार तथा धर्म भिन्न होने से यूरोपीयो ने इण्डियनो को उखाड दिया है। उच्छेद के अतिरिक्त अन्य युक्ति मस्तिष्क में

[1] वर्तमान बम्बई राज्य के दो बड़े जिले : पूर्व तथा पश्चिम खानदेश। —अनु०

[2] ईसाई। —अनु०

उस काल में नही आई। कनिष्ठ संस्कृति के यूरोपीयेतर लोगो का समावेश यरोपीयों ने अपने समाज में इस प्रकार किया। एक-एक असंस्कृत व्यक्ति जब राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक दृष्टि से समावेश पाता है तो सुसंस्कृत समाज के व्यक्ति के समान बनने मे उसे बहुत समय लगता है। सैकडों वर्षो तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा न कर पाने के कारण यूरोपीय समाज को व्यक्ति-समावेश की प्रक्रिया अत्यन्त क्षीणगति प्रतीत हुई और उसने वन्य समाजो को समूल सुधारने अर्थात् उखाडने का उपक्रम किया।

इसके विपरीत भारतीय आर्यों की स्वेतर-समावेश की रीति देखिए। भील, कोल, गोंड, नाग, राक्षस, वानर, गरुड़ इत्यादि अनार्य समाजों से आर्यों की भेंट उत्तरी तथा दक्षिणी प्रदेश मे हुई। इनमें से राक्षस समाज सास्कृतिक दृष्टि से आर्यों के समान था, अतः राक्षसों ने आर्यो से युद्ध करके उन्हें विजय प्राप्त करने पर बाध्य किया। अन्य विद्यमान अनार्य समाज आर्य संस्कृति की तुलना मे सब प्रकार से निकृष्ट कोटि के थे। आर्यों ने निकृष्ट समाजों की जातियाँ बनाई और अपने चातुर्वर्णिक जाति-संस्था के निकट स्थापना की। आर्यों के शूद्रादि व्यक्तियों के अनार्यो के सम्बन्ध से जो अन्त्यज सकर उत्पन्न हुए उन्हें ग्राम-संस्था मे स्थान तथा कार्य मिला। आज भी भारत मे भील, कोल, गोंड इत्यादि विशुद्ध अनार्य जातियाँ तथा संकरोत्पन्न अनार्य अन्त्यज जातियाँ बसती है जिनकी जनसख्या मुसलमान सकर-संतानो के बराबर है। आज भारत मे पाया जाने वाला मुसलमान सकर-समाज अन्त्यज तथा अनार्यो के धर्मान्तर से बना है। यदि इस देश में मुसलमान न आये होते अथवा उन्होंने अन्त्यजो का धर्मान्तर न कराया होता तो अन्त्यजों की जनसंख्या आज दस-बारह करोड़ के आसपास होती। इण्डियनों के साथ जैसा क्रूरता का व्यवहार यूरोपीयों ने किया वैसा अनार्यों के साथ आर्य करते तो उनकी संख्या दस-बारह करोड़ न होती। परन्तु भारतीय आर्य दयार्द्र बुद्धि के थे, क्रूरता को वे अन्याय तथा अमानवीयता मानते थे इसलिए उन्होंने नागादि अनार्य जातियों की रक्षा की। अनार्यों की संस्कृति इतनी निकृष्ट थी कि उनमें से कुछ व्यक्तियो को आर्य समाज में लेना तक आर्यों के लिए या अनार्यों के लिए भी हितकारक नहीं था। अनेक युक्तियों से अथवा अमानवीय क्रूरता से उन्हें समूल नष्ट कर देना आर्यों का आदर्श नहीं था। जो लोग प्राणिमात्र की हत्या को भयंकर पाप मानते थे वे हजारों अयुध्यमान मनुष्यों की हत्या किस प्रकार कर सकते थे? युयुत्सुओ से युद्ध करने के लिए आर्य समाज वैदिक काल से प्रसिद्ध है। परन्तु अयुध्यमान निरपराधी व्यक्ति का वध आर्यों के हाथों होना असम्भव था। अतः आर्यों ने अपने समाज के वर्णों की और आगे चलकर निर्माण होने वाली जातियों के ढग

के व्यक्तियों की अर्थात् अनार्यों की जाति रूप टोलियाँ बनाईं और इस सदुद्देश्य से उन्हें अपने समीप रख लिया कि वे धीरे-धीरे सुसंस्कृत होकर आर्य संस्कृति का एक अंग बन जायें। अनार्यों की जाति रूप टोली बन जाने के कारण उनके समाज तथा निकृष्ट संस्कृति को प्राणहर धक्का नहीं पहुँचा। उनके वनदेवता, उनके नृत्य, धर्म-संस्कार, आमेट तथा जीविका के साधन उन्हीं के पास बने रहे, साथ ही आर्यों की रीति-नीति तथा देवता-धर्म इत्यादि का यथावकाश एवं यथाशक्ति अनुकरण करने का अवसर उन्हें मिला। भील, गोंड, कोल इत्यादि अनार्य वन्य टोलियों की पूर्व तथा वर्तमान स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन जिन समाज-शास्त्रियों ने किया है वे इस तथ्य का पोषण तथा समर्थन करेंगे।

आर्य-अनार्यों के विवाह से जो अन्त्यज संकर उत्पन्न हुए उनमें आर्य-रक्त होने के कारण वे विशुद्ध अनार्यों की अपेक्षा सरलतापूर्वक हिन्दू स्वीकार कर लिये गये। हिन्दुओं के देवता, धर्म, आचार तथा विचारों ने विशुद्ध अनार्यों की तुलना में अन्त्यजों को अधिक शीघ्र प्रभावित किया। ग्राम-संस्थाओं में अन्त्यजों को अनुरूप वृत्तियाँ प्राप्त होने का फल यह हुआ कि वे हिन्दू संस्कृति तथा समाज का अविच्छिन्न अंग बन गये। यह सही है कि हिन्दुओं के शास्त्र तथा कलाओं को सम्पूर्णतः ग्रहण कर पाने की योग्यता उनमें कई शताब्दियों तक उत्पन्न न हुई, पर विश्व में सर्वत्र यही होता आया है। गूढ शास्त्र तथा गहन कलाओं पर अधिकार पाने के लिए कठिन प्रयास करने ही पड़ते हैं। फिर भी, ग्राम-संस्था में स्थायी रूप से स्थान प्राप्त होने से अन्त्यजों की नाना प्रकार से उन्नति हुई।

(१) उनका वन्य जीवन समाप्त होकर ग्राम्य जीवन का उदय हुआ। (२) केवल आमेट के स्थान पर ग्राम में कृषि तथा अन्य व्यवसाय करने से जीविका के साधन बदल गये। (३) नग्नावस्था त्याग कर वस्त्राच्छादनावस्था प्राप्त हुई। (४) मद्यपान का अतिरेक बन्द हुआ। (५) जीवित गौ का मांस बन्द हुआ। (६) मूल निकृष्ट भाषाओं से श्रेष्ठ प्राकृत भाषाओं की सहायता से विचार प्रकट करना आरम्भ हुआ। (७) चोरी का जीवन समाप्त करके वे सभ्य बने। (८) ब्राह्मणों को पुरोहित बनाकर धार्मिक क्रियाएँ करा लेने की सुविधा प्राप्त हुई। (९) वन्य देवताओं की आराधना के स्थान पर राम-कृष्ण जैसे आर्य देवताओं की उपासना करने का अवसर मिला।

आर्य संस्कृति में इस प्रकार प्रतिष्ठा प्राप्त करते-करते अन्त्यज समाज के व्यक्ति भक्ति-सोपान की सहायता से सर्व-वर्ण-वन्द्य सन्त बन सके। जाति-संस्था के जादू से अनार्योत्पन्न अन्त्यजों की इस प्रकार उन्नति हुई।

अन्त्यजों की वन्यावस्था से लेकर प्रगति की अवस्था तक का इतिहास अत्यन्त मनोरंजक तथा आह्लादकारी है। हम नम्रतापूर्वक आशा करते हैं कि इसका अध्ययन करने पर वृथा निन्दक चातुर्वर्णिको और विशेषतः ब्राह्मणों का विद्वेष करना ईमानदारी से छोड देंगे। यह व्यर्थ निन्दा सच्चे इतिहास तथा उस पर आधारित सामाजिक सिद्धान्तो के अज्ञान के कारण की जाती है। निन्दा का सूत्रपात अनभिज्ञ किन्तु कागा-रौल मचाने मे सिद्धहस्त यूरोपीय विद्वानों ने किया जिसका अनुकरण हमारे यहाँ के सद्हेतुप्रेरित ममताशील सुधारकों ने किया। स्वदेशी तथा विदेशी विद्वानों द्वारा की जाने वाली निरर्गल निन्दा इस सीमा तक पहुँची कि भारतीय ब्राह्मण अन्त्यज समाज का जन्म-जन्मान्तर का शत्रु माना गया। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से यह आभास निर्माण करने का सतत प्रयत्न किया जा रहा है कि ब्राह्मण-क्षत्रियों ने दुष्टबुद्धि से कुछ अपने ही लोगो को चातुर्वर्णिक समाज-सोपान मे निकृष्टता के गर्त में ढकेल दिया, उनके अधिकारो पर अभूतपूर्व आक्रमण किया। भगी आदि अन्त्यज मूलतः उच्चवर्णीय है; पर ब्राह्मणों ने स्वार्थ-भावना से उन्हे नीच माना, अनामक, पचम, अन्त्यज, बाह्य जैसे निन्दापूर्ण नाम देकर उन्हें स्पर्श करना तक पाप माना। उपर्युक्त इतिहास बतलाता है कि वास्तविकता आभास के एकदम प्रतिकूल है। सत्य यह है कि अन्त्यज-संकर अनार्य स्त्रियों और आर्य शूद्रों की सन्तान है, संकरो की जाति निर्माण कर बिना प्राणहानि के उन्नति करने का मार्ग आर्यो ने अन्त्यजो के लिए खोल दिया। अगर कही अन्त्यज और अनार्य यूरोपीयों के चंगुल मे फँस जाते तो आज अमरीकी इण्डियनों की भाँति समूल नष्ट हो जाते। भारतवर्ष मे ब्राह्मणादि चातुर्वर्णिकों का जानकार वर्ण पच्चर की भाँति मध्यस्थ बनकर आया, इसी कारण अन्त्यजादि अनार्योत्पन्न समाज की सामाजिक मृत्यु टल पाई। यूरोपीय तथा अन्त्यजो के बीच ब्राह्मणादि वर्ण मध्यस्थ बन कर न आता तो अन्त्यज कई शताब्दियों पूर्व पैरों तले रौंदे जाते—यह कथन कल्पनाशक्ति की अपेक्षा नही करता। यदि हम विचार करें कि ब्राह्मणादि के पच्चर रहित यूरोपीय उपनिवेशो मे मजदूरी करने के लिए जाने वाले अन्त्यज, मुसलमान तथा अन्त्यजसम मियादी मजदूरो का यूरोपीयों के जुल्म, मार और निर्दयता के कारण किस प्रकार सफाया हो गया, तो उपर्युक्त कथन की सत्यता मे सन्देह नही किया जा सकता।

क्या हिन्दू समाज मुहरबन्द लिफाफा है ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हागा कि एतद्देशज अथवा बहिर्देशज बाह्य जनों का और अनार्यो का आर्य समाज में किस प्रकार समावेश हुआ। हिन्दू समाज मे बाह्य जनों तथा स्वेतरों का समावेश जातियों द्वारा होता है। आज

तक के प्रत्येक समाज-शास्त्री की स्थूल धारणा रही है कि हिन्दू समाज बाह्य जनों को अन्तर्भूत बिलकुल नही करता, वह उस लिफाफे की भाँति है जिसे सब ओर से मुहरबन्द कर दिया गया हो। यूरोपीय समाज में राजनीतिक तथा धार्मिक समावेश होने के बाद अगर कही सामाजिक समावेश हुआ तो वह व्यक्तिशः होता है। इस प्रकार का व्यक्तिशः अथवा वैयक्तिक समावेश हिन्दू समाज मे नही होता — अन्य किसी भाँति हो सकता है अथवा नही, इसकी जानकारी नही—फलतः हिन्दू समाज बाह्य जनो के लिए दूर की बात है, यूरोपीयो की यह धारणा ठीक ही है। हमे इतना ही कहना है कि यूरोपीय समाज-शास्त्री हिन्दू समाज की प्रकृति तथा रीति के रहस्य को नही जान पाये। जाति-संस्थाओ का निर्माण कर समाज-रचना का प्रयोग हिन्दुओं ने पाँच-दस हजार वर्ष पूर्व सफलतापूर्वक किया था। वह यूरोपीय समाज-रचना से हर प्रकार से भिन्न है, उसका परिणाम भी मूलतः भिन्न है। जाति द्वारा बाह्य व्यक्तियों को अपने मे अन्तर्भूत करने की हिन्दुओं की असामान्य पद्धति की तुलना यूरोपीय तथा मुसलमानों की पद्धति से की जाय तो उसके गुण-दोषो का सम्यक् ज्ञान होगा, अतः नीचे तुलना की जा रही है।

मुसलमानों की समावेश-पद्धति सदोष है

मुसलमान समाज चाहे जिस व्यक्ति को—जो भले ही वन्य संस्कृति का, भिन्न वर्ण का, शिक्षा अथवा शिक्षाभाव तथा आचार का हो—यदि वह इस्लाम धर्म स्वीकार करता है तो अपने में समाविष्ट कर लेता है, उसे मुसलमान बना लेता है। इसका फल यह होता है कि विभिन्न संस्कृतियों, रंगों तथा आचारो की मुसलमान समाज मे अजीब खिचड़ी पाई जाती है। बोडम सुधारक सन्तोष कर सकते है कि खिचड़ी होना समाज में समता की स्थापना करना है; परन्तु वह सन्तोष न चिरकालिक है, न उपयुक्त और न दृढ़। केवल धर्म के आधार पर जिस समाज मे श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ संस्कृति के व्यक्तियो को खान-पान, रहन-सहन विवाह-सम्बन्ध तथा आचार-विचार की दृष्टि से समान माना जाता है, जिस समाज में कनिष्ठ संस्कृति के व्यक्तियों की संख्या श्रेष्ठ संस्कृति के व्यक्तियो से बेहिसाब अधिक होती है, उस समाज के आरोग्य-दायक शौचधर्म रसातल में पहुँच जाते हैं, सांसर्गिक रोगो का प्रादुर्भाव होता है, उपदंशादि व्याधियो से ग्रस्त निम्न श्रेणी की सन्तति बिलबिलाती फिरती है, अराजकता का साम्राज्य फैल जाता है और सदाचार-सम्पन्नता तथा विद्याओं का लोप हो जाता है। एक ही वाक्य में कहें तो ऐसे समाज में उच्च संस्कृति का ध्वंस हो जाता है।

अल्जीरिया-मोरक्को से लेकर चीन तक फैले हुए मुसलमान समाज द्वारा व्याप्त नगर, ग्राम तथा गृह गन्दगी से भरे घूरे हैं, ऐसा यात्रियों ने कहा है। प्रसिद्ध है कि भारतीय नगरों में स्थित मुसलमान बस्ती हिन्दू बस्ती की अपेक्षा अधिक गन्दी होती है। कानून का भग कर दुर्बल दंगाखोरी के लिए सभी इस्लामी देश कुविख्यात् है। अनुमान किया जाता है कि संसार के समस्त देशों की अपेक्षा इस्लामी देशो मे उपदंश का रोग अधिक परिमाण मे पाया जाता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में मुसलमान समाज ने पिछले पन्द्रह-सौ वर्षों मे एक भी ऐसा उल्लेखनीय व्यक्ति नही दिया जिसने अभिनव तथा अपूर्व शास्त्रीय आविष्कार किया हो। विद्या के क्षेत्र मे मुसलमानो ने सबसे बड़ा कार्य यदि किया हो तो वह यूनान तथा के भारतवर्ष शास्त्रीय आविष्कारों एव कलाओ का सात-आठ सौ वर्षो पूर्व यूरोप मे प्रसार करना था। तात्पर्य यह कि ईमानदारी से नही कह सकते कि मुसलमानों ने विश्व के ज्ञान-भण्डार मे, आचार-धर्म में, शौच धर्म मे तथा राजधर्म-निर्माण मे अद्वितीय वृद्धि कर दिखलाई हो। चाहे जिस संस्कृति के व्यक्तियों को अपने में अन्तर्भूत कर लेने के कारण मुसलमान समाज मानव-हित का तथा स्वसमाज-हित का फल पाने मे दुर्बल सिद्ध हुआ है। आज की स्थिति मे मुसलमान समाज की वह अधोगति हुई है कि अगले हजार-बारह सौ वर्षों तक अन्य सुसंस्कृत, शास्त्र-सम्पन्न तथा शुचिर्भूत देशों की गुलामी करने के अलावा उसके पास कोई चारा नही। निम्न कोटि के बाह्य जनों का सामाजिक समावेश मुसलमान समाज ने इतने अधिक परिमाण मे किया है कि आगे चलकर वह समावेश की श्रेष्ठ पद्धतियां स्वीकार करे तो भी निम्न बाह्य जनो की पूरी उन्नति करने के लिए अगले हजार वर्ष का समय भी पर्याप्त न होगा।

यूरोपीयों की समावेश-पद्धति तथा वर्ण-शुद्धि का महत्त्व

बीज-क्षेत्र-शुद्धि, वंश-शुद्धि, वर्ण-शुद्धि अथवा समान संस्कृति के तत्वों को आंख ओझल कर चाहे जिस व्यक्ति का खुलेआम सामाजिक समावेश करने से मुसलमान समाज की प्रगति के स्थान पर अवनति ही हुई। आधुनिक यूरोपीय समाज खुले आम सामाजिक समावेश नही करता, वह वर्ण-शुद्धि की ओर असामान्य ध्यान देता है। मुसलमानी समावेश को अनियन्त्रित समावेश कहे तो यूरोपीय समावेश को प्रवरित[1] समावेश कहना यथार्थ होगा। अंग्रेज समाज फ्रेंच, जर्मन, नॉर्स, स्वीड, स्विस, इतालवी, यूनानी, रूसी, हंगेरियन इत्यादि श्वेतवर्णियो से विवाह सम्बन्ध करता है, परन्तु नीग्रो, चीनी, जापानी, तुर्की

[1] अं० selected के अर्थ में। —अनु०

आदि भिन्न वर्णियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर उन्हे अपने समाज में सामाजिक दृष्टि से समाविष्ट करने को तैयार नही होता—इसके कई कारण हैं। प्रमुख कारण समावेश किये जाने वाले समाज की असमान अथवा विषम सस्कृति है। विषम सस्कृति अर्थात् निकृष्ट अथवा भिन्न संस्कृति के लोगों का सामाजिक समावेश करने से अपने समाज के आचार-विचार, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान, कला तथा चेहरे की बनावट मे विलक्षण परिवर्तन होगा और यूरोपीय समाज को भय है कि इससे उनका समाज अस्तव्यस्त हो जायगा। यूरोप मे इस भय की उत्कटता नही देखी जा सकती, क्योंकि यूरोपीयेतर बाह्य जनो को यूरोपीय देशो मे प्रवेश करने का उतना अवसर नहीं मिलता। तमाम यूरोपीय देश स्वदेशज सजातियों से कुछ इस प्रकार भरे पड़े हैं कि वहाँ बाह्यजनो का प्रवेश पाने के लिए तांता बँध ही नही सकता। भय का उत्कट रूप देखना हो तो अमरीका में देखा जा सकता है। अमरीका मे आज भी उपनिवेश के योग्य बहुत अवसर है, फिर भी अमरीका की यूरोपीय जनता यूरोपीयेतर चीनी, जापानी अफ्रीकी, तुर्की तथा हिन्दुओं को बद्धमूल नही होने देती, सामाजिक समावेश तो दूर के ढोल है। ज्ञान-विज्ञान, कला तथा राजनीति के क्षेत्र में जापानी लोग इधर कुछ ही वर्षों से अमरीकनो के बहुत निकट पहुंच चुके हैं, पर उन्हें संयुक्त राज्यों मे बसने और यूरोपीयों से विवाह सम्बन्ध करने की अनुमति प्राप्त नहीं है—इसलिए कि वंशेकता, वर्णेकता तथा रूपेकता नहीं है। हम हिन्दू विशुद्ध आर्यत्व के ठेकेदार है, पर अमरीका या कनेडा को हमारे चार आदमियों का जाकर वहाँ बस जाना नागवार गुजरता है। यहाँ वंशेकता है, रूपेक्ता है और कई सिक्खो के बारे मे तो वर्णेकता भी है। फिर हिन्दुओं के प्रति भय क्यो है ? इसलिए कि यदि हिन्दुओं की संख्या अधिक हो जाय तो समाज की सजातीयता लुप्त होकर आचार-विचार मे, राजनीति-समाजनीति मे अनिष्ट परिवर्तन होगा और अनपेक्षित गड़बड़ी पैदा हो जायगी। यह भय असंगत नही है। सामाजिक समावेश की वैयक्तिक पद्धति के अतिरिक्त जब तक कोई अन्य पद्धति यूरोपीय समाज स्वीकार नही करता तब तक उस समाज को समान संस्कृति वाले बाह्य जनों का भय सताता रहेगा। यही नही, निकृष्ट संस्कृति वाले बाह्य जनों के भय से भी छुटकारा न मिलेगा। इस दोहरे प्रश्न में उलझे हुए यूरोपीय समाज के सामने दो ही उत्तर हैं—एक तो समान संस्कृति वाले लोगों को प्रतिबन्धित करना, और दूसरा निकृष्ट संस्कृति के लोगों को समूल नष्ट करना अथवा उन्हें गुलामी मे या गुलामी जैसी स्थिति में जकड़ देना। इसके अतिरिक्त तीसरा मार्ग अब तक यूरोपीयों तथा अमरीकियों को नही प्राप्त हुआ—यों कई शतियों तक उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि प्रवरित समावेश

से समाज ने अन्तस्थ सजातीयता प्राप्त की है और उसे अपूर्व विद्या, अपूर्व कला, अपूर्व आविष्कार, अपूर्व शौचधर्म, अपूर्व सम्पत्ति तथा अपूर्व ऐश्वर्य का लाभ हुआ है। इसी लाभ के हेतु कितने ही वन्य समाजों को विनष्ट कर यूरोपीयों ने कितने ही अर्धप्रगति वाले समाजों से दासता कराई है। वन्यता तथा निम्न संस्कृति अक्षम्य अपराध माना गया और तब उन्हें या तो उखाड़ देने या दास बनाने में यूरोपीयों को तनिक भी दुःख न हुआ। यूरोपीय समाज बाह्य जनों से व्यवहार करते समय दया, धर्म, समानता इत्यादि सद्गुणों को ताक पर धर देते हैं। तात्पर्य यह कि प्रवरित सामाजिक समावेश में समाज सजातीयता प्राप्त कर अपूर्व ऐश्वर्य का अवश्य अधिकारी बनें परन्तु समाज में दया-दाक्षिण्यादि सात्विक गुणों का अभाव छा जाता है और ईसा के सार्वलौकिक भ्रातृभाव की हत्या होती है। कभी-कभी फ्रेंच समाज-क्रान्ति जैसे आन्दोलन सात्विकता का आरोपण करते हैं। परन्तु परस्वापहरण बुद्धि के कारण सात्विकता धुल जाती है। आजकल तो यह स्थिति है कि बाह्य जनों से व्यवहार करते समय यूरोपीयों के पास रत्ती भर सात्विकता खोजकर भी न मिलेगी। वैयक्तिक तथा प्रवरित सामाजिक समावेश का यह तामसी एवं राजसी परिणाम है।

हिन्दू, मुसलमान तथा यूरोपीयों की तुलना

आइए, अब मुसलमानी तथा यूरोपीय याने ईसाई सामाजिक समावेश-पद्धति से हिन्दू समावेश-पद्धति की तुलना करें। आर्यों की नीति पुरातन काल से अखिल मानव-वंशों से उनकी अपनी योग्यतानुसार समानता का व्यवहार करने की रही है। दूसरी नीति यह रही कि यदि हम उच्च संस्कृति के वाहक बन गये हैं तो अन्य निकृष्ट समाज को अपनी सफलता से अवगत कराकर उन्हें प्रशस्त मार्ग पर ला छोड़ें। अपने निकट आने वाले किसी भी समाज के प्रति केवल इसलिए विश्वासघात न करें कि उसका वंश, रूप और वर्ण अपने से भिन्न है। न हिंसा-बुद्धि से उसकी हत्या करें, न उसे दास बनायें—यह आर्यों की तीसरी नीति है और चौथी यह कि ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने दी जाय कि निकटवर्तीय समाज के सम्पर्क से अपनी बीज-क्षेत्र-शुद्धता भ्रष्ट हो तथा अपने वंश, रूप तथा वर्ण में दोष आ जाय। इसी चतुष्पथ नीति के बल पर आर्यों ने अपने समाज, वंश तथा संस्कृति को शुद्ध रखा, अपने वर्णों की तथा संकरों की, साथ ही अनार्यों तथा अनार्य-संकरों की भी जातियाँ बनाईं। अपनी संस्कृति का पालन कर अपनी जाति में सुख-संतोष सहित जीवन व्यतीत करने तथा अपनी उन्नति यथाशक्ति तथा यथावकाश करने की परम्परा आर्यों ने प्रारम्भ की। जाति-संस्था से निम्न लाभ होते हैं :

(१) मुसलमानों की भाँति अपना धर्म स्वेतर बाह्य जनों पर बल पूर्वक लादने तथा अपने समाज को स्वय दुर्बल बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। (२) यूरोपीयों की भाँति बाह्य जनों का समूल विनाश करने अथवा उन्हें दास अथवा अर्द्धदास बनाने का पाप नही करना पड़ता। (३) बाह्य जन को अपने देवता तथा धर्म का त्याग नही करना पड़ता। (४) बाह्य जन अपने आचार-विचारों का स्वतन्त्रता से पालन कर सकते है। (५) बाह्य जनों को अपनी भाषा त्यागने की आवश्यकता नहीं होती। (६) उन्हें अपना गण-गोत्र नही छोड़ना पड़ता। (७) उनकी बीज-क्षेत्र शुद्धता यावज्जाति ज्यों की त्यों बनी रहती है। (८) बाह्य जनों के निकट रहने से आर्य अपनी विद्याओं, शौचधर्मो, शास्त्रो, कलाओ तथा संस्कृति की अप्रतिहत उन्नति कर सकते हैं। (९) समस्त जातिबद्ध समाज मे सुख, स्थिरता तथा सन्तोष का साम्राज्य रहता है। (१०) आर्यों की सम्मति से बाह्य जनों की धीरे-धीरे किन्तु अबाध एवं अनायास उन्नति होती रहती है। (११) वन्यता का कलंक हटकर बाह्य जनों की कालान्तर में हिन्दुओं में गणना होने लगती है।

उपर्युक्त तुलना के आधार पर प्रत्येक सत्यवादी विद्वान् यह स्वीकार करेगा कि जाति-संस्था के साँचे में ढालकर आर्य जिस तरीके से बाह्य जनों को अन्तर्भूत कर लेते है वह यूरोपीय अथवा मुसलमानी समावेश-पद्धति से दयादि गुणो की दृष्टि से श्रेष्ठ है। एतद्देशज तथा बहिर्देशज अहिन्दुओं की जातियाँ निर्माण करने से हिन्दू समाज का बहुत लाभ हुआ है। यह किस प्रकार हुआ इसका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

अस्तगत प्राचीन संस्कृति तथा भारतीयों की तुलना--जाति महिमा

गत आठ-दस हजार वर्षो मे असुर, बैबीलोनियन, मिस्री, शक, यवन, यूनानी, किमिर, क्रौंच आदि अनेक समाजों ने अपने साम्राज्य फैलाये, वे अस्तंगत हो गये और आज उनका नाम-मात्र शेष रहा है। ये समाज विनष्ट क्यों हुए? इसका कारण न युद्ध की पराजय है, न सांसर्गिक रोग हैं, न भाग्य का फेर— इनके विनष्ट होने का एकमेव सत्य कारण यह है कि ये सामाजिक समावेश-पद्धति स्वीकार करते थे। ये समाज चाहे जिस बाह्य समाज से विवाह-सम्बन्ध रखते थे और चाहे जिस समाज को अपने बीच व्यवहार करने देते थे। इस कारण इन समाजों की वंश-शुद्धि भ्रष्ट हो गई और उनके मूल जाज्वल्य गुण जिनके बल पर उन्होने विशाल साम्राज्यो की नीव डाली, बाह्य जनो के बेहिसाब मिश्रण से फीके पड़ गये। यह गुण-विरलता इतने बड़े परिमाण मे हुई कि बाह्य और बाह्यज संकरों की भीड़ मे मूल गुणी प्रजा इस

प्रकार सम्पूर्णतः खो गई कि नाम के अतिरिक्त उसका कोई चिह्न न रहा। प्रसिद्ध है कि आर्यावर्त के आर्य ऐसी नामशेषता के शिकार नहीं हुए। आर्यों ने कौनसी संजीवनी-शक्ति पाई थी जिसके बल पर वे आठ-दस हजार वर्षों के बाद आज भी अपना सामाजिक रूप ज्यों का त्यों जीवित रख पाये है ? यह संजीवनी-शक्ति और कुछ नहीं, आर्यों द्वारा आविष्कृत जाति-संस्था की अद्वितीय कल्पना थी।

जाति-सस्थाओं से बाह्य जनों का उचित नियमन करने से उनका बीज-क्षेत्र आर्य-समाज को स्पर्श नहीं कर पाता। और जब आर्यों की राज-संस्था प्रबल, सामर्थ्यवान एवं कर्तृत्वशील होती है तब बाह्य जनों का संसर्ग आर्य बीज-क्षेत्र को जरा भी हानि नहीं पहुँचा सकता। ऐश्वर्यपूर्ण युग में जाति-सस्था का महत्त्व स्पष्टता से दृष्टि में नहीं आता। न उस समय निर्णय किया जा सकता है कि आर्य-वंश, आर्य-सस्कृति तथा आर्य-विधाएँ राज-संस्था के बल पर जीवित रही अथवा जाति-संस्था के बल पर। उसकी उपयुक्तता की सच्ची परीक्षा तभी होती है जब राज-संस्था के विच्छिन्न होने पर ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। स्वतन्त्र राज-सस्था समूल नष्ट हो जाती है; पर जातिबद्ध आर्य-समाज ऐश्वर्य-काल सुरक्षित तथा अखण्ड बना रहता है। यह तभी अनुभव किया गया जब आर्यों का राज-यन्त्र बाह्य जनों के अधिकार में चला गया था। उस स्थिति में अन्य समाज नष्ट हो जाते हैं, नामशेष हो जाते है, पर आर्य-समाज उस स्थिति में भी जीवन से स्पन्दित होता रहता है। दो हजार वर्ष पूर्व आर्य-समाज का राज-यन्त्र शक, यवन, मेद, पारसीक आदि ने छीन लिया था; जातिबद्ध आर्य-समाज उस संकट को सही सलामत पार कर गया। सात सौ वर्ष पूर्व मुसलमानों ने राज-यन्त्र हथिया लिया, तब भी आर्य-समाज साबित रहा। इस प्रकार जाति-सस्था आठ-दस हजार वर्षों से हमारे लिए हितकारी रही है। बुद्धिभ्रंश होकर उस लाभदायक संस्था को हम साहसपूर्वक त्याग दे तो अन्य प्राचीन एवं अर्वाचीन साम्राज्यों की भाँति हमारे वंश का, सस्कृति का, आचार-विचारों का और अंत में हमारे समाज का नामशेषता की सीमा तक ध्वंस हो जायगा।

जाति-महिमा—यहूदी तथा पारसी

विदेशी बाह्य जनों से विवाह-सम्बन्ध न करने देने वाली जाति-संस्थाओं का समाज-रक्षा कार्य विश्व के अन्य जातिबद्ध समाजों के इतिहास में भी देखा जाता है। अन्य जातिबद्ध समाजों में प्रमुख हैं—यहूदी तथा पारसी। दो हजार वर्ष पूर्व रोमनों ने फिलस्तीन के यहूदियों से राजसिंहासन छीनकर

उन्हे अखिल विश्व में मुक्त संचार करने पर बाध्य किया। फिर भी बाह्य जनो से विवाहादि सम्बन्धों की अनुमति न देनेवाली जाति-संस्था का आश्रय लेने के कारण नाम मात्र को भी स्वदेश न होने पर भी, रक्षा करनेवाला स्वराज्य न होने पर भी, यहूदियों की विशुद्ध जाति आज भी देश-विदेश में यहोवा की प्रार्थना करते हुए देखी जा सकती है। पारसियों का देश नष्ट हो गया, स्वराज्य समाप्त हो गया, परन्तु हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के कारण तथा अपनी प्राकृतिक मनोरचना से प्रोत्साहित होकर उन्होंने जाति-संस्था का निर्माण किया। फलस्वरूप जरदुश्त की संस्कृति आज भी जीवित है। इन दो उदाहरणों से जाति-संस्था की सामर्थ्य प्रकट होती है।

जाति-महिमा—पर-समाज-रक्षा

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध होगा कि विपत्ति के समय जाति-संस्था स्वसमाज-रक्षा की दृष्टि से भी हितकारी सिद्ध होती है। सम्पत्तिकाल में जाति-संस्था के कार्य का विशद विवेचन पीछे किया जा चुका है। फिर भी एक तथ्य की ओर संकेत करना रह गया था। वह यह कि सम्पत्तिकाल में जाति-संस्था पर-समाज की रक्षा भी करती है। अपने सम्पत्तिकाल में आर्यों की जिन अनार्य बाह्य समाजों से भेंट हुई उन्हे, यदि आर्य दुष्ट-बुद्धि होते तो वे उसी प्रकार विनष्ट कर सकते थे जिस प्रकार यूरोपीयों ने अमरीकी इण्डियनों को किया, किन्तु वैसा अमानवीय कार्य न कर आर्यों ने अनार्यों पर जाति-संस्था का उपकारी आच्छादन डाला और उनकी संस्कृति तथा समाज की सुरक्षा में योग दिया। सारांश यह कि आपत्काल में स्वसमाज-रक्षा तथा सम्पत्ति-काल में पर-समाज-रक्षा—ये दोनों कार्य जाति-संस्था द्वारा सम्पन्न होते है।

जाति-संस्था विषयक आक्षेपों का निराकरण

जाति-संस्था आपत्तिकाल में उपकारक सिद्ध होती है, जाति-संस्था निकृष्ट समाजों को मारती नहीं, तारती है, आदि, जाति-संस्था के सुष्ट गुण स्वीकार कर चुकने पर भी उस पर आरोप किया जाता है कि जाति-संस्था के कारण समाज की गति मन्द पड़ जाती है, उसमे स्थिति-स्थापकता की क्षमता नहीं रहती, समाज की प्रगति एवं उन्नति नहीं होती, यही नहीं, हजारों वर्ष पूर्व की वही अच्छी-बुरी स्थिति आगे भी वैसी ही बनी रहती है। तीन सौ वर्षों से यूरोपीय विद्वानों द्वारा हिन्दू समाज पर किये गये इस आरोप से सब लोग भली भाँति परिचित है कि जाति-संस्था समाज के निरन्तर एक ही स्थान पर रहने में कुण्ठित होकर सड़ने लगती है। देखना होगा कि यह आरोप कितने अंशों में सत्य है। भारतवर्ष में जातियों के चार वर्ग हैं—विशुद्ध आर्य-जाति,

आर्य-संकर जाति, आर्यानार्य अन्त्यज-जाति तथा विशुद्ध अनार्य जाति। यह देखना श्रेयस्कर होगा कि इनमें से प्रत्येक वर्ग ने दो-ढाई हजार वर्षों में कहाँ तक प्रगति अथवा अवनति की है।

शुद्ध आर्य जाति के ब्राह्मणों को शास्त्राध्ययन तथा शास्त्राध्यापन का कार्य सौंपा गया था। प्रसिद्ध है कि शक सम्वत् १२००(ईसा की तेरहवी शती) तक जातिबद्ध ब्राह्मणों ने व्याकरण, न्याय, पूर्व-मीमांसा, वेदान्त, अलंकार, गणित, ज्योतिष, रसायन, धर्म, आयुर्वेदादि शास्त्रों में अपूर्व शोध कार्य किया है। *विशुद्ध आर्य जाति के क्षत्रियकुल के कम्बोजोत्पन्न कुरु ने (जिसे अंग्रेजी में* Cyrus कहा जाता है) यूरोप से लेकर पंचनद तक अपना साम्राज्य फैलाया था। इसी कुरु को असुरों के इष्टिकालेख में कम्बुजीय कहा गया है। उसके पश्चात् चालुक्य, राष्ट्रकूट, उत्तर-चालुक्य यादव, गुप्त, परमार आदि क्षत्रियकुलोत्पन्न महान पराक्रमी चक्रवर्ती सम्राट शक सम्वत् १२०० (ईसा की तेरहवी शती) तक हुए। इसी काल में कुबेरतुल्य वैश्याधिपति अखिल पृथ्वी पर व्यापार करते फिरे। शुद्ध आर्यशूद्र तीनों आर्य जातियों के विश्वासपात्र सेवक रहे। अपूर्व शास्त्रीय संशोधन, विशाल साम्राज्य-स्थापना तथा पृथ्वी भर के व्यापार का नियन्त्रण रखनेवाली शुद्ध आर्य जाति पर क्षीणगति तथा अप्रगति का आरोप करना शोभा नही देता।

शुद्ध आर्य संकर-जातियाँ उद्योग-धन्धों तथा कला-कौशल का कार्य करती थी जिसकी उत्कृष्टता तथा प्रगति का प्रमाण तेरहवीं शती तक की उपलब्ध गुफाएँ, देवालय, मूर्तियाँ, विजय-स्तम्भ, स्तूप, सन्ध्यामठ, आभूषण, बर्तन, पूजा के सामान, वस्त्र, दुर्ग, कोट, गढ़ियाँ, घाट, ताम्रपत्र, शिलालेखादि आज भी प्रत्यक्ष रूप में तथा ग्रन्थोल्लेख द्वारा प्रस्तुत करते है। जिस संकर जाति के शिल्पियों ने ऐसी आश्चर्यजनक रचनाएँ कीं उस पर गतिमन्दता का आरोप अन्ध तथा धूर्त ही कर सकते हैं, कोई अन्य नही। अनार्योत्पन्न संकर-जाति को कुछ ऐसे अशुचि कार्य सौंपे गये थे जो उनके स्वभाव तथा क्षमता के अनुकूल थे। सौंपा गया कार्य करते-करते उनकी अनार्यता धीरे-धीरे लुप्त हुई और शक-सम्वत् १२०० तक (ईसा की तेरहवी शती तक) वे हिन्दू कहलाने लगे। *वन्यता की स्थिति से प्रगति कर इस स्थिति को पाने वाले आर्यानार्य अन्त्यज* जातियों को किस आधार पर मन्दगति कहा जा सकता है?

शेष रही शुद्ध अनार्य जातियाँ जो काफी समय तक वन्यता की स्थिति में रहीं, परन्तु वे भी कृषि जैसा उच्च कोटि का कार्य करने लगी है। आर्यों का साथ पाने से अनार्य जातियाँ धीरे-धीरे प्रगति की ओर बढने लगी है। सच तो यह है कि उन्होंने जितनी भी प्रगति की है वही आश्चर्यकारक है। आस्ट्रेलिया, पेटेगोनिया, मध्य अफ्रीका प्रदेशों में स्थित यूरोपीयों के सम्पर्क में आई

हुई वन्य जातियों की तुलना मे हिन्दुओं के सम्पर्क में आई हुई अनार्य जातियाँ सचमुच अत्यन्त भाग्यशालिनी हैं। यूरोपीयों के आक्रमण से आस्ट्रेलिया, अमरीका तथा अफ्रीका की कितनी ही वन्य जातियों का चिह्न तक न रहा, कितनी ही क्षीण हो गईं और कितनी ही गुलाम बन गईं। हिन्दुस्तान के अनार्य इस प्रकार के दुर्भाग्य के शिकार नहीं बने, बल्कि हिन्दुओं की दया-भावना ने उनके लिए क्षमतानुरूप प्रगति करने की अश्रुतपूर्व सुविधाएँ प्रस्तुत की। तेरहवीं शती तक के ऐसे जाति-संस्था हिन्दू-समाज को किस मुँह से मन्द तथा मृत कहा जा सकता है?

मुसलमानों की पूर्व-पीठिका तथा भारत-विजय

हिन्दू-समाज यदि मन्द तथा मृत दीख पड़ने लगा तो शक-सम्वत् १२०० के उपरान्त। शक-सम्वत् १००० तक उत्तरी भारत का तथा शक-सम्वत् १२०० तक दक्षिणी भारत का समस्त समाज जातिबद्ध था। उसके पश्चात् अजाति शस्त्रजीवी मुसलमान संघ ने भारत में प्रवेश किया और वह यहीं बस गया। यों देखा जाय तो जाति-संस्था हिन्दू समाज के देश मे अजाति मुसलमानों का चिरकाल तक बस जाना असम्भव होना चाहिए था क्योंकि बिना जातिबद्ध बने कोई बाह्य जन हिन्दू समाज में स्थायी रूप से नहीं रह सकता था। ऐसा अलिखित नियम होते हुए भी इस्लामी आयुधजीवी संघ किस प्रकार भारतवर्ष मे स्थायी रूप से बस पाया? इस सामाजिक प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करने के पूर्व इस संघ के पूर्वीतिहास का सिंहावलोकन करना आवश्यक होगा।

पाणिनि ने अपने सूत्रों मे पर्श्वादि आयुधजीवी संघों का उल्लेख किया है, कात्यायन ने वार्तिक में शक-यवनादि का नाम लिया है। आगे चलकर शिलाओं तथा ताम्रपटों और मुद्राओं मे पल्हव, पारसीक, मेद आदि शस्त्र-जीवियों का उल्लेख पाया जाता है। भारत में नन्दवंशियों के पश्चात् पर्शु, शक, यवन, पल्ह, मेद तथा पारसीक आयुधजीवी संघों की कुछ इस भाँति भीड़ मची है कि मौर्य-वंश की समाप्ति के आस-पास उनमे से कितने ही संघों ने पश्चिमी, मध्य तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में अपने साम्राज्यों की स्थापना की। ये शस्त्रजीवी संघ पहले-पहल किराये के सैनिक बनाकर भारत मे लाये गये, परन्तु जब उन्हें अपनी सामर्थ्य का पता लगा तो देखते-देखते वे सिंहासन पर आसीन हो गये। मेरे विचार में नन्द वंश के राज्यकाल मे क्षत्रियों का नि:पात करने के लिए क्षत्रियेतर नन्द-मौर्य राजाओं ने निश्चय ही उनका उपयोग किया होगा। कारण यह कि तत्कालीन भारत मे क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई युयुत्सु जाति हिन्दू-समाज में नहीं थी। क्षत्रियों के हतबल हो जाने

के उपरान्त चन्द्रगुप्तादि पराक्रमी वृषलों के अनुशासनबद्ध राज्यकाल मे इन संघों ने विशेष गड़बड़ नही की। वृषल अर्थात् शूद्र मौर्य ज्यों-ज्यो क्षीण होते गये त्यों-त्यों संघों ने उन्हे हटाकर अपना साम्राज्य फैलाया।

इसी के लगभग दक्षिण में आन्ध्रभृत्य अर्थात् शातवाहन उदित हुए जिनसे शक-यवनादि आयुधजीवी संघ के राजा पराजित हुए। शस्त्रजीवी संघों के राज्यकाल में चातुर्वर्ण्य को बहुत धक्का पहुँचा जिसका परिमार्जन शातवाहनों ने किया। एक पराक्रमी शातवाहन राजा ने शिलालेख में सगर्व उद्धृत किया है कि मैंने चातुर्वर्ण्य की पुनर्स्थापना की। शक की दूसरी शती मे शातवाहनों का तेज फीका पड़ा और शक, हूण, पल्हव आदि आयुधजीवी संघ पुनः एक बार शक्ति संचित कर लगभग तीन सौ वर्ष इस देश में मनमानी करते रहे जिसका अन्त शक की चौथी-पाँचवी शती में उत्तर मे गुप्त सम्राटों ने और दक्षिण मे चालुक्यों ने किया और चातुर्वर्ण्य की पुनर्स्थापना की।

शातवाहन-शक की छठी शती मे मुहम्मद ने इस्लाम धर्म की स्थापना की जिसके अनुयायी बने शक, पल्हव, पारसीक, मेद, कम्बोज, बाह्लीक इत्यादि। मुगल, पठान, ईरानी, अफगान वगैरा तमाम मुसलमान इन्ही शक, पल्हव, बाह्लीक, मेद, पारसीक, कम्बोजादि शस्त्रजीवियो की सन्तान हैं। तात्पर्य यह कि मुसलमान कोई अज्ञातपूर्व समाज नही बल्कि धर्मान्तरित शक-यवनादि आयुधजीवियों का संघ है। इन संघों को चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव सम्राट अपनी सेनाओं में स्थान देते थे। यवनादि म्लेच्छ लोगों की सेनाओं, मसजिदों का उल्लेख तमाम संस्कृत ग्रन्थों तथा शिलालेखो में छठी से तेरहवी शती तक प्राप्त होता है। हिन्दू राजाओं की सेना में नौकरी करनेवाले इन आयुधजीवी मुसलमान संघों ने जब अपनी सामर्थ्य पहचानी तब उन्होंने ईर्ष्या-द्वेषग्रस्त उत्तरी भारतीय तथा दक्षिणी भारतीय क्षत्रियों से राज्य-यन्त्र छीन लिया। यह है मुसलमान संघों का स्थूल पूर्वेतिहास। इन संघों ने ग्यारहवी-बारहवी शती तक स्थायी रूप से बसना ही न चाहा। किराए के सैनिक बनना उनकी अस्थायी वृत्ति थी अर्थात् ग्राम-संस्थाओं अथवा नगर-संस्थाओं में स्थायी वृत्ति पाने की, जाति बद्ध बनकर हिन्दू-समाज का एक अंग बनकर रहने की उन्हें बहुत समय तक कोई आवश्यकता ही न रही। ये संघ सेनाओं के शिविरों में निवास करते थे और माना जाता था कि ये देश मे चिरस्थायी बनकर नहीं रहेंगे। आर्यों ने दो-चार बार अनुभव किया था कि ये अस्थायी संघ आन्तरिक गृह-कलह से लाभ उठाकर सिंहासन छीन लेते हैं फिर भी ईर्ष्या-द्वेष की लपेट में आये हुए आर्य यह तथ्य भूल जाते थे। आर्यों के मत्सरोत्पन्न स्मृतिभ्रंश के कारण ही अस्थायी मुसलमान इस देश पर अधिकार कर स्थायी रूप से बस पाए। शक सम्वत् ११०० से १६०० तक (ईसा की बारहवीं शती से लेकर सत्रहवीं शती तक

उत्तरी भारत को और शक सम्वत् १२०० से लेकर १५०० तक (ईसा की तेरहवीं शती से लेकर सोलहवी शती तक) दक्षिणी भारत को मुसलमानो के स्थायी निवास का परिणाम भुगतना पड़ा।

इस्लामी उत्पात का परिणाम

मुहम्मद का धर्म स्वीकार करने से पशर्व-सुर-शक-यवनोत्पन्न अरब, ईरानी, मुगल आदि मुसलमानो के स्वभाव में और कृतित्व मे बहुत बड़ा परिवर्तन आया। असीरिया के असुर लोगो की संस्कृति तथा स्वभाव का परिचय इष्टिकालेखो मे मिलता है। ये असुर अत्यन्त निर्दय तथा क्रूर थे। बन्दी बनाये गये शत्रु की आँखे फोड़ना, दाँत उखाड़ना, त्वचा छीलकर अलग कर देना, आदि अमानवीय कार्य उनके लिए मामूली बात थी। मुहम्मद ने जिस अरब समाज मे जन्म पाया उस समाज ने असुर-संस्कृति तथा असुर-स्वभाव पूरी तरह आत्मसात् कर लिया था। पश्चिमी एशिया के जिन समाजों ने मुहम्मद का धर्म स्वीकार किया उनमे से प्रत्येक समाज में न्यूनाधिक मात्रा में असुरो का विष फैला। ऐसे ये इस्लाम धर्म के अनुयायी जब बिना जाति बनाये भारत मे स्थायी रूप से बस गये और जब उनके हाथों में सत्ता पहुँच गई तब हिन्दुओं की विद्याएँ, कलाएँ, धर्म, शास्त्र तथा शिल्प जड़, मलिन तथा छिन्न-भिन्न हो गये। जाति-संस्थाविहीन मुसलमान समाज से सतत् लड़ते-भिड़ते रहने के कारण आर्य-समाज को अपनी उन्नति करने का अवकाश न मिला। मुसलमानी शासन-काल में हिन्दू समाज जड़, मुमूर्षु तथा कुण्ठित हो गया। जो लोग इस सम्बन्ध में विस्तार से अध्ययन करना चाहते हों उन्हें रामीरामदास[1] तथा रामदास[2] विषयक लेख देखने होगे। हिन्दू समाज की विद्यादि क्षेत्रो की मन्दता तथा जड़ता मुसलमानों के उत्पात के फलस्वरूप आई; जाति-संस्था के फलस्वरूप नहीं। मुसलमानी शासन कालान्तर्गत हिन्दू-समाज की विद्यादि-विषयक मन्दता की ओर लक्ष्य कर तथा इस्लाम-पूर्व क्षत्रिय शासन-काल के जाति-संस्था हिन्दू-समाज की विद्यादि-विषयक अपूर्व उन्नति को आँख-ओझल कर अनेक आलोचक उपकारी जाति-संस्था को हानिकारी समझते हैं, उपर्युक्त कार्य-कारण भाव से परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनका विवेचन सर्वथा भ्रामक है।

---

[1] रामीरामदास : (सन् १६०५–१६७७ ई०) रामदास के ज्येष्ठ बन्धु। मूल नाम गंगाधर परन्तु रामीरामदास के नाम से काव्य रचना करते थे। समर्थ सम्प्रदाय में 'श्रेष्ठ' कहलाते थे। ग्रन्थ : सुगमोपाय, भक्तिरहस्य। —अनु०

[2] रामदास : इसी पुस्तक का १६वाँ अध्याय देखें। —अनु०

इस्लामी शासन-काल में जाति-संस्था

अजाति मुसलमानों के भारत में बस जाने से हिन्दू जाति-संस्था की समाज-रक्षा-विषयक उपयुक्तता और भी स्पष्ट हो जाती है। विशुद्ध आर्य जाति, आर्य-संकर जाति, आर्यानार्य संकर जाति तथा अनार्य जाति, इन चारों में से केवल पहली दो जातियों ने बाह्य जनों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया, अतः वे दोनों बीज-क्षेत्र की शुद्धता की रक्षा कर पाये। अन्त्यज तथा अनार्य जाति के अनेक व्यक्ति विवाह-सम्बन्धों द्वारा अथवा धर्मान्तर कर मुसलमान बन गये। उनमें भी जो अन्त्यज तथा अनार्य-वृत्ति प्राप्त कर चुके थे, वे भ्रष्टता से बचे रहे। उनकी बीज-क्षेत्र-शुद्धता आज भी बनी हुई है। अन्त्यजों और अनार्यों में भी जो उपद्री, ऊधमी और उल्लू थे, उच्छृंखल थे, वही धर्मान्तर कर मुसलमानों में शामिल हो गये। शेष सम्पूर्ण हिन्दू समाज निकृष्ट संस्कृति, वंश तथा आचार वाले मुसलमान समाज के भ्रष्ट स्पर्श से अछूता और सुरक्षित रहा। शुद्ध आर्य जाति का वैश्य वर्ग तो जुल्मी मुसलमानों के अर्थलोभ का शिकार बनकर पूरी तरह तहस-नहस हो गया। इस सीमा तक कि शिवाजी के युग में जब दक्षिण में पुनः स्वराज्य तथा जाति-संस्था के पुनरुज्जीवन का प्रश्न उठा तब व्यापार करने के लिए गुजरात, मारवाड़ से गाँव-गाँव में गुजराती और मारवाड़ी वैश्यों को बुलाना पड़ा, या उन्हें जाने की अनुमति देनी पड़ी। ब्राह्मण, क्षत्रियों में भी कुछ व्यक्ति धन सम्पदा के लोभ में मुसलमान बने; पर उनकी संख्या नगन्य थी। धर्म, शासन, विद्या, कला, आचार इत्यादि संस्कृति की आधार-स्तम्भ ब्राह्मण-क्षत्रियादि शुद्ध आर्य जाति तथा आर्य संकर जाति बीज-क्षेत्र की दृष्टि से शुद्ध बनी रहीं, इसी कारण इस्लामी उत्पात आर्य-संस्कृति को जड़ से न उखाड़ पाया। ईरान, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में हिन्दुस्तान की भाँति जाति-संस्था उस काल में नहीं थी, इसी कारण इस्लामी उत्पात के सामने उन्हें बुरी तरह झुकना पड़ा; जैसा उनका नाश हुआ हिन्दुस्तान का नहीं हुआ। इसका श्रेय हिन्दू-समाज की जाति-संस्था को देना चाहिए। जब तक हिन्दू जाति-संस्था है तब तक बाह्य जनों के कितने ही आक्रमण हों, कैसे ही उत्पात हों, उनकी शुद्धता और संस्कृति भंग नहीं होगी, इसके विपरीत उत्पात करने वालों के समाज और संस्कृति में अवश्य परिवर्तन होगा।

मुसलमानों की दुर्बलता

पर्शु, असुर, शक, मेद, पारसीक आदि आयुधजीवी संघ आर्यों की भाँति पंचतत्त्वों के उपासक और मूर्तिपूजक थे। हिन्दुओं के जाति-संस्थ होने से उक्त संघ की अलग से वृद्धि नहीं हुई, बल्कि वे हिन्दू समाज में जातिरूप धारण-

महत्प्रयास किया जा रहा है। देखना है कि उसमे कितनी सफलता प्राप्त होती है।[१]

उपजातियाँ तथा संकर जातियाँ समाप्त करने की आवश्यकता

हिन्दू समाज की असामान्यता जाति-संस्था का निर्माण कर बाह्य जनों को अपने में समावेश करने मे है।[२] भिन्न मत, भिन्न आचार रखने तथा भिन्न प्रदेश में रहने पर भी हिन्दुओं की मनोवृत्ति मे विशेष अन्तर नही पाया जाता। बौद्ध, जैन, लिंगायत, ब्राह्म, प्रार्थना समाजी तथा आर्यसमाजियों की धार्मिक मतभेदानुसार पृथक जातियाँ बनीं और सनातनधर्मी हिन्दुओं ने उन्हें पाखण्डी कहना प्रारम्भ किया। सवाशे,[३] तिरगुल[४] इत्यादि उपजातियाँ ब्राह्मणों मे अवश्य पाई जाती हैं जो आचार-भिन्नता का फल हैं। कोंकणस्थ,[५] केरहाडा,[६] देशस्थ[७], औदिच्य, गौड़, मैथिल ब्राह्मणों की उपजातियाँ प्रदेश-भेद पर आधारित है। अन्य वर्णों तथा संकरो में भी मत, आचार तथा प्रदेशों ने अनेक उपजातियों को जन्म दिया। मत-भेद होने पर व्यर्थ में लड़ने-झगड़ने की अपेक्षा अपनी अलग उपजाति बनाकर सुख-सन्तोष सहित इष्ट भेद से लाभ उठाने की अनुमति हिन्दू समाज बराबर देता रहा है। उपजातियों मे विशेष भिन्नता न हो तो विवाह हो सकता है।

---

१ यह आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन के सन्दर्भ मे कहा गया है जो इस पुस्तक के प्रणयन काल में जोरों से चल रहा था। —अनु०

२ वीर शैव: कर्नाटक और उसके पास स्थित महाराष्ट्र के नगरों में निवास करने वाले कट्टर शिव-भक्त जो चाँदी का लिंग कण्ठ मे धारण करते हैं, वर्णाश्रम के विरोधी है। —अनु०

३ महाराष्ट्र मे ब्राह्मणों की एक उपजाति जो वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के कराड, मिरज, उम्रज आदि स्थानों मे निवास करती हैं। —अनु०

४ उपर्युक्त की भाँति एक उपजाति जो पानों का व्यापार करती है, खासकर पान के बगीचों की व्यवस्था करती है। —अनु०

५ कोंकण प्रदेश के निवासी ब्राह्मण जो चित्पावन भी कहलाते हैं। —अनु०

६ केन्हा नदी के प्रदेश के ब्राह्मण, वर्तमान कन्हाड़ नगर के इर्द-गिर्द के निवासी। —अनु०

७ कोंकण और कन्हाड़ छोडकर सह्याद्रि, बालाघाट, कर्नाटक तथा गोदावरी नदी के बीच के प्रदेश के निवासी। वस्तुतः यह विभाजन प्राचीन है; एक जमाने में इन तीनो (४, ५, ६) के बीच विवाह-सम्बन्ध नही होते थे, पर खान-पान का प्रतिबन्ध कभी नहीं रहा। वर्तमानकालीन महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों मे यह विभाजन कोई विशेष मान्यता नही रखता। — अनु०

कर कालान्तर में या तो हिन्दुओं के समान बन गये या क्षय होकर नष्ट हो गये। शकादि के वंशज मुगल-संघों के इस्लाम स्वीकार करते ही, उनमें बाह्य-जनों को तत्काल अपने में समावेश करने की सामर्थ्य आई। मुसलमानों की समावेश-पद्धति बाह्यतः समाज के लिए हानिकर दिखाई देती है परन्तु बात यह नहीं है। इसके विपरीत, यही पद्धति मुसलमान समाज के लिए मारक तथा शक्ति-क्षयकारक सिद्ध हुई। आयुधजीवी मुसलमानों की संस्कृति आर्यों की अपेक्षा मूलतः निकृष्ट थी। दूसरे, हिन्दू समाज के जो व्यक्ति धर्मान्तर कर मुसलमान बने वे निकृष्ट आर्यानार्य अन्त्यज तथा विशुद्ध अनार्य जाति के थे। इससे धर्मान्तरित व्यक्तियों के समावेश से मुसलमानों की संख्या में अवश्य वृद्धि हुई, फिर भी मुसलमानों की सामर्थ्य के साथ समाज-कार्य करने की शक्ति में इसी परिमाण में वृद्धि नहीं हुई, उलटे वे अतिशय क्षीण हो गये। धर्मान्तरित व्यक्तियों की निकृष्टता मुसलमान समाज पर बुरी तरह छा गई। इसका फल यह हुआ कि कालान्तर में मुसलमानों को शासन का कार्य जातिबद्ध ब्राह्मण-क्षत्रियों को सौंप देना पड़ा। मूल आयुधजीवी मुसलमान संघ ने हिन्दुओं की हत्या कर राज-यन्त्र पर अधिकार कर लिया था, उनकी देखा-देखी मुसलमान धर्मान्तरित व्यक्तियों ने भी इसी परम्परा को निभाया। गृह-कलह से क्षीण तथा सौम्य बनी हिन्दू जाति पर निर्दयता से आक्रमण कर मुसलमानों ने उसे पैरों तले रौंदा।

परन्तु जब हिन्दुओं का अन्तर्गत कलह मिटा और उन्होंने मुसलमानों की, शत्रु की क्रूरतापूर्वक हत्या करने की, वृत्ति को पहचाना और स्वयं उसे आचरण में लाना प्रारम्भ किया तब शिवाजी और रामदास के काल में हम पाते हैं कि हिन्दुओं ने मुसलमानों को फिर पराजित किया और उनसे राज्य-सत्ता छीन ली। गुणों की दृष्टि से देखा जाय तो मुसलमानों में एक ही बात अधिक थी—जान हथेली पर रखकर शत्रु पर टूट पड़ना। अन्य गुणों तथा कृतित्व में हिन्दू मुसलमानों से कई गुना श्रेष्ठ थे। शत्रु पर टूट पड़ने की विशेषता को हिन्दुओं ने ज्यों ही अपनाया त्यों ही निकृष्ट संस्कृति वाले मुसलमानों के हाथ-पाँव फूल गये। आज हिन्दुस्तान के मुसलमानों की संस्कृति सामान्यतः अन्त्यजों से बढ़कर नहीं है, क्योंकि मुसलमानों में अन्त्यजोत्पन्न धर्मान्तरित व्यक्तियों की संख्या बहुत है। आजकल दक्षिण में मुसलमान समाज बहुत-कुछ जाति-संस्थ बन चुका है और उसके अनेक व्यक्ति ग्राम-संस्था में काजी, मौलाना, तम्बोली, हलालखोर, मोमिन, बोहरा इत्यादि बनकर अपना पैतृक व्यवसाय करने में व्यस्त हैं। अनेक मुसलमान गणेश, विठोबा आदि के भक्त हैं, अनेक पूर्ण अद्वैतवादी, वेदान्ती बन गये हैं। अलीगढ़ जैसे स्थानों में हिन्दूमय 'बने' मुसलमानों को शुद्ध इस्लाम की ओर उन्मुख करने का

महाप्रयास किया जा रहा है। देखना है कि उसमें कितनी सफलता प्राप्त होती है।[1]

उपजातियाँ तथा संकर जातियाँ समाप्त करने की आवश्यकता

हिन्दू समाज की असामान्यता जाति-संस्था का निर्माण कर बाह्य जनों को अपने में समावेश करने में है।[1] भिन्न मत, भिन्न आचार रखने तथा भिन्न प्रदेश में रहने पर भी हिन्दुओं की मनोवृत्ति में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। बौद्ध, जैन, लिंगायत, ब्राह्म, प्रार्थना समाजी तथा आर्यसमाजियों की धार्मिक मतभेदानुसार पृथक जातियाँ बनीं और सनातनधर्मी हिन्दुओं ने उन्हें पाखण्डी कहना प्रारम्भ किया। सवाशे,[3] तिरगुल[4] इत्यादि उपजातियाँ ब्राह्मणों में अवश्य पाई जाती हैं जो आचार-भिन्नता का फल हैं। कोंकणस्थ,[5] केरहाडा,[6] देशस्थ[7], औदिच्य, गौड़, मैथिल ब्राह्मणों की उपजातियाँ प्रदेश-भेद पर आधारित हैं। अन्य वर्णों तथा संकरों में भी मत, आचार तथा प्रदेशों ने अनेक उपजातियों को जन्म दिया। मत-भेद होने पर व्यर्थ में लड़ने-झगड़ने की अपेक्षा अपनी अलग उपजाति बनाकर सुख-सन्तोष सहित इष्ट भेद से लाभ उठाने की अनुमति हिन्दू समाज बराबर देता रहा है। उपजातियों में विशेष भिन्नता न हो तो विवाह हो सकता है।

---

[1] यह आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन के सन्दर्भ में कहा गया है जो इस पुस्तक के प्रणयन काल में जोरों से चल रहा था। —अनु०

[2] वीर शैव: कर्नाटक और उसके पास स्थित महाराष्ट्र के नगरों में निवास करने वाले कट्टर शिव-भक्त जो चाँदी का लिंग कण्ठ में धारण करते हैं, वर्णाश्रम के विरोधी हैं। —अनु०

[3] महाराष्ट्र में ब्राह्मणों की एक उपजाति जो वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के कराड, मिरज, उम्ब्रज आदि स्थानों में निवास करती है। —अनु०

[4] उपर्युक्त की भाँति एक उपजाति जो पानों का व्यापार करती है, खास-कर पान के बगीचों की व्यवस्था करती है। —अनु०

[5] कोंकण प्रदेश के निवासी ब्राह्मण जो चितपावन भी कहलाते हैं। —अनु०

[6] केन्हा नदी के प्रदेश के ब्राह्मण, वर्तमान कन्हाड़ नगर के इर्द-गिर्द के निवासी। —अनु०

[7] कोंकण और कन्हाड़ छोड़कर सह्याद्रि, बालाघाट, कर्नाटक तथा गोदावरी नदी के बीच के प्रदेश के निवासी। वस्तुत: यह विभाजन प्राचीन है; एक जमाने में इन तीनों (४, ५, ६) के बीच विवाह-सम्बन्ध नहीं होते थे, पर खान-पान का प्रतिबन्ध कभी नहीं रहा। वर्तमानकालीन महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में यह विभाजन कोई विशेष मान्यता नहीं रखता। —अनु०

उदाहरणार्थ मालवाले[१] तथा गुजराती जैन वैश्य ऐसे ही हैं। भिन्नता अधिक एवं उत्कट हो तो विवाह-सम्बन्ध होना बन्द हो जाता है।

इस प्रकार सैकड़ों उपजातियाँ हिन्दू समाज में बने आज सैकड़ों वर्ष बीत चुके है। भिन्नता की उत्कट भावना भी अब मन्द हो गई है और कितनी ही उपजातियों मे भेद के कारण भी विस्मृत हो चुके हैं। ऐसी स्थिति मे उचित ही है कि उपजातियाँ धीरे-धीरे समाप्त हो जायें। ऐसे चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे है कि मत, आचार तथा प्रदेश-भिन्नता से अलग पड़ी जातियाँ एक हो जायेंगी। विशुद्ध आर्य संकर जातियों ने सैकड़ों पीढ़ियों तक बीज-क्षेत्र की शुद्धता की रक्षा की है और वे मूल पुरुष के वर्ण मे अन्तर्भूत होने के योग्य बन चुकी हैं। वे आज साक्षर हो जायें, विद्यावान बन जायें तो हिन्दू समाज उन्हें मूल वर्ण मे समावेश कर निस्सन्देह प्रसन्न होगा। विशुद्ध आर्य जाति की उपजातियाँ तथा विशुद्ध आर्य संकर जातियाँ चातुर्वर्णिकों के बीज-क्षेत्र वाली, उन्ही के रक्त-मांस से तो बनी है। मनु एवं याज्ञवल्क्य के आज्ञानुसार तीन, पाँच और सात पीढ़ियों के स्थान पर कितनी ही पीढ़ियों से वे तपस्या-रत हैं। समय आ गया है कि इन उपजातियों तथा संकर जातियों को पुनः मूल वर्ण में स्थान दिया जाय तथा उन्हें अपनी उन्नति करने दी जाय। यदि चातुर्वर्णिकों की महाधर्म-सभा की स्थापना होगी तो यह कार्य सदयतापूर्वक और अपने-आप सम्पन्न होगा। आज तक जातियाँ, उपजातियाँ तथा विशुद्ध संकर जातियाँ अपनी-अपनी जाति मे रहकर उच्चवर्णीय धर्म-पुरोहितों की अनुमति से अपनी जाति की उन्नति धीरे-धीरे कर ही रही हैं।

कायस्थादि संकर जातियों को वेदोक्त संस्काराधिकार न देने से बड़े राजनीतिक उत्पात हुए है। शूद्रो-अन्त्यजों को ब्राह्मण-क्षत्रियादि के आचार, धर्म, विद्या, इतिहास, भक्ति, वेद तथा वेदान्त से लाभ उठाने का अवसर न मिला, इसी कारण शालिवाहन शक्-सम्वत् की बारहवी शती में बहुत बड़ी सामाजिक उथल-पुथल हुई और महानुभाव,[२] लिंगायत इत्यादि पाखण्डपूर्ण

१　माला धारण करने वाले वारकरी सम्प्रदायी वैश्य जो महाराष्ट्रीय बन गए हैं। —अनु०

२　श्री चक्रधर स्वामी (निर्वाणकाल १२७२ ई० अनुमानतः) द्वारा स्थापित एक धार्मिक-आध्यात्मिक सम्प्रदाय। कट्टर वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया में महानुभाव-पंथ का उदय हुआ जो कि उसका अपना स्वतन्त्र आचार धर्म है। महाराष्ट्र मे महानुभाव पंथ को लोकप्रियता नही मिली; बल्कि हर प्रकार का विरोध सहना पड़ा जिसके प्रमुख कारण हैं—महानुभाव सन्यासियों का विचित्र आचार-व्यवहार, अस्पृश्यता-विरोधातिरेक और

पंथों का उदय हुआ। ब्राह्मण-क्षत्रियों ने शूद्र-अन्त्यजों की विशाल जनता का समर्थन खोया और मुसलमानों ने राजसत्ता छीन ली। इस विपत्काल में ज्ञानेश्वर-जैसे सन्तों ने शूद्र-अन्त्यजों के सामने संस्कृत, इतिहास, वेदान्त, भक्ति आदि की रहस्यमयी मंजूषा प्राकृत भाषा की कुंजी से खोलकर रख दी और इस प्रकार यदि जाति की उन्नति नहीं तो आत्मोन्नति करने की सुविधा अवश्य प्रदान की। भक्ति के अमृत का पान कर आत्मोन्नति करने वाले शूद्र-अन्त्यजों को चाहिए कि वे जाति की उन्नति का उपक्रम करें। अन्त्यजों की जात्युन्नति की मीमांसा, समावेश-विषयक विवेचन के समय अप्रासंगिक होगी, अतः उसका ऊहापोह विस्तारपूर्वक अन्यत्र करना इष्ट होगा। यहाँ केवल एक बात पर विचार कर रहा हूँ।

एकरूपीय हिन्दू समाज निर्माण करने वाले धर्म-शासन की आवश्यकता

आर्य समाज में सबसे पहले गुण-कर्मों पर आधारित वर्ण बने। वर्ण-भेद की रूढ़ि सार्वत्रिक होने के चिह्न दीख पड़ते ही मनु-जैसे शास्त्रकारों ने उसी रूढ़ि को विधि का रूप देकर अपने धर्म-ग्रन्थों में उसका उल्लेख किया। उसके पश्चात् अन्योन्य विवाह-सम्बन्ध न करने वाली जातियाँ उत्पन्न हुईं। जाति-विवेकादि ग्रन्थों में धर्म-शास्त्रकारों ने विधिपूर्वक उन्हें भी स्थापित किया। आज जाति-उपजातियाँ मूलवर्ण में समावेश पाने की स्पष्टतया उत्कट इच्छा कर रही हैं। इस इच्छा का विधिपूर्वक धर्म-ग्रन्थों में उल्लेख होना चाहिए अर्थात् धर्म-शास्त्रकारों को नूतन शासन-निर्माण करना चाहिए जो पिछले चार-पाँच सौ वर्षों में जड़ हो चुका है। आज उसे पुनः संस्थापित करने की अत्यन्त आवश्यकता है। धर्म-सभाएँ शिथिल पड़ चुकी हैं, उन्हें जाग्रत कर नूतन-शासन प्रारम्भ करना चाहिए। प्रारम्भ करते समय सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह ध्यान में रखनी होगी कि जाति-संस्था हिन्दुओं की मनोरचना का एक महत्त्वपूर्ण अंश है, वह उनके अस्तित्व का एक पहलू है। उसी के कारण हिन्दुओं की एक पृथक समाज के रूप में हजारों वर्षों तक रक्षा होती रही। उप-जातियाँ स्थाई हैं, वे मतभेदों की उपजें हैं, समय के परिवर्तन के साथ यदि मतभेद समाप्त हो चुके हैं तो आज उपजातियों की कोई आवश्यकता नहीं। मुख्य जातियाँ भी वर्णोन्नति की ओर उन्मुख हैं। ऐसी स्थिति में अखिल

कदाचित् संस्थापक का सामान्य लौकिक दृष्टि के विपरीत व्यवहार।
मराठी में महानुभाव या 'मानभाव' शब्द का अर्थ है पाखण्डी, धूर्त।
पंजाब में यह पंथ 'जयकृष्णिया पंथ' कहलाता है। —अनु०

हिन्दू जाति को कानूनी अधिकार देना होगा जिससे वह विधिपूर्वक वर्णोन्नति, धर्मोन्नति तथा आत्मोन्नति कर सके। एक दिन यह अधिकार समस्त हिन्दू जाति को मिलेगा और हिन्दू समाज मे एकजातीयता आयेगी, इसमे सन्देह नहीं। वैसा होने पर भी मुसलमान, यूरोपीय, चीनी, जापानी इत्यादि एक-वर्णीय बाह्य समाज से यदि हिन्दू समाज विवाह-सम्बन्ध स्थापित नही करता है तो समझ लेना चाहिए कि हिन्दू समाज इस तथ्य से भली भाँति परिचित है कि उक्त विवाह-सम्बन्ध समाज-रक्षा मे योग नही देते।

भावी एकरूपीय-एकभाषीय हिन्दू राष्ट्र

वर्ण, चेहरा तथा संस्कृति की भिन्नता वे कारण हैं जिन्हें ध्यान मे रखने के कारण यूरोपीय विवाह-सम्बन्ध नही रखते। आज अफ्रीकी, चीनी, जापानी, हिन्दू आदि बाह्य जनों के सम्बन्धों के प्रति यूरोपीय उस लिफाफे की भाँति हैं जो चारों ओर से मुहरबन्द कर दिया गया हो। एकजातीय समाज बनकर ये लोग सगर्व कहते है कि हम जातिबद्ध नही है। स्पष्ट है कि वे आज भी स्पष्टतया नहीं जानते कि हम कौन हैं और कौनसी पद्धति स्वीकार कर रहे हैं। संयुक्त राज्य (अमरीका) में एक करोड़ नीग्रो है। श्वेतों का नीग्रो जनता से खुलेआम विवाह-सम्बन्ध नही किया जाता क्योंकि उससे बीज-क्षेत्र की शुद्धता लुप्त होकर संकर-संतान का जन्म होता है, तो अमरीका मे नीग्रो और श्वेत वर्णियों की दो प्रमुख जातियाँ है और कहना न होगा कि तीसरी जाति इण्डियनो की है। अन्य संकरो की चौथी जाति तो है ही। तात्पर्य यह कि अमरीका मे भी जाति-संस्था विद्यमान है, अन्तर इतना ही है कि वहाँ के लोगो मे इतना साहस नही कि वे उन्हे जातियाँ कह सकें। समस्त मानव समान हैं, सबको समान अधिकार मिलने चाहिए आदि, स्थूल एवं अशास्त्रीय कल्पनाएँ यूरोपीयों में दृढमूल हो चुकी हैं। फलत: आचार-विचार की दृष्टि से उनमें धरती-आसमान का अन्तर होना स्वाभाविक है। यूरोप के समस्त श्वेत-वर्णीय ईसाई अन्योन्य विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते है। प्रदेश तथा भाषा-भिन्नता के कारण श्वेतवर्णीय ईसाइयों के भिन्न राष्ट्र दीख पडते हैं। भावी काल में जब ये भेद मिट जायेंगे तो समस्त यूरोपीय राष्ट्र एक संयुक्त राष्ट्र की स्थापना करेंगे। अमरीका में अंग्रेज, आयरिश, फ्रेंच जर्मन, स्विस्, इतालवी, पोलिस, ग्रीक, रूसी, हंगेरियन, डेन, स्वीडिश आदि राष्ट्रों के व्यक्ति दो-तीन पीढ़ियों मे स्वभाषा त्याग कर एकजातीय बनते जा रहे हैं। यही बात यूरोप में अनुकरण अथवा अन्य शक्तिशाली उपायों-द्वारा सिद्ध होगी। हिन्दुस्तान के बंगाली (हिन्दी भाषी—अनु०), पंजाबी, गुजराती, मराठी, कानडी, तेलगू, तामिल आदि समस्त हिन्दू राष्ट्र अमरीका की भाँति भाषा-भेद त्याग कर सैकड़ों वर्षों बाद एकजातीय बनकर रहेंगे। राष्ट्रीय एकजातीयता का

उदय होने के पूर्व हर राष्ट्र में एकभाषा-भाषी दल की उपजातियाँ तथा संकर जातियाँ लुप्त होकर वह एकजातीय बनेगा। आज हमारी दृष्टि के सामने हिन्दुस्तान के प्रत्येक भाषीय दल के बीच यही प्रक्रिया हो रही है। वह आवेश-पूर्वक परन्तु धीमी गति से हो और हम उसे प्रोत्साहित करें तो हमारा हित होगा। उपजातियों तथा संकर-जातियों का मूलजाति तथा मूलवर्ण की ओर प्रत्यावर्तन मर्यादित होना चाहिए। नहीं तो धर्म, आचार, संस्कृति, वंश तथा बीज-क्षेत्र की दृष्टि से नितान्त भिन्न किन्हीं भी निकृष्ट तथा उत्कृष्ट लोगों से विवाह-सम्बन्ध करने का मोह उत्पन्न होगा। यह मोह आज हिन्दुत्व का मारक है। पाँच-सात सौ वर्ष तक मुसलमानों से लड़कर हमने सफलता पाई उसका श्रेय हमारी जातिबद्धता को देना होगा। अब साबका पड़ा है यूरोपीयों से, और इस बार भी सुरक्षित रहकर विजयी होंगे तो उसी एकजातीय जातिबद्धता के बल पर ही। जातिबद्ध बने रहकर भी मुसलमानों का निर्दयता से टूट पड़ने का गुण हमने प्राप्त किया और मुसलमानों के जंगलीपन से हम मुक्त हुए। यूरोपीयों का प्रमुख गुण उनकी भौतिक, मानसिक एवं सामाजिक शास्त्रसम्पन्नता है। एकजातीय जातिबद्धता की रक्षा करते हुए हमें शास्त्र-सम्पन्नता को हस्तगत करना है।

निबन्ध-तात्पर्य

उपर्युक्त विवेचन के प्रमुख सूत्र स्मरणार्थ इस प्रकार है—

(१) मुसलमान बाह्य जनों को अनिर्बन्ध रीति से समावेश कर लेते है।

(२) यूरोपीय लोग वर्णादि की सहायता से प्रवरित सामाजिक समावेश करते है।

(३) यूरोपीय जन बाह्य जनों का समावेश बिलकुल नहीं होने देते। बाह्य व्यक्ति निकट आता है तो उसका समूल नाश करते है अथवा उसे पूरा अथवा आंशिक गुलाम बना कर रखते है।

(४) मुसलमान तथा यूरोपीय व्यक्तियों को समाविष्ट करते है।

(५) हिन्दू जातियों के द्वारा समाविष्ट करते हैं।

(६) हिन्दू बाह्य जनों का नाश नहीं करते, न उन्हें गुलाम बनाते है। बाह्य जनों के लाभार्थ उनकी जातियाँ बना कर उन्हें पृथक् परन्तु अपने निकट स्थापित करते है।

(७) उपजातियाँ मत, आचार तथा प्रदेश-भेद पर अवलम्बित है।

(८) जाति-संस्था प्रत्येक समाज को चिरजीवी बनाती है।

(९) विपत्काल में जाति-संस्था स्वसमाज-रक्षा तथा सम्पत्तिकाल में पर-समाज-रक्षा करती है।

(१०) बीज-क्षेत्र-शुद्धता, वंश-शुद्धता, संस्कृति, आचार-शुद्धता जाति-निर्माण के कारण हैं।

(११) उपजातियाँ, भेद लुप्त होने पर मूल जाति में मिल जाती हैं।

(१२) बीज-क्षेत्र-शुद्धता की सहायता से जातियाँ मूल उच्चवर्णों में मिल जाती है।

(१३) भविष्य में इसी परम्परानुसार हिन्दुओं की एकजातीय जाति बन जायगी।

(१४) यह एकजातीय हिन्दू जाति मुसलमानो अथवा यूरोपीयों अथवा चीनियों, जापानियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर अपना बीज-क्षेत्र, वंश, संस्कृति तथा आचार अपनी सुरक्षा के हित भ्रष्ट करने को तैयार नहीं।

(१५) प्रवरित अथवा अनिर्बन्ध समावेश की अपेक्षा जाति-द्वारा समावेश करना हर प्रकार से हितकारी है।

(१६) अंग्रेज आदि यूरोपीय लोग एकजातीय बन चुके है। बाह्य जनों से थोडा-बहुत विवाह-सम्बन्ध होने से उनकी जातिबद्धता अब भग होने की नहीं।

(१७) मुसलमान समाज न एकवंशीय है, न एकजातीय। समाम वर्णों, वंशों और संस्कृतियों का अनिर्बन्ध मिश्रण उस समाज में हो चुका है। यह समाज अब शास्त्र-सम्पन्न तथा एकजातीय समाजों के सामने मुश्किल से ही टिक पायेगा। यह समाज आगे चलकर यूरोपीयों का गुलाम बनेगा—उस गुलामी को चाहे जो नाम दिया जा सकता है।

५ | भारतीय आर्यों का वर्ण

यूरोपीयों का वर्ण

धरती पर निवास करनेवाले कुछ व्यक्तियों का वर्ण श्वेत, कुछ व्यक्तियों का पीला तो कुछ व्यक्तियों का लाल दीख पड़ता है। अंग्रेज, स्कॉच, आयरिश, स्वीडिश, जर्मन, रूसी आदि की त्वचा का रंग सामान्यतः श्वेत, सफेद या गोरा होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि इंगलैण्ड के सभी लोग एक समान गोरे होते हैं। गोरेपन में भी अन्तर होता है, अनेक प्रकार होते हैं—असंख्य प्रकार कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। एक गोरे आदमी की त्वचा का रंग दूसरे गोरे आदमी की त्वचा से थोड़ा-बहुत भिन्न होता है। परन्तु सामान्यतः कहा जाता है कि इंगलैण्ड के मूल निवासियों की त्वचा का रंग गोरा है। अनेक पुर्तगाली, फ्रेंच आदि व्यक्ति काश्मीर के साँवलेपन की ओर झुके गोरे व्यक्तियों से किंचित अधिक गोरे मिलते हैं। इतालवी, ग्रीक आदि दक्षिणी यूरोप के निवासियों का वर्ण सामान्यतः साँवला-गोरा होता है; परन्तु स्थूलतः इन्हें गोरे कहलाने वालों में गिना जाता है, और केवल इसी कारण गिना जाता है कि इन लोगों का रंग काले, पीले अथवा लाल रंग की अपेक्षा श्वेत रंग की ओर अधिक झुकता है।

पीले तथा ताम्रवर्णीय लोग

चीनी, ब्रह्मी, तिब्बती, भूटानी, जापानी आदि लोगों की त्वचा का वर्ण साधारणतः पीतिमायुक्त होता है, नीग्रो हब्शी, मिस्री लोगों का सामान्यतः काला और अमेरिकन इण्डियनों का लाल होता है। लाल वर्ण का वर्णन इस प्रकार कर सकते हैं। सौ वर्ष पूर्व हम मराठों की जिन अंग्रेजों से भेंट होती उनकी गणना हम ताम्रमुख, ताम्र के अन्तर्गत करते थे। अर्थात् अंग्रेजों का

रंग हमें लाल मालूम पड़ता था। हमारी आँखों को लाल रंग के दिखलाई पड़ने वाले अंग्रेजों को अमरीकी इण्डियन अपने से अधिक लाल दिखाई देते थे—कुछ इतने अधिक कि अंग्रेजों ने उन्हें "रेड-इण्डियन" कहना प्रारम्भ किया। सारांश, लाल वर्ण की परिधि सापेक्ष है। मराठों को अंग्रेज लाल दिखाई देते थे, श्वेत या गौर नहीं। परन्तु अँग्रेज अपने को श्वेत वर्णीय मानते हैं और अपने से अधिक ताम्रवर्णीय इण्डियनों को "रेड" या लाल कहते हैं। हम मराठों ने उन्हें किस रंग का बतलाया होता, कहा नहीं जा सकता। कदाचित् अंग्रेजों तथा रेड इण्डियनों की गणना हम लाल लोगों में या ताम्रवर्णीयों में करें। उससे भी भेद करें तो अँग्रेजों को हम श्वेत ताम्र तथा रेड इण्डियनों को पूर्ण ताम्र कहेंगे। तात्पर्य यह कि हमारी मराठी दृष्टि मानवीय त्वचा के रंगों का अलग वर्गीकरण करेगी जो स्वाभाविक भी है।

हम किस वर्ण के हैं ?

हम अपनी दृष्टि से अँग्रेजों की त्वचा का वर्णन भिन्न प्रकार से करते हैं उसी प्रकार हम अपना और अन्य भारतीयों के वर्ण का जैसा वर्णन करेंगे वैसा सम्भव है कि अँग्रेज नहीं करेंगे। स्थूल दृष्टि से देखने वाले अपरिचित अँग्रेजों को हम मराठों का रंग काला दिखाई देगा और वे वर्ण दृष्टि से हमें नीग्रो कहेंगे इसमें सन्देह नहीं। यह तो स्थूल दृष्टि हुई। मराठों में भी कई लोग इतालवी तथा ग्रीक लोगों से इतने गोरे हैं और कई नीग्रो इतने काले भी हैं—परन्तु नीग्रो की भाँति कोयले की तरह अथवा शीशम के काले पालिशदार रूल की तरह या शालिग्राम की तरह काले नहीं है—अर्थात् हमारी त्वचा का रंग न शालिग्राम की भाँति काला है और न बर्फ की भाँति शुभ्र। हमारे वर्ण में काले रंग की भी छाया है और शुभ्र की भी है, लाल रंग की है और पीले रंग की नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। तात्पर्य यह कि वर्तमान कालीन मराठे कहलाने वाले लोग न एक दम काले हैं न गोरे, न लाल हैं न पीले। इन चार रंगों में से कोई एक रंग हमारी त्वचा का नहीं है। तब किस रंग के, वर्ण के हैं ? यदि उसे सामान्यतः कोई नाम दिया जा सके तो वह क्या होगा ?

इस प्रश्न पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है। एक तो यह कि अन्य लोग महाराष्ट्रीयों की त्वचा का कौन सा रंग मानते हैं, दूसरा यह कि हम

स्वय अपने को किस रग का कहते हैं। यूरोपीय विद्वान् महाराष्ट्रीयों तथा आधुनिक भारतीय आर्यों की त्वचा को स्वभाषा मे "ब्राउन" कहते है। शास्त्रि-मण्डलोपदिष्ट मोल्स्वर्थ महोदय "ब्राउन" शब्द के इस प्रकार मराठी[१] प्रतिशब्द देते है : ऊदा, बादामी, सुँघनी जैसा[२], बूरा[३] जैसा। इन अर्थों के विषय मे टिप्पणी भी जोडी गई है। "ध्यान मे रहे कि ये शब्द 'ब्राउन' की विभिन्न छटाएँ प्रकट करते है।"[४]

सस्कृत कोश मे इसी शब्द के लिए कपिश, कपिल, पिशंग, पिंगल, श्याव आदि प्रतिशब्द दिये गए है (आपटे का कोश)। "डार्क ब्राउन" के लिए मोल्स्वर्थ घनश्यामल तथा कपिश—ये दो प्रतिशब्द देते हैं, तथा लाइट ब्राउन के लिए भूरा। तात्पर्य, अँग्रेजी "ब्राउन" के लिये मराठी और सस्कृत मे ग्यारह प्रतिशब्द उपलब्ध है : (१) ऊदा, (२) बादामी, (३) सुँघनी जैसा (४) बूरा जैसा, (५) कपिश, (६) कपिल, (७) पिशंग, (८) पिंगल, (९) श्याव, (१०) घनश्यामल, तथा (११) भूरा। इन ग्यारह रंगो मे महाराष्ट्रीय त्वचा किस रग की है ? यूरोपीय तुर्की के तमाम व्यक्ति बादामी वर्ण के होते है। अरबो का रंग ऊदा होता है। भूरे का अर्थ हम श्वेताभ किया करते है। कपिश तथा कपिल महाराष्ट्रीय बानरो का वर्ण है जो स्पप्ट है। पिंगल अथवा पिशंग रग चीनियो का कह सकते है, पर इनमे से एक भी शब्द हम महाराष्ट्रीयो के वर्ण का वर्णन नही करता। तो, हमारी त्वचा को किस रग का नाम दिया जा सकता है ?

भारत-खण्ड के निवासी सांवले है

आइए, एक अन्य प्रकार से इस पर विचार करे। यह प्रकार ऐतिहासिक तथा लौकिक भी है। वधू देखने के लिए जाइए और वहां की प्रौढ़ महि-

---

[१] यहाँ हिन्दी अनुवाद दिया गया है—अनु०।

[२] मराठी : "तपकिरी"—अनु०।

[३] कच्ची चीनी जैसा जो एक विशेष भूरे रंग की होती है—अनु०।

[४] "Note these words express different shades of brown." English-Marathi Dictionary by J. T. Molesworth.

राष्ट्रों से लड़की का रंग पूछिये। नब्बे फी-सदी उत्तर मिलेगा कि लड़की चार जनों की तरह काली-सांवली है। वधू के वर्ण के सम्बन्ध में जो उत्तर है वही वर के सम्बन्ध में भी लागू होता है। वधू यदि काली-सांवली है तो वर स्वाभाविक है कि उससे भी काला-सांवला होगा। तमाम प्राणियों में मादा के रंगों की अपेक्षा नर के रंग अधिक भड़कीले होते हैं। तात्पर्य यह कि लौकिक रीति से देखने पर भी महाराष्ट्रीय वर-वधू का वर्ण प्रायः काला-सांवला होता है। इस मार्ग पर चल कर खोज करने पर महाराष्ट्रीयों का वर्ण काला-सांवला सिद्ध होता है। देखें कि ऐतिहासिक दृष्टि से कौन सा वर्ण सिद्ध होगा।

सम्पूर्ण महाराष्ट्र में बल्कि सम्पूर्ण भारत में समस्त जनता जिन पौराणिक तथा प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषों को पूजनीय मानती है, वे हैं, राम और कृष्ण। दोनों महापुरुषों का वर्ण पुराणानुसार काला-सांवला बतलाया गया है। कृष्ण का "घनश्याम" नाम विख्यात है। "काला" शब्द कह कर स्नेहमय अपशब्दों से भक्तों ने कृष्ण की आराधना की है। "घनश्याम हा राम लावण्यरूपी"[१] चरण सर्वत्र प्रसिद्ध है। "कृष्ण काला मी गोरी, माझ्या ग आवडीचा"[२] गीत महाराष्ट्र की कन्याओं के मुख से सतत सुन लीजिये। "सांवलाराम", "कालूराम" पुरुषों के ये नाम सबको प्रिय हैं। मनुष्य अपने देवताओं के रूप की कल्पना प्रायः अपने रूप के आधार पर करता है। "अहं ईश्वरोस्मि, अहं ब्रह्मास्मि"—अद्वैत का यह सिद्धांत मनुष्य, इच्छा हो न हो, सदा उपयोग में लाया करता है। यहूदियों का यहोवा, ईसाइयों का परमेश्वर, मुसलमानों का पैगम्बर, बौद्धों का बौद्ध उस मत के अनुयायियों के शरीर का प्रतिबिम्ब है। इसी नियम के अनुसार महाराष्ट्रीयों ने और भारतीयों ने राम और कृष्ण इन दो ऐतिहासिक पुरुषों के रूप में अपने देश की सर्वसामान्य मानवशरीराकृति की प्रतिष्ठा की। महाराष्ट्र में पौरुष के सौन्दर्य की कल्पना इस प्रकार की गई है। मध्यम से किंचित ऊँचा कद, मध्यम से जरा अधिक सुगठित स्थूलता, चौकोर मांसल स्कन्ध, पुष्ट तथा विशाल वक्ष, न अधिक

---

१ घनश्याम लावण्यमय है—अनु०।

२ कृष्ण काला है, मैं गोरी हूँ, मुझे वही प्रिय है —अनु०।

ऊँची और न अधिक चोंचदार नाक, विशाल भाल और काला-सांवला वर्ण। हम अन्तिम गुण के विषय में यहाँ चर्चा कर रहे है। तो, मानसिक तथा काल्पनिक सृष्टि मे पुरुष-सौन्दर्य के सम्बन्ध मे यदि महाराष्ट्रीय कवियों तथा सामान्य जनों ने काले-सांवले वर्ण का समर्थन किया है तो मानना चाहिये कि उन्होंने अपने वर्ण का समर्थन किया है। अतः महाराष्ट्रीय लोग अपने शरीर के रग को काला-सांवला कहते है तो यह बात लौकिक तथा ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है। यूरोपीय लोग जिस रग को "ब्राउन" कहते है वह इस प्रकार की छटाओं से युक्त है जिनमे काली-सांवली छटा महाराष्ट्रीयों के वर्ण की पूर्ण निदर्शक है। ससार मे काले, लाल, श्वेत तथा पीले वर्ण के लोग है, इसी प्रकार सांवले भी हैं और वे ससार की तमाम जनसख्या के एक-पचमाश हैं। काले वर्ण के लोग अफ्रीका के, गोरे यूरोप के, पीले पूर्व एशिया के और लाल अमरीका के बचे-खुचे निवासी है। सांवले इस विशाल भारत के निवासी है।

"सांवला" (—ली) शब्द सस्कृत "श्यामल" अथवा "श्यावल" का अपभ्रंश हो सकता है,

श्यामल = सांवल (ब्लैक) अथवा श्यावल = सांवल (ब्राउन)

"काला-सांवला" यौगिक शब्द का "सांवला" श्यावल (ब्राउन) मे विकसित हुआ प्रतीत होता है। काला-सांवला का अर्थ हुआ "ब्लैक-ब्राउन"। "सांवल" का उद्गम् "श्यामल" से माना जाय तो "काला-सांवला" यौगिक शब्द का अर्थ "ब्लैक-ब्लैक" होता है जो प्रकृत सन्दर्भ से मेल नही खाता और आँखें कहती हैं कि महाराष्ट्रीयों की त्वचा का रंग "ब्लैक-ब्राउन" अथवा "ब्राउन" है "ब्लैक-ब्लैक" नही।

वर्ण-भेद का जातिपरक अर्थ

यह सिद्ध कर देने के पश्चात् कि महाराष्ट्रीय एवं भारतीयों की त्वचा का वर्ण सामान्यतः सांवला होता है, एक अन्य विशेषता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। महाराष्ट्रीयों का वर्ण जातिपरकता के आधार पर परिवर्तित होता गया है। मनु ने कहा है कि ब्राह्मण शुक्ल-भास्वर वर्ण के, क्षत्रिय ताम्र

वर्ण के, वैश्य पिंगल वर्ण के तथा शूद्र काले वर्ण के होते हैं। अन्य सकर जातियाँ सकीर्ण वर्ण की होती है। पतजलि ने व्याकरण-महाभाष्य मे एक स्थान पर प्रश्न उपस्थित किया है कि केवल दृष्टि की सहायता मे कैसे पहचाना जाय कि अमुक व्यक्ति ब्राह्मण है। इसका उत्तर देते हुए कहते है कि ब्राह्मण अपने शुक्ल भास्वर वर्ण से पहचाना जाता है। अतः स्वीकार करना होगा कि मनु-पतजलि के युग के ब्राह्मण शुक्ल भास्वर वर्ण के थे। पतजलि को हुए आज दो हजार वर्ष बीत चुके हैं। इसका आशय यह है कि दो हजार वर्ष पूर्व ब्राह्मणो का वर्ण शुक्ल-भास्वर था। 'शुक्ल-भास्वर' यौगिक शब्द के दो अर्थ होगे एक—व्हाइट-ब्रिलियण्ट और दूसरा—क्लीन ब्रिलियण्ट। शुभ्र दीप्तिमान और निर्मल दीप्तिमान। प्रतीत होता है कि मनु और पतजलि को दूसरा अर्थ अभिप्रेत रहा होगा क्योकि मनु-पतंजलि के युग मे ब्राह्मणो का वर्ण मात्र शुभ्र नही माना जाता था। यह एक उनका देवता है जो ब्राह्मण है और जिनका वर्ण श्याम है। अग्नि ब्राह्मण है और उनका वर्ण ताम्र है। अर्थात् ब्राह्मण श्याम एवं ताम्र, दोनों वर्णों के थे, कम से कम पतंजलि के काल में और कदाचित् उनके पूर्व भी थे, यह स्पष्ट है। इस स्थिति मे कहना होगा कि पतंजलि शुक्ल-भास्वर का अर्थ निर्मल दीप्तिमान ग्रहण करते होगे। ईसा-पूर्व ४१५ का टेसिग्रम नामक यूनानी वैद्य कहता है कि हिन्दू श्यामवर्णीय होते है। जब मनु कहते हैं कि ब्राह्मण का वर्ण शुक्ल-भास्वर है तो वे यही कहना चाहते हैं कि ब्राह्मण मूलत. श्याम वर्णीय हैं, परन्तु निर्मल दीप्तिमान अर्थात् शुचिर्भूत एव दीप्तिमान हैं। जब मनु कहते हैं कि क्षत्रिय ताम्रवर्णीय है तो वे यही कहना चाहते है कि क्षत्रिय मूलतः ताम्रवर्णीय हैं परन्तु व्यावसायिक साहस एवं श्रम ने उसे ताम्रवर्णीय बना दिया है। इसी प्रकार वैश्य मूलतः श्याम वर्ण के हैं परन्तु उनके बैठे-ठाले के निरुपद्रवी व्यवसाय ने उन्हे पीताभ छटा से आलोकित कर दिया है। विचार करने पर. मनु एवं पतंजलि के कथन का यही आशय समझ मे आता है। तात्पर्य, भारतीय आर्यों का मूल वर्ण श्यामल अथवा श्यावल है, हिम की भाँति धवल वह कभी न था। बिलकुल कश्मीरी हिन्दू लें अथवा काफिरिस्तान का हिन्दू लें, उसकी त्वचा हिम-धवल नही पाई जाती, वह श्यामल होती है और उस पर शुभ्रता की आभा पाई जाती है। मनु, भृगु एवं पतजलि

मध्यदेशीय व्यक्ति हैं कश्मीर अथवा काफिरिस्तान के नही। अतः कहना न होगा कि उन्होंने जिन आर्यों को देखा वे प्रायः श्यावल वर्ण के रहे होंगे। हम भले ही मान लें कि वे कश्मीर अथवा काफिरिस्तान के ब्राह्मणों का भी उल्लेख करते है फिर भी यह नही सिद्ध होता कि कश्मीर अथवा काफिरिस्तान के आर्य पुरातन काल मे हिम-धवल थे। पुरातन काल में वे यदि वैसे होते तो आज कश्मीर-काफिरिस्तान के उन्ही के वशज भी हिम-धवल होते, आज जैसे श्यामवर्णीय न होते।

तो सिद्धान्त प्रस्थापित होता है कि भारतीय आर्यों का मूल वर्ण श्यामल अथवा *श्यावल है, हिम-धवल न कभी रहा और न आज कहीं है।* श्यामल आर्यों का वर्ण श्वेत, ताम्र, पीत अथवा श्यामवर्णीयों के वर्ग से नितान्त भिन्न है। भारतीय आर्यों के वशजों को सांवला वंश के कहना सर्वथा शास्त्रीय कथन है, यह भी मान्य करना होगा कि अन्य वर्णीय मानवों की तुलना मे गुणों की दृष्टि से यह वश एकदम भिन्न है।

६ | हमारे पुराण तथा असीरिया की नयी खोजें

मन्द अथवा मदग कौन ?

महाभारत के भीष्मपर्व के ग्यारहवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोक हैं :

तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः ।।३५।।
मगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा ।
मगा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप ।।३६।।
मशकेषु च राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः ।
मानमाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ।।३७।।
शूद्रास्तु मन्दगा नित्य पुरुपा धर्मशीलिनः ।।३८।।
एतदेव च श्रोतव्य शाकद्वीपे महौजसि ।।४०।।[१]

उपर्युक्त श्लोकों मे बतलाया गया है कि शाकद्वीप में मग उर्फ मग, मशक, मानस तथा मन्दग, ये चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के समान हैं। विष्णुपुराण तथा भविष्यपुराण मे भी मग तथा मन्दग नाम आये हैं। ये लोग शाकद्वीप के चातुर्वर्ण्य मे क्रमश ब्राह्मण तथा शूद्र माने जाते हैं। देखना यह है कि इनका उल्लेख यूनानी अर्थात् असुर लोगों के इतिहास में कहीं उपलब्ध होता है अथवा नहीं। यूनानी यवन हैं और असुर वे हैं जिन्हें अर्वाचीन यूरोपीय "असीरियन" कहते है। प्राचीन यवन उन्हे "असूरियन" कहते थे और ये स्वयं अपने को "अंशूर" कहा करते थे। आज यूरोपीय जो असीरियन उच्चारण करते है वह अपभ्रष्ट है। "ई" के स्थान पर 'ऊ" होना चाहिए।[२] "असीरियन"

---

[१] वहाँ मंग, मशक, मानस तथा मन्दग नामक चार लोक-प्रसिद्ध पवित्र जनपद है। मंग देश में ब्राह्मणों की संख्या अधिक है और वे सब स्वकर्मनिरत है। मशक में क्षत्रिय हैं जो धार्मिक, उदार तथा सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाले है। मानस की अधिकाश प्रजा वैश्य-वृत्ति धारण करती है। मन्दग में शूद्र विपुल हैं, वे सब धर्मशील हैं। जितना श्रवण करने योग्य है उतना बतलाया है।—अनु०।

[२] मूल वाक्य का अनुवाद है : "Y के बदले U अक्षर होना चाहिए"। —अनु०।

उच्चारण नही है, वास्तविक उच्चारण "असूरियन" है। कह चुके है कि ये लोग अपने को "असूर" कहते थे। प्राचीन भारतीय आर्य इन्हें "असुर" और उनके देश को "असूर्या" अथवा "असूर्य" कहते थे—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता: ।

प्राचीन भारतीय आर्य "श" के स्थान पर "स" उच्चारण करते थे। इन असूरो अथवा असुरो के इतिहास मे मन्दो तथा मन्दगो का अनेक बार उल्लेख मिलता है। 'हिस्टोरियन्स हिस्टरी ऑफ दि वर्ल्ड' नामक अँग्रेजी ग्रन्थमाला के दूसरे खण्ड मे (पृष्ठ ५५९ देखिए) मन्द लोगो की बहुत-कुछ जानकारी दी गई है जिसका अध्ययन साक्षेपी तथा सशोधक पाठकों को अवश्य करना चाहिए।

उक्त पृष्ठ के मजमून में कहा गया है कि Scythians ही Manda है। आज के यूरोपीयो ने Scythians शब्द को उच्चारण तथा लेखन की दृष्टि से अत्यन्त भ्रष्ट कर दिया है। ग्रीक भाषा मे यह शब्द "स्कथिअन" (Skythian) उच्चारित किया जाता है और लिखा जाता है। होना भी यही चाहिए। शक स्थानीय सकस्थानीय, स्कथिअन, इस प्रकार यह शब्द ग्रीक भाषा मे विकसित हुआ जान पडता है। जिन्हे प्राचीन ग्रीक लोग स्कथिअन कहते थे उन्ही को प्राचीन भारतीय आर्य शक, शकस्थानक, शकस्थानीय कहते थे। प्राचीन पारसिक इन्ही शको को "सकै" (Sakai) कहते थे। शाक, शकीय, सकै, सअइ, से, असाहि आदि अपभ्रंश उक्त शब्द का मिलता है। स्कथिअन, शक, सकै, से आदि नाम एक ही जाति के लोगों के अर्थात् शको के है। जानकार लोग इस बात पर सहमत हैं कि स्कथिअन ही शक हैं। इसे प्रमाण देकर सिद्ध करने की आवश्यकता नही है। इन शक उर्फ स्कथिअन लोगो को उपर्युक्त अँग्रेजी ग्रन्थ मे "मन्द" कहा गया हैं। ये मन्द कौन है ?

हेरोडोटस तथा टेसियस नामक दोनों ग्रीक इतिहासकारों को मन्द लोगों का कोई ज्ञान नही था, यही नही, यह नाम तक उन्होने नही सुना था। हेरोडोटस तथा टेसियस प्राचीन मीडस (Medes) नामक जाति के अन्तर्गत मन्दो का इतिहास देते है। उक्त इतिहासकारों की यह भूल आज पच्चीस सौ वर्षो तक अर्थात् ईसा की उन्नीसवी शती के अन्त तक भूल नहीं मानी गई। इधर दस-पन्द्रह वर्षो मे असूरों उर्फ असूरों के इष्टिकालेख याने तपी हुई ईंटो पर खुदे लेख प्राप्त होने पर, यह भूल सुधारी गई। हेरोडोटस जिन्हे मीडस कहता है उनका असली नाम मन्द नही था, यह तथ्य अब समझ में आया है। असली मीडस को असुर मद (Mada) कहते थे। इन्हीं मीडस को भारतीय आर्य मेद कहते थे। साराश, असली मीडस अर्थात् मद उर्फ मेदों से मन्द उर्फ शक

(स्कथिअन) भिन्न थे, यह बात यूरोपीयों के ध्यान में भी दस-पन्द्रह वर्ष हुए, आई है। "हिस्टोरियन्स-हिस्टरी ऑफ दि वर्ल्ड" के द्वितीय खण्ड के पृष्ठ क्रमाक ५८३ तथा ५८५ पर मन्द लोगो के पराक्रम की बहुत-सी जानकारी दी गई है।

अधोल्लिखित जानकारी से सिद्ध होता है कि (१) मेदो से मन्द भिन्न थे तथा (२) मन्द ही शक थे। मन्द नामक शको ने ईसा के ७०० वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के लगभग ५५० वर्ष पूर्व तक राज्य किया। उसके पश्चात् एलाम प्रदेश के टेस्म ने अपना साम्राज्य फैलाकर असुरों को समाप्त किया।

प्रश्न यह है असुरो के इष्टिकालेखो मे उल्लिखित शाक वंशीय मन्द कौन थे। इस प्रश्न का उत्तर लेख के प्रारम्भ मे महाभारत के भीष्म पर्व मे उद्धृत श्लोको से मिलता है। भीष्म कहते हैं कि शाकद्वीप मे जो शक बसते है उनमे मग (ब्राह्मण), मशक (क्षत्रिय), मानस (वैश्य) तथा मन्दग (शूद्र) आदि चार वर्णो के लोग हैं। शाकद्वीप के शूद्र जो मन्दग बतलाये गये हैं वही असुरों के शिलालेखो मे उद्धृत शाक-मन्द है। असुर इन्ही को मन्द कहते थे और भीष्म-कालीन भारतीय आर्य मन्दग। भारतीय आर्यो को ज्ञात नाम मे "ग" अक्षर अधिक है। तब समस्या यह है कि इन शाक लोगो का असली नाम क्या है। मन्द अथवा मन्दग ? असुरों के शिलालेखों में अथवा भारतीय आर्यों के पुराणे-तिहास मे उक्त प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करने वाली सामग्री हो तो मैं उसे नही जानता। निस्सन्देह इतना अवश्य कहूँगा कि असुरों के शिलालेख मे जिन शाको को मन्द तथा भारतीय आर्यो के महाभारत विष्णुपुराण तथा भविष्यपुराण मे जिन शाक-शूद्रो को मन्दग बतलाया गया है, वे भिन्न नही हैं।

असुरो के इष्टिकालेखो मे और हेरोडोटस तथा टेसियस के इतिहासों मे जो वर्णन एवं उल्लेख आये हैं उनसे प्रतीत होता है कि भीष्म-कालीन भारतीय आर्य मन्द लोगों को शाक-शूद्र समझते थे, असुर तथा ग्रीको की यह धारणा नही थी। वे उन्हे केवल शाक समझते थे। इसका अर्थ यह कि भीष्म के काल तक विद्यमान रहने वाला इनका चातुर्वर्ण्य एसरहेडन नामक असुर राजा के काल तक आते-आते टूट चुका था— अर्थात् ईसा के ७०० वर्ष पूर्व के लगभग एक शाकवशीय कुल बन चुका था। शक लोगो ने चातुर्वर्ण्य का कब तिरस्कार किया इसका इतिहास भारतीय आर्यो के पुराणों में मिलता है। विष्णु पुराण के चतुर्थांश के तीसरे अध्याय के अन्त में बतलाया गया है कि शक लोग सूर्यवंशीय राजा सगर के समय चातुर्वर्ण्य-भ्रष्ट हुए। मनुस्मति के दसवें अध्याय के

(स्कथिअन) भिन्न थे, यह बात यूरोपीयो के ध्यान में भी दस-पन्द्रह वर्ष हुए, आई है। "हिस्टोरियन्स-हिस्टरी ऑफ दि वर्ल्ड" के द्वितीय खण्ड के पृष्ठ क्रमाक ५८३ तथा ५८५ पर मन्द लोगों के पराक्रम की बहुत-सी जानकारी दी गई है।

अन्योल्लिखित जानकारी से सिद्ध होता है कि (१) मेदों से मन्द भिन्न थे तथा (२) मन्द ही शक थे। मन्द नामक शको ने ईसा के ७०० वर्ष पूर्व से [illegible] ईसा के लगभग ५५० वर्ष पूर्व तक राज्य किया। उसके पश्चात् एलाम [illegible] के [illegible] ने अपना साम्राज्य फैलाकर असुरों को समाप्त किया।

प्रश्न यह है असुरो के इष्टिकालेखो मे उल्लिखित शाक वंशीय मन्द कौन [illegible] इस प्रश्न का उत्तर लेख के प्रारम्भ मे महाभारत के भीष्म पर्व मे उद्धृत श्लोकों म मिलता है। भीष्म कहते हैं कि शाकद्वीप मे जो शक बसते हैं उनमे मग (ब्राह्मण), मशक (क्षत्रिय), मानस (वैश्य) तथा मन्दग (शूद्र) आदि चार वर्णों के लोग है। शाकद्वीप के शूद्र जो मन्दग बतलाये गये हैं वही असुरों के शिलालेखो मे उद्धृत शाक-मन्द है। असुर इन्ही को मन्द कहते थे और भीष्म-कालीन भारतीय आर्य मन्दग। भारतीय आर्यों को ज्ञात नाम में "ग" अक्षर अधिक है। तब समस्या यह है कि इन शाक लोगों का असली नाम क्या है। मन्द अथवा मन्दग ? असुरो के शिलालेखों में अथवा भारतीय आर्यों के पुराणेतिहास मे उक्त प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करने वाली सामग्री हो तो मैं उसे नहीं जानता। निस्सन्देह इतना अवश्य कहूँगा कि असुरों के शिलालेख मे जिन शाको को मन्द तथा भारतीय आर्यो के महाभारत विष्णुपुराण तथा भविष्यपुराण में जिन शाक-शूद्रों को मन्दग बतलाया गया है, वे भिन्न नहीं हैं।

असुरो के इष्टिकालेखों में और हेरोडोटस तथा टेसियस के इतिहासो मे जो वर्णन एवं उल्लेख आये है उनसे प्रतीत होता है कि भीष्म-कालीन भारतीय आर्य मन्द लोगो को शाक-शूद्र समझते थे, असुर तथा ग्रीको की यह धारणा नही थी। वे उन्हे केवल शाक समझते थे। इसका अर्थ यह कि भीष्म के काल तक विद्यमान रहने वाला इनका चातुर्वर्ण्य एसरहेडन नामक असुर राजा के काल तक आते-आते टूट चुका था—अर्थात् ईसा के ७०० वर्ष पूर्व के लगभग एक शाकवशीय कुल बन चुका था। शक लोगो ने चातुर्वर्ण्य का कब तिरस्कार किया इसका इतिहास भारतीय आर्यो के पुराणों मे मिलता है। विष्णु पुराण के चतुर्थांश के तीसरे अध्याय के अन्त में बतलाया गया है कि शक लोग सूर्यवंशीय राजा सगर के समय चातुर्वर्ण्य-भ्रष्ट हुए। मनुस्मति के दसवें अध्याय के

के [illegible] वर्ष पूर्व की समाज-स्थिति से सम्बन्ध रखता है। भीष्म के मुख से [illegible] वाला वर्णन उन्होंने पुरातन इतिहास के रूप में किया है जो [illegible] क्योंकि विष्णुपुराण के चतुर्थांश के तीसरे अध्याय के अन्त में [illegible] कि भीष्म के पूर्व राजा सगर के समय मे शकों का चातुर्वर्ण्य भ्रष्ट [illegible] गया था। महाभारतकार, विष्णुपुराणकार तथा भविष्यपुराणकारों ने [illegible] वर्णन कि शक लोग चातुर्वर्ण्यबद्ध थे, वे राजा सगर के काल में [illegible]भ्रष्ट हुए, श्रीकृष्णसुत साम्ब ने शाकद्वीप से भारत में मग ब्राह्मणों [illegible] बुलाया आदि, हम लोगो को धोखे मे डालने के लिए कल्पनाप्रचुर उप-[illegible] की भांति नही किया है। जब तक असुरों के इष्टिकालेख उपलब्ध नहीं हो पाये थे और हम नही जानते थे कि उनमे मन्दो का उल्लेख है, तब तक उपर्युक्त उल्लेखो को उपन्यासात्मक तथा काल्पनिक मानने की प्रवृत्ति थी। परन्तु अब ऐसा करने से लाभ न होगा। शक और मन्दो के विषय में हमारे पुराण और महाभारत जो कुछ कहते है उसका इतिहास-दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

हेरोडोटस ने यह भी लिखा है कि शक याने स्कथियन घुमक्कड तथा अर्ध-वन्य लोग थे, यह कथन भी विचारणीय है। महाभारत, विष्णुपुराण तथा भविष्यपुराणानुसार शक चातुर्वर्ण्यबद्ध, धर्मशील, पुण्यात्मा एवं महीयस थे। इसे भी भूलना नही चाहिए। मेरा अनुमान है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व शक लोग आर्यो की भाँति प्रगत तथा सुसस्कृत थे। उनकी समाज-व्यवस्था चातुर्वर्ण्य थी, जब उन्होंने उस व्यवस्था को त्यागा तब वे अर्ध-वन्य स्थिति को प्राप्त हो गये और उसी समय असुरो एव हेरोडोटस ने उन्हे देखा। अर्ध-वन्यावस्था मे उनकी एक ही जाति बनी रही और वह शूद्र थी। धर्मलोप होने के कारण वे ब्राह्मण आदर्शानुसार वृषल बन गये—मनुसंहिता इसकी साक्षिणी है। साराश, यह कहना युक्तिसिद्ध होगा कि हेरोडोटस ने शको की घुमन्तू अवस्था का जो वर्णन किया है उससे महाभारत, विष्णुपुराण तथा भविष्यपुराण में उपलब्ध शको की चातुर्वर्ण्यात्मक संस्कृति का वर्णन अधिक प्राचीन है।

काइरस-व्यक्ति तथा जाति

प्रारम्भ में ही कह दूँ कि Cyrus भी एक अपभ्रष्ट नाम है। आधुनिक अंग्रेज उसे "सायरस" कहते हैं, जो ठीक नही है। वास्तविक उच्चारण Kurus : कुरुस होना चाहिए। यहाँ भी "इ" के स्थान पर "उ" चाहिए। यह कुरुस् उर्फ कुरु, केम्बिसस का पुत्र था। "Cambyses अर्थात् Kambu-

में कहाँ मिलता है अथवा नहीं। विष्णुपुराण के द्वितीयांश के दूसरे अध्याय के निम्नांकित श्लोकों में जम्बुद्वीप के भाग अथवा वर्ष इस प्रकार बतलाये गए हैं —

जम्बुप्लक्षाह्वयौ द्वीपौ शाल्मलिश्चापरो द्विज।
कुश क्रौंचस्तथा शाक पुष्करश्चैव सप्तम ॥५॥
जम्बुद्वीप समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः।
तस्यापि मेरुर्मैत्रेय मध्ये कनकपर्वतः ॥७॥
भारत प्रथम वर्ष ततः किंपुरुषं स्मृत।
हरिवर्ष तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज ॥१२॥
रम्यक चोत्तर वर्ष तथैव तु हिरण्मय।
उत्तरा कुरवश्चैव यथा वै भारत तथा ॥१३॥
इलावृत च तन्मध्ये सौवर्णो मेरुरुच्छ्रित ॥१४॥[1]

यहाँ केवल सात वर्णों का उल्लेख किया गया है, परन्तु जम्बुद्वीप में कुल नौ हैं जिनमें एक इलावृत्त है। "इलावृत्त" के अन्तिम "त्त" का प्राकृत में "प्प" होकर "इलाइप्प" अपभ्रंश होना सम्भव है। "इलाइप्प" से बना "एल्लिपि" शब्द असुरों के इष्टिकालेख में आता है। तात्पर्य यह कि असुर जिसे एल्लिपि कहा करते थे उसी को पुराण इलावृत अथवा इलावृत्त कहते हैं। यह इलावृत्त वर्ष (भाग) मेरु पर्वत के पश्चिम में तथा असीरिया और बेबीलोन के पूर्व में था। इलावृत्त के उत्तर में कैस्पियन सागर और दक्षिण में अपर समुद्र हैं।

मेद इसी इलावृत्त वर्ष के अर्थात् एल्लिपि के निवासी थे। मेदों का वह सर्वप्रथम राजा जिससे यूनानियों का परिचय हुआ, डियोसेस था। यह शब्द संस्कृत के "दिवौकस" जैसा प्रतीत होता है। डियोसेस अथवा दिवौकस के बाद फ्रओर्तेस अथवा फ्रवर्ती राजा बना। फ्रवर्ती संस्कृत के "अभ्रवर्ती" के निकट है। अभ्रवर्ती के बाद कायक्जरस आया। मेद लोगों की भाषा में उसका नाम

---

[1] हे ब्राह्मण! जम्बु, प्लक्ष नामक दो द्वीप, तीसरा शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और सातवाँ पुष्कर जम्बुद्वीप इन सबके मध्य में रहा है। हे मैत्रेय! उसके भी मध्य में मेरु नामक सुवर्ण पर्वत है। भारत प्रथम वर्ष है और उसके बाद किंपुरुष है। हे ब्राह्मण! मेरु पर्वत के दक्षिण में वैसे ही एक और हरि वर्ष है। उत्तर वर्ष तथा हिरण्मय वर्ष ये दो रम्य हैं। उत्तर कुरु भी भारत के समान ही है। फिर इलावृत्त है जो दोनों के मध्य में है—अनु०।

हुवरख्शतर था। (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड, द्वि० ख, पृ० ५८१)। यह शब्द संस्कृत में "भुवक्षत्र" होगा। भुवक्षत्र का पुत्र अस्त्याजेस था जिसे असुर लोग इप्टुवेगु कहते थे। संस्कृत "विष्णुवृद्ध" से इसकी तुलना की जा सकती है। इप्टुवेगु पर काइरस ने आक्रमण किया और एल्लिपि पर अधिकार कर लिया। काइरस तथा इप्टुवेगु, दोनों जम्बुद्वीप के वृषल-समान राजा थे। काइरस कम्बोज था, इप्टुवेगु इलावृत्त का मेद था। डियोसेस ग्रीक शब्द "इंग्रोक्कु" के रूप में ईसा के ७१३ वर्ष पूर्व असुरों को ज्ञात था (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड, द्वि० खं०, पृ० ५८१)। देवौक, फ्रवर्ति, हुवरख्शतर, एल्लिपि, अक्वतन (अक्ष-पतन) आदि शब्दों से प्रतीत होता है कि मेदों की भाषा संस्कृत-निकट अप-भ्रंश के समान थी।

पारसीक उर्फ पर्सु

"अस्त्याजस पर विजय पाने के तीन वर्ष बाद अर्थात् ईसा के ५४६ वर्ष पूर्व, उसने (काइरस ने) अपने को पर्सु (पारसीकों) का प्रथम सम्राट् घोषित किया।" ये पर्सु कौन थे?

पर्सु भारतीय आर्यों को दो नामों से ज्ञात थे—पल्हव तथा पारसीक। पल्हव पारसीक की अपेक्षा प्राचीन है, पर्सु के "र" का "ल" तथा "स" का "ह" होकर संस्कृत रूप "पल्हु" बनता है। पल्हु सम्बन्धित व्यक्ति अर्थात् पाल्हव। पाल्हव अर्थात् पल्हव। एल्लिपि में मेदों के प्रदेश के दक्षिण में इनके अधिकार में बहुत छोटा-सा प्रदेश था। कम्बोजों (काइरस) ने जब इन पर विजय प्राप्त की तब से ये लोग इतिहास में ईसा के लगभग ५५० वर्ष पूर्व से "पारसीक" के नाम से प्रसिद्ध हुए। उसके पूर्व पर्सु नामक एक छोटा कुल एल्लिप में बहुत पुरातन काल (ईसा के ४००० वर्ष पूर्व) इतिहास-प्रसिद्ध हो चुका था। अप्रसिद्धावस्था में जरतुश्त के द्वारा ईसा के लगभग १००० वर्ष पूर्व उनके वैदिक धर्म में परिवर्तन हुआ, विपर्यस्त धर्म अनेक पारसीकों ने ईसा के ५०० वर्ष पूर्व स्वीकार कर लिया।

"पल्हव" शब्द बहुतों का अनुमान है कि "पार्थव" से निकला है, परन्तु यह भूल है। पार्थियन्स के नाम से रोमन जिन्हें पहचानते हैं उन्हें भारतीय आर्य "पारद" कहते थे। ये लोग पुरातन काल में गान्धार के निकट निवास करते थे।

पल्हव पारसीकों के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध होने के पूर्व भारत में प्रवेश कर कालान्तर में दक्षिण में फैल गये और कांची में पल्लवों का नाम धारण कर राज्य करते रहे। पल्लव वैदिक धर्मानुयायी थे, इसलिए अनुमान है कि वे जरदुश्त का विपरीत-धर्म स्वीकार करने के पूर्व भारत में आये होंगे।

ःबीलोनी

ःस शब्द में भी "ह" के स्थान पर "उ" होना चाहिए। भारतीय आर्य ःःः बबर कहा करते थे वे यही बेबीलोनी थे। बर्बर—बब्बल=बाबल—ःपरम्परा में यह शब्द आता है। शान्तिपर्व के पैंसठवें अध्याय में बतलाया ःः है कि बर्बर ब्राह्मण आदर्श तथा क्रिया-लोप के कारण चातुर्वर्ण्यभ्रष्ट ःकर वृषल बन चुके थे।

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः ।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥

बेबीलोनिया में सुमेर नामक आर्य-वंशियों ने ईसा के ६०० वर्ष पूर्व से लेकर ४५०० तक राज्य किया, इसके पश्चात् सेमिटिक-बेबीलोनियों ने अधिकार कर लिया। (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड, प्र० ख०)। यह इतिहास प्राचीन भूवर्णन तथा इतिहास से लिया गया है, मात्र कल्पना प्रसूत नहीं है। यह कहना कि हजारों राजाओं तथा स्थानों के नाम केवल कल्पना की सहायता से लिखे गये, विकट अज्ञान फैलाना होगा।

शक : जाति तथा उसकी स्थिति

एल्लिपि अथवा इलावृत्त प्रदेश जम्बुद्वीप का एक भाग था। स्कथिअन या शक लोगों ने असुरों के काल में आक्रमण कर साम्राज्य अथवा छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की। ये शक किस स्थान से आये थे? प्रश्न का उत्तर पुराण देते हैं।

विष्णु पुराण में इन सात द्वीपों का वर्णन किया गया है : (१) जम्बुद्वीप, (२) प्लक्षद्वीप, (३) शाल्मलद्वीप, (४) कुशद्वीप, (५) क्रौंचद्वीप, (६) शाकद्वीप, तथा (७) पुष्करद्वीप। इनकी स्थिति आगे दिये गये मानचित्र से स्पष्ट होगी।

इस मानचित्र से विष्णुपुराणकार को ज्ञात सप्त द्वीपों की स्थिति स्थूलतः अनुमान की जा सकती है। सबसे पहले मानचित्र में देखिये कि मेरुपर्वत कहाँ है, क्योंकि इसी पर्वत को आधार मानकर विष्णुपुराणकार ने पूर्वदिशा के अनुमान से सप्तद्वीपों और विशेषतः जम्बुद्वीप का वर्णन किया है। जम्बुद्वीप सातों द्वीपों के मध्य में स्थित है और उनके बीचो-बीच मेरु पर्वत है—यह कथन विष्णुपुराण के द्वितीयांश के द्वितीयाध्याय में किया गया है। आगे दी जाने वाली जानकारी विष्णुपुराण के द्वितीयांश के प्रारम्भिक अध्यायों से संकलित की गई है। जिज्ञासु पाठकों को उक्त अध्यायों का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए।

जम्बुद्वीप

आज उपलब्ध, यूरोपीयों द्वारा बनाये गये मानचित्रों में काश्मीर के उत्तर में एक बिन्दु से निकली छह पर्वतों की पंक्तियाँ दिखलाई जाती हैं :—
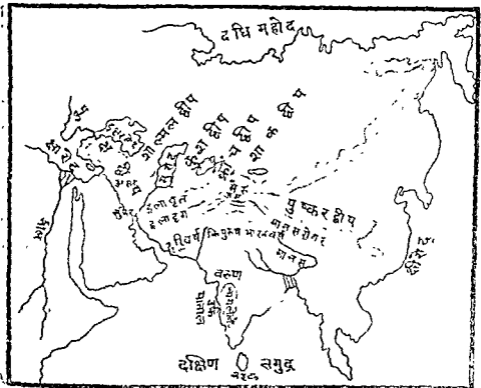
(१) हिमालय, (२) कराकोरम, (३) कुएनलुन, (४) थिएनशान, (५) हिन्दूकुश, और (६) सुलेमान। ये छह पर्वत जिस मध्यबिन्दु से निकलते हैं उसे विष्णुपुराणकार मेरु पर्वत कहते हैं। यह पर्वत भूपद्म की कर्णिका की भाँति है। इसके दक्षिण में (१) हिमालय, (२) हेमकूट, तथा (३) निषध—तीन पर्वतराशियाँ हैं और उत्तर में (४) नील, (५) श्वेत, तथा (६) शृंगी पर्वत हैं। हिमालय प्रसिद्ध है, हेमकूट हिन्दूकुश का और निषध आज के सुलेमान पर्वत का प्राचीन नाम है। ये पर्वत मेरु के दक्षिण में स्थित हैं। नील, कराकोरम, श्वेत कुएनलुन और शृंगी थिएनशान मेरु के उत्तर के पर्वत हैं। ये छह पर्वत जिस द्वीप में अवस्थित हैं उसे जम्बुद्वीप संज्ञा दी गई है। आज काश्मीर में जम्मू नामक नगर तथा प्रदेश है उसका प्राचीन नाम जम्बु रहा होगा। जम्बुद्वीप के (१) भारतवर्ष, (२) किंपुरुषवर्ष, (३) हरिवर्ष, (४) रम्यकवर्ष, (५) हिरण्मय

वर्ष, (६) उत्तरी कुरुवर्ष, (७) इलावृत्तवर्ष, (८) भद्राश्ववर्ष, तथा (६) गन्धमादनवर्ष—ये नौ विभाग हैं। पहले तीन मेरु के दक्षिण में, दूसरे तीन मेरु के उत्तर में हैं तथा इन छहों के मध्य में पश्चिम की ओर इलावृत्तवर्ष, पूर्व में भद्राश्ववर्ष तथा बीच में गन्धमादनवर्ष फैला हुआ है। हिमालय के दक्षिण में तथा दक्षिण-समुद्र के उत्तर में स्थित वर्ष विख्यात् भारतवर्ष है। मानसरोवर को धारण करने वाला भद्राश्ववर्ष है। आज के अफगानिस्तान तथा फारस देश जिस प्रदेश में स्थित हैं वही प्राचीन इलावृत्तवर्ष और मेरु के उत्तर में जो है वर्ष वह उत्तरी कुरुवर्ष है। अतिप्राचीन काल में इन्द्रादि देवता जम्बुद्वीप के गन्धमादन में अर्थात् मेरु प्रदेश में निवास करते थे।

प्लक्षद्वीप

आज का एशियाई तुर्किस्तान, युरोपीय तुर्किस्तान और यूनान मिलकर प्राचीन प्लक्षद्वीप की स्थिति बतलाते हैं। यूनान के इतिहास में अतिपुरातन लोगों को जो 'पेलागिक' कहा जाता था, उससे यह शब्द "प्लक्ष" पहचाना जाता है। 'पलास्ग' 'प्लक्ष' का अपभ्रंश है, इसमें सन्देह नहीं। पलास्ग या प्लक्ष लोग द्योर, पूषन्, द्यावापृथ्वी आदि देवताओं की उपासना करते थे। प्लक्षद्वीप क्षारोद सागर के तट पर बसा है और क्षारोद आज का भू-मध्य सागर है। प्लक्षद्वीप में भी जम्बुद्वीप की भाँति आर्यक, कुरव, विविंश तथा भाविन, ये चार वर्ण थे :—

प्लक्षद्वीपादिषु ब्रह्मन् शाकद्वीपान्तिकेषु च।

(विष्णुपुराण, द्वितीयाध्याय, श्लोक क्र० १५)

उक्त श्लोकार्द्ध से ज्ञात होता है कि शाल्मल, कुश तथा क्रौंच द्वीप इक्षुरसोद तथा आदि द्वीप प्लक्ष तथा शाक द्वीपों के मध्य में स्थित थे। इनमें वर्णाश्रम-संस्थाएँ विद्यमान थी।

शाल्मलद्वीप

आज के ब्लॅक-सी या कालासागर का प्राचीन नाम इक्षुरसोद था। इक्षुरसोद तथा कॅस्पियन सागर के मध्य का प्रदेश शाल्मलद्वीप था। वहाँ भी चातुर्वर्ण्य-संस्था थी जिनके नाम क्रमशः कपिल, अरुण, पीत तथा कृष्ण थे।

कुशद्वीप

वर्तमान कालीन कॅस्पियन सागर ही सुरोद तथा अराल सागर घृतोद था। इन दोनों के बीच बसा था कुशद्वीप। जहाँ दमिन्, शुष्मिन, स्नेह तथा मन्देह ये चार वर्ण थे। कुशद्वीप हिन्दुकुश पर्वत के उत्तर में स्थित था। इतिहास

में असुरों तथा बर्बरों ने कुशद्वीपियों को 'कोसियन्स' कहा है।

"ईसा के १७८५ वर्ष पूर्व—एलाम के पर्वतीय केसियन्स ने बेबीलोनिया में अपने दश की नीव डाली। (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड; प्र० खं; पृ० ५२८)

कड्फिसस तथा कनिष्क कुश या कुशान थे। "दजला नदी के पूर्व में लाग्रोस पर्वत के गहन प्रदेशो मे युयुत्सु कोसियन्स की जातियाँ निवास करती थी।" (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड; प्र० ख०; पृ० ३४१)

क्रौंचद्वीप

घृतोद् के पश्चिम मे कौंचद्वीप था—वह भूभाग जहाँ आज समरकन्द और बुखारा नगर है। वहाँ भी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी। उनका नाम असुर कहा गया है जो मुझे इतिहास मे नही मिला।

शाकद्वीप

क्रौंचद्वीप के पूर्व मे उत्तरी सागर तथा अल्ताई पर्वत दिशा में शाकद्वीप बसा हुआ था। इस द्वीप मे मग, मशक, मानस तथा मन्दग, चार वर्ण थे जिनका विवरण आरम्भ में दिया जा चुका है। उनकी जनसंख्या विशाल थी और इतिहास में उनका प्रायः उल्लेख होता है।

पुष्करद्वीप

आज के चीन के उत्तर मे स्थित प्रदेश पुष्करद्वीप कहलाता था। यहाँ के निवासी एकवर्णीय थे। कुएनलुन पर्वत ने इस द्वीप को दो भागो मे बाँट दिया था। विष्णुपुराणकार कुएनलुन का उल्लेख मानसोत्तर के नाम से करते है—

एकश्चात्र महाभाग प्रख्यातो वर्षपर्वतः।
मानसोत्तरसंज्ञो वै मध्यतो वलयाकृतिः ॥ ७५ ॥
पुष्करद्वीपवलयं मध्येन विभजन्निव।
स्थितोऽसौ तेन विच्छिन्नं जातं तद्वर्षकद्वय ॥ ७७ ॥ [१]

(विष्णुपुराण, द्वितीयांश, चतुर्थोध्याय।)

विष्णुपुराण के उपर्युक्त वर्णन से शाकद्वीप की निश्चित स्थिति ज्ञात होती है। जम्बुद्वीप के पश्चिम मे प्लक्षद्वीप, पूर्व में पुष्करद्वीप, उत्तर में शाल्मल

---

१ हे महाभाग! यहाँ मानसोत्तर नामक एक वर्षपर्वत है जो मध्य मे कंकणाकार है। वह मध्य से पुष्करद्वीप-मण्डल को विभक्त करता है। इस लिए ये दो वर्ष अलग-अलग हो गये या तोड़े गये। —अनु०।

वर्ष, (६) उत्तरी कुरुवर्ष, (७) इलावृत्तवर्ष, (८) भद्राश्ववर्ष, तथा (६) गन्धमादनवर्ष—ये नौ विभाग हैं। पहले तीन मेरु के दक्षिण में, दूसरे तीन मेरु के उत्तर मे हैं तथा इन छहों के मध्य मे पश्चिम की ओर इलावृत्तवर्ष, पूर्व मे भद्राश्ववर्ष तथा बीच मे गन्धमादनवर्ष फैला हुआ है। हिमालय के दक्षिण मे तथा दक्षिण-समुद्र के उत्तर में स्थित वर्ष विख्यात् भारतवर्ष है। मानसरोवर को धारण करने वाला भद्राश्ववर्ष है। आज के अफगानिस्तान तथा फारस देश जिस प्रदेश मे स्थित है वही प्राचीन इलावृत्तवर्ष और मेरु के उत्तर मे जो है वर्ष वह उत्तरी कुरुवर्ष है। अतिप्राचीन काल मे इन्द्रादि देवता जम्बुद्वीप के गन्धमादन मे अर्थात् मेरु प्रदेश मे निवास करते थे।

प्लक्षद्वीप

आज का एशियाई तुर्किस्तान, यूरोपीय तुर्किस्तान और यूनान मिलकर प्राचीन प्लक्षद्वीप की स्थिति बतलाते है। यूनान के इतिहास में अतिपुरातन लोगों को जो 'पेलागिक' कहा जाता था, उससे यह शब्द "प्लक्ष" पहचाना जाता है। 'पलास्ग' 'प्लक्ष' का अपभ्रंश है, इसमे सन्देह नहीं। पलास्ग या प्लक्ष लोग घोर, पूषन्, द्यावापृथ्वी आदि देवताओं की उपासना करते थे। प्लक्षद्वीप क्षारोद सागर के तट पर बसा है और क्षारोद आज का भू-मध्य सागर है। प्लक्षद्वीप मे भी जम्बुद्वीप की भाँति आर्यक, कुरव, विविंश तथा भाविन, ये चार वर्ण थे :—

प्लक्षद्वीपादिषु ब्रह्मन् शाकद्वीपान्तिकेषु च।

(विष्णुपुराण, द्वितीयाध्याय, श्लोक क्र० १५)

उक्त श्लोकार्द्ध से ज्ञात होता है कि शाल्मल, कुश तथा क्रौंच द्वीप इक्षुरसोद तथा आदि द्वीप प्लक्ष तथा शाक द्वीपो के मध्य मे स्थित थे। इनमे वर्णाश्रम-संस्थाएँ विद्यमान थी।

शाल्मलद्वीप

आज के ब्लेक-सी या कालासागर का प्राचीन नाम इक्षुरसोद था। इक्षुरसोद तथा कॅस्पियन सागर के मध्य का प्रदेश शाल्मलद्वीप था। वहाँ भी चातुर्वर्ण्य-संस्था थी जिनके नाम क्रमशः कपिल, अरुण, पीत तथा कृष्ण थे।

कुशद्वीप

वर्तमान कालीन कॅस्पियन सागर ही सुरोद तथा अराल सागर घृतोद था। इन दोनों के बीच बसा था कुशद्वीप। जहाँ दमिन्, शुष्मिन, स्नेह तथा मन्देह ये चार वर्ण थे। कुशद्वीप हिन्दूकुश पर्वत के उत्तर में स्थित था। इतिहास

में असुरों तथा बर्बरों ने कुशद्वीपियों को 'कोसियन्स' कहा है।

"ईसा के १७८५ वर्ष पूर्व—एलाम के पर्वतीय केसियन्स ने बेबीलोनिया में अपने वंश की नींव डाली। (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड; प्र० खं; पृ० ५२८)

कदफिसस तथा कनिष्क कुश या कुशान थे। "दजला नदी के पूर्व में लाग्रोस पर्वत के गहन प्रदेशों मे युयुत्सु कोसियन्स की जातियाँ निवास करती थी।" (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड; प्र० ख०; पृ० ३४१)

क्रौंचद्वीप

घृतोद् के पश्चिम मे क्रौंचद्वीप था—वह भूभाग जहाँ आज समरकन्द और बुखारा नगर है। वहाँ भी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी। उनका नाम असुर कहा गया है जो मुझे इतिहास में नहीं मिला।

शाकद्वीप

क्रौंचद्वीप के पूर्व मे उत्तरी सागर तथा अल्ताई पर्वत दिशा मे शाकद्वीप बसा हुआ था। इस द्वीप में मग, मशक, मानस तथा मन्दग, चार वर्ण थे जिनका विवरण आरम्भ मे दिया जा चुका है। उनकी जनसख्या विशाल थी और इतिहास मे उनका प्राय: उल्लेख होता है।

पुष्करद्वीप

आज के चीन के उत्तर मे स्थित प्रदेश पुष्करद्वीप कहलाता था। यहाँ के निवासी एकवर्णीय थे। कुएनलुन पर्वत ने इस द्वीप को दो भागो मे बाँट दिया था। विष्णुपुराणकार कुएनलुन का उल्लेख मानसोत्तर के नाम से करते है—

> एकश्चात्र महाभाग प्रख्यातो वर्षपर्वत: ।
> मानसोत्तरसंज्ञो वै मध्यतो वलयाकृति: ॥ ७५ ॥
> पुष्करद्वीपवलय मध्येन विभजन्निव ।
> स्थितोऽसौ तेन विच्छिन्नं जातं तत्वर्षकद्वय ॥ ७७ ॥ [1]
>
> (विष्णुपुराण, द्वितीयांश, चतुर्थोध्याय।)

विष्णुपुराण के उपर्युक्त वर्णन से शाकद्वीप की निश्चित स्थिति ज्ञात होती है। जम्बुद्वीप के पश्चिम मे प्लक्षद्वीप, पूर्व में पुष्करद्वीप, उत्तर में शाल्मल

---

[1] हे महाभाग ! यहाँ मानसोत्तर नामक एक वर्षपर्वत है जो मध्य में कंकणाकार है। वह मध्य से पुष्करद्वीप-मण्डल को विभक्त करता है। इस लिए ये दो वर्ष अलग-अलग हो गये या तोड़े गये। —अनु०।

द्वीप, क्रौंचद्वीप तथा शाकद्वीप और इन सबके बीच में जम्बुद्वीप था। जम्बुद्वीप का दक्षिणी भाग भारतवर्ष था, पश्चिमी भाग इलावृत, उत्तरी भाग कुरुवर्ष तथा पूर्वी भाग भद्राश्ववर्ष था। उत्तरी कुरुवर्ष उत्तर में उत्तरी सागर तक फैला प्रदेश शाकद्वीप था।

विष्णुपुराणकार को धरती की पूरी जानकारी थी तभी वे प्रत्येक द्वीप के विभागों, पर्वतों, नदियों, सरोवरों तथा निवासियों के विषय में सूक्ष्मतम बातें लिख गये हैं। विभागों, नदियों, सरोवरों और निवासियों की नामावली तक वे देते गये हैं। ये विभाग और नाममात्र कल्पना का चमत्कार है। ऐसा कहना अन्याय होगा। बर्बरों, असुरों तथा यवनों के इतिहास में विष्णुपुराणकार ने कुछ देशों और लोगों की नामावली दी है, वह इस प्रकार है।

जम्मू = जम्बु, हिन्दूकुश = हेमकूट; एलाम = इलावृत्त; अशूर = असुर; बेबीलोन = बर्बर, पलास्ग = प्लक्ष; कोसियन = कुश; स्कथियन = शक; बारमेस = पारस, पर्सु = पल्हव आदि नामों में पाया जाने वाला साम्य उत्सुकतावर्धक उपन्यासनुमा नहीं है। प्राचीन भूवर्णन का उन्हें जितना ज्ञान था, उन्होंने पुराण में दे दिया है। विष्णुपुराण की रचना शक-सम्वत् ४ अथवा ५वीं शती (ईसा की पाँचवीं अथवा छठी शती) में हुई होगी। परन्तु द्वितीयांश के प्रारम्भिक पाँच अध्यायों में तथा चतुर्थांश के चौबीसवें अध्याय तक पुरातन भूस्थिति तथा इतिहास का वर्णन किया गया है, इसमें सन्देह नहीं है।

असुर

अस्सुर, अश्शूर, असुर लोग वर्तमान दजला नदी के तथा बेबीलोन के उत्तरी भाग के निवासी थे। उन्होंने निनेवा में ईसा के १८३० वर्ष पूर्व से ५३८ वर्ष पूर्व तक राज्य किया। इसके पूर्व ये लोग स्वतन्त्र साम्राज्य के अधिपति नहीं थे; बेबीलोन के अन्तर्गत थे। सेमेटिक बेबीलोनियन्स के वे सम्बन्धी थे परन्तु वंश से शुद्ध सेमेटिक थे। बेबीलोनियों की भाँति उनमें सुमेरों का रक्त नहीं मिल पाया था। असुर ऊँचे कद के और मजबूत काठी के होते थे। शत्रु के साथ अत्यन्त क्रूरता का तथा बीभत्स व्यवहार करते थे। पराजित शत्रु के साथ सभ्यता का बर्ताव करने की आर्यों की प्रवृत्ति से उन्हें चिढ़ थी, भारतीय इतिहास तथा पुराणों में उनके वर्णन मिलते हैं जो यूरोपीय इतिहासकारों के वर्णनों से बहुत मिलते हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि असुर्या अथवा असूर्या देश के असुर ही पुराणों तथा इतिहास के असुर हैं। यूरोपीय इतिहासकारों तथा शोधकर्ताओं के ध्यान में यह तादात्म्यता अवश्य आई होगी, पर उसे स्पष्टतः स्वीकार करने में वे अब भी हिचकिचाते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। सेमेटिक

अर्थात् असुरों से यहूदी संस्कृति निष्पन्न हुई, यहूदी धर्म विकसित हुआ जिसे आज के यूरोपीयों ने स्वीकार कर लिया है। क्रूर तथा असभ्य असुरों से सम्बन्ध स्वीकार करना किंचित लाञ्छनास्पद अवश्य कहा जायगा, किन्तु 'शास्त्र' तथा सत्य के संशोधन में उसे क्या स्थान मिलता है।

ईसा के १८३० वर्ष पूर्व निनेवा में साम्राज्य स्थापित करने के पूर्व ईसा के ७००० वर्ष पूर्व तक यह जाति छोटे-मोटे राज्य स्थापित कर चुकने के बाद तथा बेबीलोन के सुमेर-आर्य तथा सेमेटिक राजाओं के आधिपत्य काल में भारत में आये होंगे। इसका प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है। कृष्ण तथा पाण्डवों के काल में बकासुर, जरासन्ध, शिशुपाल, कंस, मयासुर आदि अनेक असुर प्रसिद्ध थे। इनमें से कुछ असुरों का पाण्डवों ने और कुछ का कृष्ण ने वध किया। ये असुर भारत में कब आये? ईसा के १८३० वर्ष पूर्व से ईसा के ५३८ वर्ष पूर्व तक असुर वर्तमानकालीन अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान तक कभी नहीं पहुँच पाये। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा के १८३० वर्ष पूर्व के पहले बेबीलोन सेमेटिकों के राज्य में, परन्तु बहुधा तब, जब कि सुमेर-आर्य बेबीलोन पर अधिकार किये हुए थे, असुर भारत में आये होंगे। यदि यह सत्य है तो स्वीकार करना पड़ेगा कि कृष्णार्जुन ईसा के १८३० वर्ष-पूर्व से हजार-बारह सौ वर्ष-पूर्व हुए होंगे। अय्यर इत्यादि अनेक विद्वान् युधिष्ठिर का काल ई० के ११७६ वर्ष-पूर्व में प्रारम्भ हुआ मानते हैं, कई विद्वान् और भी चार-पाँच सौ वर्ष पीछे जाते हैं। परन्तु कृष्ण-युधिष्ठिर के युग में भारतवर्ष में मगध, मथुरा, काठियावाड़ इत्यादि प्रदेशों में असुरों के राज्य ई० के १८३० वर्ष पूर्व के पहले विद्यमान होने की सम्भावना कम होने की स्थिति में युधिष्ठिर काल परम्परानुसार ईसा के ८१७६ अथवा ३१०२ अथवा ३०७६ वर्ष पूर्व स्वीकार करना युक्तिसंगत मालूम पड़ता है।

हमें विश्वास है कि ज्यों-ज्यों असुर तथा बर्बरों के इष्टिकालिख प्रकाश में आते जायेंगे त्यों-त्यों प्राचीन भारतीय इतिहास भी आलोकित होता जायगा और इतिहास, पुराण तथा ब्राह्मणों के उल्लेख स्पष्ट होते जायेंगे। अतएव हिन्दुओं को भी असुर तथा बर्बर इष्टिकालिखों का अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

शितिपर्ण तथा एपर्ण

"इससे एसरहेडन को मेदों से अपना बदला लेने और उनके देश से हठपूर्वक युद्ध करने का अवसर मिला। वह अपने पूर्वजों की अपेक्षा मेदों के प्रदेश को

दूर तक पादाक्रान्त करता चला गया—यहाँ तक कि पतुशर्रा (पतिस्खोरिया) का प्रदेश जो मेदो के आधिपत्य मे विकनी-पर्वत के निकट तक बसा था और जहाँ रत्न मिलते थे, नही बच सका। वहाँ शितिरपर्ण तथा एपर्ण नामक दो शक्तिशाली राजा राज्य करते थे जिनके नाम ईरानी प्रतीत होते हैं।" (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड, प्र० ख, पृ० ४२३)

उपर्युक्त उद्धरण मे शितिरपर्ण तथा एपर्ण, दो पर्णशब्दान्त नामो का उल्लेख हुआ है। अब देखे कि भारतवर्ष के इतिहास मे इनसे मिलते-जुलते नाम कही देखने मे आते है अथवा नही। आन्ध्रभृत्यो के शिलालेख में तथा मुद्राओं पर नहपान, चतुरपन, चतरपन, आदि नाम खुदे है। (बाम्बे गजेटियर, ख० १, भा० २, पृ० १५४) डा० भाण्डारकर का मत है कि "नहपान कोई यूनानी नाम नही प्रतीत होता अतः वह या तो शक होगा अथवा पल्हव।" (वही पृ० १५५) चतुरपन या चतरपन असुर लेखान्तर्गत शितिरपर्ण जैसा दिखता है। यह नाम पल्हव ईरानी है। इसी प्रकार चतरपन तथा नहपान पल्हव है, ऐसा प्रतीत होता है। पल्हवो मे र० शत्रर्पति (संस्कृत : क्षत्रपति; ग्रीक : सॅट्रॅप) उपाधि थी। नहपान महाक्षत्रप था।

पर्ण—पण्ण—पाण

"नहपान" शब्द मूलतः "नहपाण" रहा होगा और "चतरपन" द्वित्त णकारयुक्त "चतरपण्ण"।

"हिस्टोरियन्स हिस्टरी ऑफ दि वर्ल्ड" का उपर्युक्त कथन ईसा के ५७३ वर्ष-पूर्व के पश्चात् से सम्बन्ध रखता है। उसके उपरान्त पल्हव दो-चार शतियों मे पंजाब, मालवा, काठियावाड़, गुजरात से लेकर कांची तक फैल गये। कांची मे वे "पल्लव" नाम से प्रसिद्ध हुए।

सिमेरिअन्स

इस शब्द में "स" के स्थान पर "क" होना चाहिए। वास्तविक उच्चारण "किमेरिअन्स है। "हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड" के प्रथम खड के पृष्ठ ४२२ पर लिखा है कि सिम्मिरि के या किमेरियो के सम्राट् तिउष्प—अधिक उचित होगा यदि यहे उम्मन-मन्द के विरुद्ध जो दूर निवास करता था और आगे चलकर जा असूर तथा बेबीलोन के लिए सिरदर्द बन गया था—द्वारा किये गये आक्रमण को ध्यान में रखना होगा।

भारतीय इतिहास-पुराणों में किंपुरुष, किन्नर विख्यात हैं। प्रतीत होता है कि इन्ही किन्नरों को ही ग्रीक इतिहासकार "किमेरिअन्स" कहते हैं।

किंपुरुषवर्ष अथवा किन्नरवर्ष जम्बुद्वीप का एक भाग था। किन्नर शकों अथवा मन्दों से भिन्न थे। उपर्युक्त ग्रन्थ का लेखक उनकी गणना मन्दों मे करता है जो भ्रामक मालूम पडती है।

देव तथा मानव

जम्बुद्वीप के बीचोबीच स्थित मेरु पर्वत के आसपास निवास करने वाले देव कहलाये—

> चतुर्दश सहस्राणि योजनानां महापुरी।
> मेरोरुपरि मैत्रेय ब्राह्मणः प्रथिता दिवि ॥२६॥
> तस्याः समन्ततश्चाष्टौ दिशासु विदिशासु च।
> इन्द्रादिलोकपालाना प्रख्याताः प्रवराः पुरः ॥३०॥[1]

विष्णुपुराणकार को ज्ञात था कि इन्द्रादि देवता मेरु पर्वत के पास निवास करते है। मानव देवताओं के अनुचर थे। आगे चलकर भारतवर्ष मे बस जाने के पश्चात् वे भारतीय आर्य कहलाने लगे। पराक्रमी व्यक्तियो को ईश्वरांश मानने वाले मानव 'देव' नामक लोगो को अत्यन्त प्राचीन काल से ईश्वरांश मानते थे। इन्हे समाप्त हुए कल्पनातीत समय बीत चुका है।

विश्वसनीय-अविश्वसनीय

अब तक (१) मेद, (२) मन्द, (३) शक, (४) असुर, (५) बर्बर, (६) सुमेर, (७) पर्सु, (८) पल्हव, (९) पारसीक, (१०) कुश, (११) प्लक्ष, (१२) किन्नर, (१३) कम्बोज, (१४) देव, तथा (१५) मानव—इन पन्द्रह वशो का और उनकी स्थिति का इतिहास पुराणों तथा असुरों के इतिहास के आधार पर वर्णन किया गया। इसका अध्ययन करने से विश्वास होता है कि महाभारत में किये गये अनेक वर्णन अधिकाशतः विश्वसनीय हैं, किन्तु वह अनेक अविश्वसनीय बातो से सम्बन्धित है। उन्हें प्रमाणच्छुरिका से अलग कर, असुरादि लोगो के इतिहास मे पाये जाने वाले विश्वसनीय विवरणों को चुनने के साधनों का स्पष्ट उल्लेख करना चाहिए। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण में जम्बुद्वीप के अन्तर्गत मेरुपर्वत की स्थिति उचित प्रमाणों द्वारा सिद्ध की गई है, साथ ही उसकी

---

[1] हे मैत्रेय! चौदह हजार कोस का विशाल महानगर मेरु पर्वत के ऊपर बसा हुआ है। स्वर्ग में ब्राह्मण प्रसिद्ध है और फैले हुए है। उसके चारों ओर आठ दिशाओं में और छोटी-छोटी विदिशाओं मे इन्द्रादि लोकपालों के श्रेष्ठ नगर प्रसिद्ध है।—अनु०।

लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का जो वर्णन किया गया है वह अयथार्थ है। कहने का आशय यह कि पुराणों और इतिहास के मजमून की भली-भाँति परीक्षा करनी चाहिए जो की जा सकती है। प्रायः पुराणकारों का विवरण अपने से प्राचीन इतिहास तथा आख्यायिकाओं पर आधारित होता है; यही नहीं, उनकी प्राचीनतम इतिहास तथा भूभाग की जानकारी स्वपरीक्षित नहीं होती। सिद्ध हो चुका है कि वे कई बार अपने युग में प्रचलित जनश्रुतियों और काल्पनिक दुष्टाग्रहों के योग से प्राचीन वास्तविक इतिहास को बिगाड़ देते हैं। मान लीजिए कि पुराणकार भूत लोगों का विवरण दे रहे हैं; वे नहीं जानते कि भूत आज के भूटान, भूतान, भूतस्थान के निवासी हो सकते हैं बल्कि भूत का अर्थ "प्रेतादिवर्ग के व्यक्तिसमूह" ग्रहण करते हैं, और तब भूत लोगों की विलक्षण कथाएँ सज-धजकर प्रस्तुत की जाती हैं।

भूतभाषामयी प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्।

श्लोकार्द्ध में दण्डी का कथन है कि बृहत्कथा भूतभाषा में लिखी गई। वास्तविक अर्थ यह है कि बृहत्कथा भूतान, भूतस्थान नामक देश में निवास करने वाले पिशाच लोगों की पैशाची अथवा भूत-भाषा में लिखी गई। हमारे पुराणकार इसी श्लोकार्द्ध का अर्थ बतलाते हुए कहेंगे कि बृहत्कथा भूतों की याने प्रेतों की भाषा में लिखी गई। पुराणकारों की ग्राम्यता अनेक प्रमाणाप्रमाणज्ञ आधुनिक विद्वानों पर भी छा जाती है। डॉ० भाण्डारकर 'भूत' शब्द का अर्थ goblins-(पिशाच) मानते हैं। "दण्डी ने अपने ग्रन्थ काव्यादर्श में पैशाची नामक प्राकृत में जो पिशाचों की भाषा थी, लिखित बृहत्कथा नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है।" (भाण्डारकर का "दक्षिण का इतिहास", दूसरा भाग)

तात्पर्य, पुराण-इतिहास में निहित प्राचीन वास्तविक इतिहास पर छाई हुई मलिनता तथा तर्कहीनता की गर्द साफ कर आधुनिक खोजों की सहायता से भलीभाँति परीक्षा कर उसे स्वीकार करना चाहिए।

छह द्वीपों का चातुर्वर्ण्य

विष्णुपुराणकार का कथन है कि प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक तथा जम्बु—इन छह द्वीपों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी; इसका आशय यह कि आज जिन देशों को ग्रीस, मेसीडोनिया, तुर्की, मिस्र, एशियाई तुर्किस्तान, फारस, कॉकेशीय प्रदेश, तुर्किस्तान, अफ़गानिस्तान, पामीर, हिन्दुस्तान कहा जाता है, उनमें प्राचीन काल में चातुर्वर्ण्य समाजसंस्था का अस्तित्व था। पुराणकारों को इससे भी प्राचीन स्थिति का ज्ञान था जो वर्तमान यूरोपीय संशोधकों द्वारा प्रमाणित किया गया है—

"गोगे के सभापति का मत है कि प्राचीन असीरियन साम्राज्य मे समाज हिन्दुओं के समान जातियों तथा पैतृक व्यवसायों के आधार पर विभाजित था, यही नही, यह विभाजन बहुत प्राचीन काल से लगभग समस्त एशिया मे फैला हुआ था। सेक्रप्स ने एटिका के निवासियो को चार जातियो मे बाँट दिया था, टेसियस ने आगे चलकर सम्भवत., पुरोहितों तथा सरदारो या शासको के वर्ग को मिलाकर केवल तीन जातियाँ रखी। उस समय ये तीन जातियाँ रही—शासक तथा पुरोहित, मजदूर या खेतिहर और कारीगर, और इसमे कोई सन्देह नही कि मिस्रियो तथा भारतीयो की भाँति इनके व्यवसाय पैतृक होते थे। अरस्तू ने हमे स्पष्टतः पता चलता है कि मिस्रियो की देखादेखी क्रीट मे भी समाज-मायनोस के सिद्धान्तानुसार जातियो मे विभाजित था। फारस देश मे भी हिन्दुओ की भाँति प्राचीन काल मे जाति-विभाजन का महत्वपूर्ण प्रमाण मिलता है। जिंद-अवेस्ता मे निम्नलिखित उद्धरण आया है—

होर्मुज्द ने कहा "आचार के तीन सिद्धान्त है राज्य चार प्रकार के है तथा प्रतिष्ठा की चार स्थितियाँ और पाँच स्थान है। वे स्थितियाँ है : पुरोहित, सैनिक, खेतिहर (सम्पत्ति का साधन) तथा कारीगर या मजदूर। आज पर्याप्त, अवशेष सिद्ध करते है कि लका के बौद्धो में भी इसी प्रकार का विभाजन प्राचीन काल से प्रचलित था। परिणामतः कहा जा सकता है कि एशिया के अधिकांश प्रदेशो के अन्य जनो की भाँति बौद्धो मे भी यही प्रथा थी।" (हि० हि० ऑफ दि वर्ल्ड, द्वि० ख, पृ० ५१५)

साराश यह कि आधुनिक सशोधक तथा प्राचीन पुराणकार इस तथ्य पर सहमत हैं। दोनो की जानकारियो के सूत्र स्वतन्त्र है अतः वे मात्र सिद्धान्त का रूप लिये हुए है।

प्रश्न है कि वह कौनसा समय था कि जब यूनान से लेकर चीन तक फैले विस्तीर्ण भूभाग पर प्राचीन काल मे चातुर्वर्ण्य समाज-व्यवस्था जारी थी?' मेरे विचार मे वह काल ७०० ई० के लगभग होगा। उस समय बेबीलोन मे सुमेर नामक आर्य राज्य कर रहे थे और अर्वाचीन यूनान मे प्लक्षो का निवास था।

इन चातुर्वर्ण्यबद्ध देशों से शक, यवन, पल्हव, पारसीक आदि ईसा के २००- वर्ष पूर्व से लगातार भरतखण्ड में चले आ रहे थे, यद्यपि उस काल मे उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी फिर भी उसकी स्मृति तब भी शेष थी। इसी कारण सूर्य, विष्णु, शिव आदि देवता उनके लिए नवीन नहीं थे। हिन्दुओं ने जिस सहज भाव से बौद्ध धर्म स्वीकार किया, इन्होंने भी किया। शक, यवन,,

पल्हवादि चातुर्वर्ण्यहीन लोगों को और विशेषत: आर्यों को कोई आश्चर्य न हुआ। तत्कालीन आर्य भलीभाँति जानते थे कि विदेशी अपनी भाँति चातुर्वर्ण्य-बद्ध थे। इसी कारण शक, यवन तथा पल्हवों को सच्चे अर्थ में विदेशी मानते ही नही थे। वे यह समझते थे कि ये अपने पड़ोसी हैं और अतत: अपने ही चातुर्वर्ण्यहीन लोगों मे से हैं। शकों, यवनों और पल्हवों की सूर्यादि देवताओं की उपासना का प्रमाण पाकर बहुत से संशोधक अनुमान करते हैं कि इन लोगों ने भारत मे आकर हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया अर्थात् इसके पहले वे हिन्दू नहीं थे। उपर्युक्त विवेचन से वास्तविकता का भलीभाँति तथा यथार्थ अनुमान किया जा सकता है।

भारत की दक्षिण दिशा के देश

हिमालय के दक्षिण, समुद्र के उत्तर तथा विन्ध्य के उत्तर मे स्थित प्रदेश को भारतवर्ष का नाम दिये जाने के पूर्व जम्मू के दक्षिण मे स्थित छोटे से भूभाग को प्राचीन काल मे भारतवर्ष कहा जाता था। ज्यो-ज्यो भारतीय प्रजा फैलती गई, त्यों-त्यों विस्तृत प्रदेश—हिमालय के दक्षिण तथा विन्ध्य के ऊपर का समस्त प्रदेश—भारतवर्ष नाम धारण करता गया। आज कन्याकुमारी तक सारा भूभाग भारतवर्ष कहलाता है। परन्तु जैसा कि आरम्भ मे बतलाया गया, प्राचीन काल में यह स्थिति नही थी। जम्मू अर्थात् प्राचीन भारत के दक्षिण-पश्चिम मे वरुण-लोक तथा पाताल-लोक या नाग-लोग अर्थात् आज का कोंकण था।

७ | "मग" ब्राह्मण कौन थे ?

डॉ० भाण्डारकर का भूल

पाँच महीने पूर्व पुणे के फडके-वाडा मे डॉ० भाण्डारकर ने एक भाषण दिया जिसमे उन्होने प्रतिपादित किया कि एक शिलालेख मे इस आशय का उल्लेख मिलता है कि अनार्यो—मग अनार्यो—को ब्राह्मण बनाकर एक मन्दिर का पुजारी नियुक्त किया गया । डॉक्टर साहब दिखलाना चाहते थे कि "मग" मूलतः अनार्य थे, बाद मे वे आर्यो के चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत समाविष्ट किये गये । डॉक्टर साहब के कथन के सत्यासत्य भाव की यहाँ परीक्षा करने का विचार है ।

सन् १८७९ ई० मे वेबर ने बर्लिन के "मॉक्टॉक इस्ट" मे कृष्णदास मिश्र कृत "मग व्यक्ति" नामक पोथी पर लेख लिखकर प्रतिपादित किया कि ईसा की प्रारम्भिक दो शतियों मे मिश्र-पूजक "मग" भारत मे आये और ब्राह्मणों में समाविष्ट कर लिये गये । अर्थात् सन् १८७९ ई० मे वेबर का मत था कि "मग" पहले ब्राह्मण नही थे, उन्हे ब्राह्मण बनाया गया । आगे चलकर सन् १८८५ ई० मे उन्हे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि काशी के अनेक पण्डितो को यह मत स्वीकार है कि "मग" उत्तम ब्राह्मण है । आश्चर्य का कारण यही हो सकता है कि ब्राह्मण के आदि पीठ काशी में अनार्य "मगो" को ब्राह्मण कैसे माना जाता है । वेबर ने यह भूल की कि "मगो" को बिना प्रमाण के अनार्य मान लिया; अतः काशी के ब्राह्मणों ने अनार्य मगो का ब्राह्मण्य स्वीकार किया तो उसे आश्चर्य करना पडा । वास्तविकता यह है कि काशी के पण्डित जानते थे और वेबर नही जानता था कि "मग" प्राचीन काल से ब्राह्मणों के अन्तर्गत माने जाते रहे है । भविष्यपुराण तथा बृहत्संहिता मे मगों का उल्लेख किया गया है, वेबर इतना ही जानता था । इसके आगे वह नही जाता जबकि काशी के ब्राह्मण जाते हैं; यही कारण है कि वेबर के अधकचरे मत से काशी के पण्डितो का मत भिन्न रहा ।

अधूरी जानकारी तथा यूरोपीयों के सामान्य पूर्वाग्रह के कारण वेबर ने कैसे धोखा खाया, यह समझ सकते हैं; परन्तु हमारे लोग वेबर की भाँति धोखा

जाते है तो समझ मे नही आता। डॉ० भाण्डारकर के सामने पूर्व परम्परा का ज्ञान प्राप्त करने के अनेक साधन उपलब्ध हैं। काशीस्थ पण्डितों का मत एवं मनोरचना वे जानते हैं और यूरोपीय पण्डितों की तुलना में पुरातन इतिहास, सम्प्रदाय एवं परम्परा जान लेने की डॉक्टर साहब को बहुत सुविधा है। ऐसा होते हुए डॉक्टर साहब गलत राह क्यों पकड़ते हैं? जिसे यूरोपीय सत्य माने वही इतिहास, जो सिद्ध करे वही सिद्धान्त—उनके आगे जाने का साहस हमारे संशोधकों मे नहीं, आश्चर्य की बात यही है।

वराहमिहिर द्वारा प्राप्त जानकारी

वराहमिहिर की बृहत्संहिता के प्रतिमाप्रतिष्ठापर्व नामक साठवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक मे "मग" शब्द आया है :

विष्णोर्भागवतान् मगाश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्।
मातृणामपि मातृमण्डलविदो विप्रान् विदुर्ब्रह्मणः॥
शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नान् जिनानां विदुः।
ये य देवमुपाश्रिताः स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥१९॥

[अपने शास्त्रानुसार जिसने जिस देवता का आश्रय ग्रहण किया है उसे उसी देवता की (स्थापनादि) क्रिया करनी चाहिए। विष्णु के भागवत, सूर्य के मग, शिव का भस्म धारण करने वाले द्विज (ब्राह्मणादि), मातृगणों के मातृमण्डलवेत्ता, ब्रह्म के ब्राह्मण, बुद्ध के शान्तमन, शाक्य तथा जिनों के नग्न (क्षपणिक) क्रिया करने वाले बतलाये गये है।]

उपर्युक्त श्लोक मे केवल यही कहा गया है कि मगों को सूर्य की उपासना करनी चाहिए। "मग" ब्राह्मण है अथवा शूद्र अथवा म्लेच्छ इसके प्रति कोई निर्देश नहीं किया गया है।

स्वयं वराहमिहिर सूर्योपासक था। उसके पिता का नाम आदित्यदास था। वह अवन्त देश के उज्जयिनी नामक नगर में निवास करता था। कहीं भी यह नहीं बतलाया गया कि ब्राह्मण था या शूद्र अथवा म्लेच्छ।

आदित्यदास तनयस्तदवाप्तबोधः।
कापित्थके सवितृलब्धवर प्रसादः॥
आवन्तको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्।
घोरा वराहमिहिरो रुचिरा चकार॥९॥[1]

—बृहज्जातक : अध्याय अ० २८

[1] आदित्यदास के पुत्र ने, जिसने अपने पिता से शिक्षा प्राप्त की है, जिसने कापित्थक क्षेत्र मे सूर्योपासना कर वर प्राप्त किया है, जिसने अवन्ति देश

वराहमिहिर का काल शक सम्वत ४२७ (सन् ५०५ ई०) माना जाता है। वराहमिहिर नाम सच कहे तो संस्कृत नहीं है। अर्वाचीन संस्कृत में "मिहिर" "मिहर" शब्द आते है परन्तु वे जिन्द-अवेस्ता के "मिथ्र" की सहायता से बने हैं। मिथ्र=मिथर, मिथिर=मिहर, मिहिर। वराह जिन्द-अवेस्ता के "हुउर" शब्द से संस्कृत मे आया होगा। हुउर=हुवर=वरहु=वराह। अन्त मे, हाउर मिथ्र=वराहमिहिर।

साराश, जहाँ तक नाम का प्रश्न है, वराहमिहिर भारतवर्षीय वश का नही प्रतीत होता, भारत के बाहर का मालूम होता है। परन्तु यह प्रश्न यहाँ अप्रासंगिक है। हमे तो मगो की परम्परा का पता लगाना है। यहाँ जो व्युत्पत्ति देने का प्रयत्न किया गया, वह इस अनुमान से कि वराहमिहिर कदाचित "मग" हो सकता है।

पुराणों में प्राप्त प्रमाण

भविष्यपुराण के ब्राह्मणपर्व के अनेक अध्यायो (१३८–१७१) मे मगो के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है .

जम्बुद्विपात्पर यस्माच्छाकद्वीप इति स्मृत ।
तत्र पुण्या जनपदाश्चतुर्वर्णसमन्विता ॥७३॥
मगाश्च मगगाश्चैव गानगा मन्दगास्तथा ।
मगा ब्राह्मणभूयिष्ठा मगगा क्षत्रिया स्मृता ॥७४॥
वैश्यास्तु गानगा ज्ञेया: शूद्रास्तेषा तु मन्दगा ।
न तेषा सकर: कश्चिद्धर्माश्रियकृता क्वचित् ॥७५॥
तेभ्यो वेदास्तु चत्वार मग्हस्या मयोदिता ॥७६॥
मामेव ते च ध्यायन्ते यजन्ते मा च नित्यश: ॥७८॥
अध्ययधारिणश्चैव विधिदृष्टेन कर्मणा ॥७९॥
तान्मगान् मम पूजार्थ शाकद्वीपादिहानय ॥८३॥[1]

मे निवास करने वाले अन्य ऋषियों के मतों का भली भाँति अध्ययन किया है, उसी वराहमिहिर ने यह विशाल एवं रमणीक ग्रन्थ निर्माण किया।—अनु०।

[1] जम्बुद्वीप के बाद आता है शाकद्वीप जहाँ चारों वर्णों से युक्त अच्छे पुण्यशील ग्राम हैं। वहाँ मग, मगग, गानग तथा मन्दग निवास करते है। मग ब्राह्मण, मगग क्षत्रिय, गानग वैश्य तथा मन्दग शूद्र है। धर्म के आश्रय मे रहने वाले उन लोगो मे संकर बिलकुल नही हैं। उन्ही को मैंने चारों

वहाँ "मग" होना चाहिए। शाकद्वीप के क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों का वास्तविक नाम क्या था, यह आज अन्य प्रमाणाभाव मे नही कहा जा सकता। पीछे कह चुके है कि शाकद्वीपीय शूद्रों को "मन्दग" कहा जाता था। इसमें सन्देह नही कि महाभारतकार, विष्णुपुराणकार तथा भविष्यपुराणकार को ज्ञात था कि शाकद्वीप मे पुरातन काल मे "मग" नामक ब्राह्मण थे। जम्बुद्वीप मे भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के समान मग, मागध, मानस, मन्दग नामक चार स्वधर्मनिष्ठ वर्ण थे। उनमे चार वेद थे परन्तु विपरीत थे।

> ब्राह्मणाना यथा प्रोक्ता वेदाश्चत्वार एव तु ॥३५॥
> ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदस्त्वथर्वणः।
> ब्राह्मणोक्तास्तथा वेदा मगानामपि सुव्रत ॥३६॥
> त एव विपरीतास्तु तेषा वेदाः प्रकीर्तिताः।
> वेदो विश्वमदश्चैव विद्वद्वह्नी रसस्तथा ॥३७॥
> वेदा ह्येते मगाना तु पुरोवोच प्रजापतिः।[1]

विपरीत भाषान्तरित ऐसा अर्थ रहा होगा। शकों की भाषाओं मे भी चार वेद आ चुके थे, ऐसा भविष्यपुराणकार का कथन है।

स्पष्ट है कि शाकद्वीप मे बसनेवाले मग शाक अथवा शक थे। उनकी भाषा संस्कृत से किंचित भिन्न परन्तु तत्सदृश थी। प्राचीन काल मे शकों मे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी, कालान्तर मे वह नष्ट हो गई। विष्णुपुराण के चतुर्थांश के तीसरे अध्याय का निम्न पुराणेतिहास इसका प्रमाण है :

वाहुर्योऽसौ हैहयतालजंघादिभिरवजितोऽन्तर्वत्न्या महिष्या सह वनं प्रविवेश ॥१५॥ तस्याश्च सपत्न्या गर्भस्तम्भनाय गरो दत्तस्तेनास्या गर्भः स सप्तवर्षाणि जठर एव तस्थौ स च बाहुर्वृद्धभावादौर्वाश्रमसमीपे ममार ॥१६॥ सा तस्य भार्या चितां कृत्वा तमारोप्यानुमरणकृतनिश्चयाऽभूत्। अथैतामतीतानागतवर्तमान-कालवेदी भगवानौर्वः स्वस्माश्रमान्निर्यायाब्रवीत्। अलमेतेनासद्ग्रहेण, अखिल-भूमण्डलपतिरतिवीर्यपराक्रमोऽनेकयज्ञकृदरातिपक्षक्षयकर्ता तवोदरे चक्रवर्ती तिष्ठति, मैव मैवं साहसाध्यवसायिनी भवती, भवतु। इत्युक्ता च सा तस्मादनु-मरणसाहसाविरराम ॥१६॥ तेनैव भगवता स्वाश्रममानीयत, कतिपयदिनान्तरे च सहैव तेन गरेण अतितेजस्वी बालको जज्ञे। तस्यौर्वो जातकर्मादिका क्रियां निष्पाद्य सगर इति नाम चकार। कृतोपनयनं चैनं औवों वेदाञ्शास्त्राण्यशेषाणि

---

[1] ब्राह्मणों के चार वेद कहे गये हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ब्राह्मणों के लिए कहे गये वेद मगों के लिए भी हैं। जब मग आचरण द्वारा विपरीत हो गये तब उनके ये वेद कहे गये : विश्व, विद्वान, बह्नि तथा रस। मगों के वेद ब्रह्मा ने पहले ही कहे हैं।—अनु०।

विष्णुपुराण के द्वितीयांश के चौथे अध्याय में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

> धर्महानिर्न तेष्वस्ति न संघर्षः परस्परं।
> मर्यादाव्युत्क्रमो नापि तेषु देशेषु सप्तसु ॥६८॥
> मगाश्च मागधाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
> मगा ब्राह्मणभूयिष्ठा मागधाः क्षत्रियास्तु ते ॥६९॥
> वैश्यास्तु मानसा ज्ञेयाः शूद्रास्तेषां तु मन्दगाः।
> शाकद्वीपे तु तैर्विष्णुः सूर्यरूपधरो मुने ॥७०॥[1]

महाभारत के भीष्मपर्व के ग्यारहवें अध्याय में मगादिकों का निम्न उल्लेख मिलता है :—

> तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः ॥३५॥
> मगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
> मगा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मरता नृपा ॥३६॥
> मशकेषु च राजन्या धार्मिका सर्वकामदाः।
> मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः ॥३७॥
> शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः।
> एतदेव च श्रोतव्य शाकद्वीपे महौजसि ॥३८॥[2]

अर्थात्, भविष्यपुराण में मग, मगग, गानग, मन्दग, विष्णुपुराण में मग, मागध, मानस, मन्दग तथा महाभारत में मंग, मशक, मानस, मन्दग—ऐसे विभिन्न पाठ है। इनमें महाभारत (कुम्भकोणवाली प्रति) में मग पाठ गलत है।

मन्त्रयुक्त वेद सुनाये हैं। वे मेरा ही नित्य ध्यान और पूजन करते हैं। उनके शरीर में कोई व्यंग्य नहीं है। उन मग ब्राह्मणों का विधिपूर्वक पूजन कर यहाँ उन्हें शाकद्वीप से ले आओ।—अनु०।

१ वहाँ धर्म की हानि, परस्पर-संघर्ष तथा मर्यादा का उल्लंघन नहीं है। मग, मागध, मानस और मन्दग—ये क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र है। हे मुनिराज ! शाकद्वीप में उन्होंने विष्णु को ही सूर्य का रूप धारण करने के लिए चुना है।—अनु०।

२ मग, मशक, मानस तथा मन्दग नामक चार लोकमान्य जनपद हैं। हे राजन्, मग लोग अधिकतर स्वकर्म-निरत ब्राह्मण हैं। मशक अधिकतर क्षत्रिय हैं जो धार्मिक और सारी इच्छाओं की पूर्ति कराने वाले हैं। मानस लोग वैश्यधर्म का पालन करने वाले है। मन्दग शूद्र हैं परन्तु उनके पुरुष धर्मशील हैं। शाकद्वीप में ये चार सुनने योग्य हैं।—अनु०।

वहाँ "मग" होना चाहिए। शाकद्वीप के क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों का वास्तविक नाम क्या था, यह आज ग्रन्य प्रमाणाभाव मे नहीं कहा जा सकता। पीछे कह चुके है कि शाकद्वीपीय शूद्रो को "मन्दग" कहा जाता था। इसमे सन्देह नही कि महाभारतकार, विष्णुपुराणकार तथा भविष्यपुराणकार को ज्ञात था कि शाकद्वीप मे पुरातन काल में "मग" नामक ब्राह्मण थे। जम्बूद्वीप में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के समान मग, मागध, मानस, मन्दग नामक चार स्वधर्मनिष्ठ वर्ण थे। उनमे चार वेद थे परन्तु विपरीत थे।

ब्राह्मणाना यथा प्रोक्ता वेदाश्चत्वार एव तु ॥३५॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदस्त्वथर्वणः।
ब्राह्मणोक्तास्तथा वेदा मगानामपि सुव्रत ॥३६॥
त एव विपरीतास्तु तेषा वेदा, प्रकीर्तिताः।
वेदो विश्वमदश्चैव विद्वद्वह्नी रसस्तथा ॥३७॥
वेदा ह्येते मगाना तु पुरोवोच प्रजापतिः।[1]

विपरीत भाषान्तरित ऐसा अर्थ रहा होगा। शकों की भाषाओं में भी चार वेद आ चुके थे, ऐसा भविष्यपुराणकार का कथन है।

स्पष्ट है कि शाकद्वीप मे बसनेवाले मग शाक अथवा शक थे। उनकी भाषा संस्कृत से किंचित भिन्न परन्तु तत्सदृश थी। प्राचीन काल मे शको मे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी, कालान्तर मे वह नष्ट हो गई। विष्णुपुराण के चतुर्थांश के तीसरे अध्याय का निम्न पुराणेतिहास इसका प्रमाण है :

बाहुर्योऽसौ हैहयतालजंघादिभिरवजितोऽन्तर्वत्न्या महिष्या सह वन प्रविवेश ॥१५॥ तस्याश्च सपत्न्या गर्भस्तम्भनाय गरो दत्तस्तेनास्या गर्भः स सप्तवर्षाणि जठर एव तस्थौ स च बाहुर्वृद्धभावादौर्वाश्रमसमीपे ममार ॥१६॥ सा तस्य भार्या चितां कृत्वा तमरोप्यानुमरणकृतनिश्चयाऽभूत्। अथैतामतीता-नागतवर्तमान-कालवेदी भगवानौर्वः स्वस्पादाश्रमान्निर्यावाब्रवीत्। अलमेतेनासद्ग्रहेण, अखिल-भूमण्डलपतिरतिवीर्यपराक्रमोऽनेकयज्ञकृदरातिपक्षक्षयकर्ता तवोदरे चक्रवर्ती *तिष्ठति, मैवं मैवं साहसाध्यवसायिनी भवती, भवतु।* इत्युक्ता च सा तस्मादनु-मरणसाहसाविरराम ॥१६॥ तेनैव भगवता स्वाश्रममानीयत, कतिपयदिनान्तरे च सहैव तेन गरेण अतितेजस्वी बालको जज्ञे। तस्यौर्वो जातकर्मादिका क्रियां निष्पाद्य सगर इति नाम चकार। कृतोपनयनं चैनं औवो वेदाञ्शास्त्राण्यशेषाणि

---

[1] ब्राह्मणों के चार वेद कहे गये है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ब्राह्मणों के लिए कहे गये वेद मगों के लिए भी हैं। जब मग आचरण द्वारा विपरीत हो गये तब उनके ये वेद कहे गये : विश्व, विद्वान, वह्नि तथा रस। मगो के वेद ब्रह्मा ने पहले ही कहे हैं।—अनु०।

ग्रन्य चाग्नेय भार्गवाख्यमध्यापयामास । उत्पन्नबुद्धिश्च मरतमपृच्छत् । ग्रम्ब कथमत्र वय क्व वा तात, तातोऽस्माक कः इत्येवमादि पृच्छतस्तन्माता सर्वमवोचत् । तत. पितृराज्यहरणामर्पितो हैहयतालजघादिवधाय प्रतिज्ञामकरोत् । प्रायश्च हैहयाजघान, शकयवनकाम्बोजपारदपल्लवा हन्यमानास्तत्कुलगुरुं वसिष्ठं शरणं ययु ॥ १८ ॥ अथैतान्वसिष्ठो जीवन्मृतकान्कृत्वा सगरमाह । 'वत्स वत्स प्रलमेभिरनिर्जीवमृन्तकैरनुसृतै. ॥१६॥ एते च मयैव त्वत्प्रतिज्ञापरिपालनाय निजधर्मद्विजसगपरित्याग कारिताः ॥२०॥ स तथेति तद्गुरुवचनमभिवन्द्य तेषां वपान्यत्वमकारयत् । यवनान्मुण्डितशिरसोऽर्धमुण्डान् शकान् प्रलम्बकेशान् पारदान् पल्हवाश्च श्मश्रुधरान् निःस्वाध्यायवषट्कारानेतानन्याश्च क्षत्रियांश्चकार, ते च निजधर्मपरित्यागाद् ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छता ययुः । सगरोऽपि स्वमधिष्ठानमागम्यास्खलितचक्रः सप्तद्वीपवतीमिमाभुर्वी प्रशशास ॥२१॥[1]

---

[1] बाहु नामक एक राजा था जो हैहय, ताल और जघ द्वारा पराजित होकर अपनी गर्भवती रानी के साथ वन में चला गया ॥१५॥ रानी की सौत ने गर्भ की रक्षा करने के उद्देश्य से औपध दी । उससे उसका गर्भ सात वर्षो तक पेट ही मे रहा । राजा बाहु वृद्ध था अतः और्व ऋषि के आश्रम के पास उसकी मृत्यु हो गई ॥१६॥ उसकी रानी ने चिता तैयार की और मृत पति के साथ सती हो जाने का निर्णय किया । तब भूत-भविष्य-वर्तमान के ज्ञाता भगवान और्व ऋषि अपने आश्रम से बाहर निकले और बोले—"इस बुरे विचार को त्यागो । तुम्हारे गर्भ में सारे भू-मण्डल का स्वामी, अत्यन्त पराक्रमी, अनेक यज्ञ करने वाला, शत्रुओं को कुचलने वाला तथा चक्रवर्ती राजा विश्राम कर रहा है । ऐसा दुस्साहस मत करो; मत करो ।" ऋषि की यह बात सुनकर रानी ने सती हो जाने का विचार त्याग दिया ॥१७॥ कुछ दिनों बाद उसने औषध-सहित एक अत्यन्त तेजस्वी बालक को जन्म दिया । और्व ऋषि ने उसका जातकर्मादि संस्कार किया और उसका नाम सगर रक्खा । यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न होने पर और्व ऋषि ने उसे चारों वेद तथा समस्त शास्त्र पढ़ाये; साथ ही उसे भार्गव नामक आग्नेयास्त्र प्रदान किया । अध्ययन करने पर उस भाग्यशाली बालक ने अपनी माता से पूछा—"माँ, हम यहाँ कैसे आये ? पिताजी कहाँ है ? वे कौन हैं?"—पुत्र के पूछने पर माता ने सारी राम कहानी सुनाई । तब उसने अपने पिता के राज्य का अपहरण करने वालों पर क्रोध करते हुए हैहय, ताल और जंघादि का वध करने की प्रतिज्ञा की । हैहयों का उसने प्रायः वध किया और वह शक, यवन, काम्बोज, पारद,

इसी को लक्ष्यकर भृगुसंहिता में:

वृषलत्वं गता लोके इमा क्षत्रियजातयः । [१]

आदि श्लोक आये है। आशय यह कि सूर्यवंशीय राजा सगर के काल में शकयवनादि लोग म्लेच्छत्व प्राप्त कर चुके थे। भारतीय युद्ध से गणना करें तो दाशरथी राम लगभग बत्तीसवीं पीढी मे और सगर पचपनवीं पीढ़ी में आते हैं। सगर के काल मे शक, यवन, पारद, पल्हवादि लोग आर्यभ्रष्ट होकर म्लेच्छ तथा वृषल बन गये थे। सभी म्लेच्छ बन चुके थे ऐसा नही दिखायी देता।

श्रीकृष्ण-सुत साम्ब तथा सूर्यपूजक "मग" ब्राह्मण

कुछ आर्यधर्मनिष्ठ लोग शाकद्वीप मे बने रहे। उन्ही मे से मगो के अठारह कुलों के सूर्य स्थापनार्थ श्रीकृष्णसुत साम्ब को साम्बपुर मे ले आये। (भविष्यपुराण, अध्याय क्र० १४०)

उक्त अठारह मग-कुलोत्पन्न लोगो को साम्ब ने अठारह भोजक कन्याएँ दी। उनसे हिन्दुस्तान के प्रस्तुत शाकद्वीपीय मग ब्राह्मण तथा शूद्र उत्पन्न हुए। भविष्यपुराण मे प्रश्न उठाया गया है कि ये मग कौन है। उन्हे शूद्रप्राय समझा जाता था, यह शंका भी उठाई है, और निर्णय किया गया है, कि वे अत्यन्त शुचिर्भूत ब्राह्मण है। तात्पर्य यह है कि सूर्य की प्रतिष्ठापना के लिए अत्यन्त प्राचीन काल से "मग" ब्राह्मणों की नियुक्ति की जाती रही है। यही पद्धति डॉ० भाण्डारकर द्वारा उल्लिखित सूर्य प्रतिमा स्थापना काल मे अनुसरण की गयी। डा० भाण्डारकर का यह कथन कि अनार्य मगो को ब्राह्मण बनाया गया, बिलकुल निराधार है। यूरोपीय पण्डितों के अधकचरे एवं निराधार लेखों का विश्वास कर इस प्रकार का अनर्थ करने से सत्य-निष्पत्ति होना असम्भव है।

पल्लव आदि को भी नष्ट करने में जुट गया। तब वे अपने कुलगुरु वसिष्ठ की शरण मे आये ॥१८॥ तब जीवन्मृतकों को आगे कर वसिष्ठ ने सगर से कहा—"हे वत्स, इन जीवन्मृतकों के पीछे पड़ना छोड दो ॥१९॥ मैंने ही इन्हे तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए धर्म तथा सत्संग-हीन बनाया है" ॥२०॥ तब सगर ने गुरु-वचन को उपयुक्त मानते हुए उन लोगो की वेश-भूषा बदलवाई। यवनों का सिर मुँड़वाया; पारदों के बाल लम्बे रखवाये; पल्हवों के दाढ़ी बढवाई और अन्य क्षत्रियों को स्वाध्याय तथा वषट्कार रहित बनाया। इस प्रकार वे लोग अपना धर्म त्याग कर तथा ब्राह्मणों से अनादृत होकर म्लेच्छ बन गये। इधर सगर अपनी राजधानी में आकर परिपूर्ण राज्य-चक्र सहित सात द्वीप वाली पृथ्वी का शासन करने लगा। ॥२१॥—अनु०।

[१] देखिए पृष्ठ ७५—अनु०।

यह देखना अप्रासंगिक न माना जाय कि यूरोपीय पण्डितों ने गत चार हज़ार वर्षों के भारतवर्षीय इतिहास की किस प्रकार खोज की। यूनानी, चीनी, बौद्ध तथा मुसलमान यात्रिक तथा इतिहासकारों के लेखों में भारत के सम्बन्ध में जो उल्लेख प्राप्त होते हैं उनकी सत्यासत्यता का निर्णय करने में वे आज तक उलझे रहे। भारतीय पुराणों तथा इतिहास की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया। इधर पाँच-दस वर्षों से महाभारत, रामायण, हरिवंश आदि का पृथक्करण करने का उपक्रम किया है। चीनियों के पुराणेतिहास को वे विश्वसनीय मानते हैं, बौद्धों की जातक कथाएँ विश्वास्य मानते हैं यहाँ तक कि यूनानी जातियों की कच्ची टिप्पणियों पर उन्हें विश्वास है, परन्तु भारतीयों के पुराणेतिहास की ओर विश्वास की भावना से देखना प्रारम्भ कर अधिक काल नहीं हुआ। वेबर तो मगों के विषय में भविष्यपुराण तथा बृहत्संहिता के अतिरिक्त कुछ जानता ही नहीं था। महाभारत तथा विष्णुपुराण में "मग" नामक शकों के सम्बन्ध में क्या उल्लेख पाये जाते हैं और भृगुसंहिता मे शकादि भ्रष्ट क्षत्रियों के विषय में क्या इतिहास उपलब्ध होता है, इसकी उसे तनिक भी जानकारी नहीं थी। ऐसी स्थिति में उसका मत ग्राह्य मानने में काफ़ी खतरा था। यही श्रेयस्कर होगा कि डॉ० भाण्डारकर जैसे काँटे की तौल पर विचार करने वाले विद्वानों को इस प्रकार के अधकचरे एवं पंगु मतों को सिद्धान्तवत् मानने की आदत छोड़ देनी चाहिए।

शक, यवन, पल्लव तथा पारद आर्य हैं

शक, यवन, पल्लव, पारद प्राचीनकालीन आर्य हैं जिनमें वर्ण-व्यवस्था थी, पर वह कालान्तर में नष्ट हो गई। फिर भी उनके देशों में बिलकुल अर्वाचीन काल तक अर्थात् भविष्य-पुराण के रचना-काल तक मग ब्राह्मण विद्यमान थे। इसका आशय यह कि वृषलप्राय अथवा म्लेच्छ बने शकादि लोगों को शक सम्वत् की दूसरी और तीसरी शती तक अपनी स्थिति की स्मृति थी। इस तथ्य को ध्यान में रखने पर हम समझ जाते हैं कि शक, पल्लव, यवन, पारद इत्यादि हिन्दू देवताओं, रीति-रिवाजों, नामों, जातियों तथा धर्म के उपासक किस सहज भाव से बन गये थे। उपर्युक्त स्पष्टीकरण से ज्ञात होता है कि भारत के पश्चिम में पंजाब से उत्तर कोंकण तक शकों का, कांची में पल्लवों का, यवनपुर (जौनपुर) में यवनों का, वायव्य प्रान्त में पारदों का आधिपत्य हुआ और ये लोग देखते-देखते हिन्दू देवताओं के उपासक और बौद्ध धर्म के समर्थक अत्यन्त सहजता तथा सुलभता से बन गये थे।

शक राजा कनिष्क का नाम भारतीय कणिक (कणिक-नीति वर्णन करने वाला) नाम से बहुत मिलता है। अतः मन कहता है कि कणिक-नीति

का अध्याय कनिष्क के राज्य के बाद लिखा गया और भारत में उसका प्रचार हुआ।

शातवाहन और शकों ने विवाह सम्बन्ध स्थापित किया, क्योंकि शातवाहन संकरज शूद्र थे और शूद्रातिशूद्र माने जाते थे और शकभ्रष्ट क्षत्रिय या वृषल समझे जाते थे। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि इन दोनों ने विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लिये। शको की भ्रष्टता का ज्ञान शातवाहन राजाओं को था। उन्होंने उन्हे पराजित किया और ऐसा मानते हुए कि चातुर्वर्ण्य विध्वंसकों का नाश किया, आनन्द मनाया, गर्व अनुभव किया।

(कार्ले का १७वाँ लेख)

शक-यवन-पल्लव-पारदो की चर्चा करते समय एक बात और है जिसे आँख-ओझल नही किया जा सकता। पल्लव पारदो से भिन्न थे। मिस्टर फ्लीट अपने "डायनेस्टीज ऑफ़ दि कॅनॅरीज़ डिस्ट्रिक्ट" के पहले अध्याय में कांची के पल्लवों के सम्बन्ध मे लिखते हुए डॉ० ग्रोल्डसिन का यह मत उद्धृत करते है कि "पल्लव" शब्द "पार्थव" (Parthava i.e. Parthian) से निकला है, किन्तु यह व्युत्पत्ति उचित नही है। जिन्हे यूरोपीय विद्वान् पार्थिअन कहते है उन्हें सस्कृत मे "पारद" कहा जाता है। वेबर का कथन है कि पल्हव "असासिडन पार्थिअन" है, किन्तु यह तादात्म्य भी भ्रामक प्रतीत होता है। ऊपर कह आये हैं कि पल्हव पारद या पार्थिअन नही हैं, इसी कारण वे 'असासिडन पार्थिअन" भी नही है। ईरान के पुरातन लोग जो पहलवी भाषा बोलते थे, वे है पल्हव। आज नही कहा जा सकता कि वे दक्षिण में कांची प्रदेश में किस मार्ग से और कब पहुँचे। इसमे कोई सन्देह नहीं कि पल्हव या पल्लव भृगुसहिता मे वर्णित भ्रष्ट क्षत्रिय ही है। भ्रष्ट क्षत्रियत्व की स्मृति जाग्रत रहने के कारण उन्होंने भी आर्यो के रीति-रिवाज और धर्म तथा देवी-देवताओं को सुलभता से स्वीकार कर लिया।

विष्णुपुराण तथा भृगुसंहिता मे यवन भी भ्रष्ट क्षत्रिय कहे गये है। ये लोग राजा सगर के काल में धर्म-भ्रष्ट हुए। वह काल शक-सम्वत् के चार हजार वर्ष पूर्व का था। भ्रष्ट क्षत्रियों ने अर्थात् यवनो ने आगे चलकर यूनान कहलाने वाले देश की शक-सम्वत् के चार हज़ार वर्ष पूर्व के लगभग वही बस जाने के उद्देश्य से राह पकड़ी। यवनों की भाषा यूनानी (ग्रीक) जिन्द-अवेस्ता के बाद संस्कृत के निकट आती है। लगता है कि प्लेटो ने "रिपब्लिक" में चातुर्वर्ण्य-पद्धति का जो वर्णन किया है वह अपने पूर्वजों अर्थात् भ्रष्ट क्षत्रिय यवनों की पूर्व-समाज-स्थिति का वर्णन है। ये लोग पहले एशिया माइनर के पश्चिम

में सागर-किनारे निवास करते होंगे। वहीं रहते समय होमर द्वारा वर्णित ट्रोजन युद्ध हुआ था। यह घटना भी बहुत सूचक है।

यवन, शक, पारद तथा पल्हव सगर के काल में क्षत्रिय-धर्मभ्रष्ट हुए; उसके पूर्व वे क्षत्रिय-धर्मनिष्ठ थे; उसके पूर्व वे चातुर्वर्ण्य-संस्थ थे—इन तीन बातों को विश्वसनीय मान लेने पर निष्कर्ष निकलता है कि पांच हज़ार वर्ष पूर्व जम्बुद्वीप, शाकद्वीप, प्लक्षद्वीप आदि द्वीपों में अर्थात् हिन्दुस्तान, अफगानिस्तान, तिब्बत, तुर्किस्तान, ईरान तथा एशिया माइनर प्रदेशों में चातुर्वर्ण्यबद्ध तथा संस्कृत अथवा संस्कृत के निकट की भाषा बोलने वाले एकवंशीय आर्य निवास करते थे। सगर के उपरान्त इन आर्यों में से शक, यवन, पल्हव तथा पारद क्रियाभ्रष्ट हो गये। इनमें यवन, पल्हवादि धक्के खाकर यूनान में बस गये; धर्मभ्रष्टता के कारण जातिधर्म तो लुप्त हो गया, परन्तु भाषा नहीं छूटी। न देवता छूटे, न दन्तकथाएँ। यूरोपीय प्रयत्नपूर्वक खोज कर रहे हैं कि आर्यों को एशिया के किस प्रदेश से और कब तितर-बितर होना पड़ा; परन्तु अब तक कोई निश्चयात्मक निर्णय नहीं कर पाये हैं। मैंने जो प्रमाण ऊपर दिये हैं उन पर विचार करने से एक निश्चित सिद्धान्त प्रस्थापित करने की ओर कदम बढ़ाया जा सकता है।

ऊपर कह आये है कि मगों को प्रजोत्पादनार्थ भोज-कन्याएँ दी गईं। भोजक द्वारका के आसपास के प्रदेश के निवासी थे और श्री कृष्ण के सवंशीयों तथा प्रजाजनों में थे। भोजक ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय थे। उनकी कन्याएँ मगों के घर दी गईं। इससे वह प्रवाद तथ्यांशपूर्ण प्रतीत होता है कि मग भ्रष्ट ब्राह्मण थे। इन्हीं भोजकों ने भुज (कच्छ) नगर की स्थापना की होगी।

शाकद्वीपीय मग तथा द्वारका के भोजकों के प्राचीन परिचय तथा शरीर-सम्बन्ध से आगे चलकर मगों के देश-बान्धवों और पड़ोसियों ने कई शतियों बाद लाभ उठाया। मुसलमानों ने ईरान के पारसीकों पर विजय पाकर उन्हें कष्ट देना प्रारम्भ किया, तब पारसीकों के ब्राह्मणों तथा शूद्रों ने काठियावाड और गुजरात में बारह सौ वर्ष पूर्व आश्रय लिया और अपने धर्म की रक्षा की। शाकद्वीप के पुरातन धर्म की आंशिक रक्षा करने वाले पारसीक ही आज के पारसी हैं। उपकार करने वाले तथा आश्रय देने वाले भारत के प्रति ये पारसी किस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करेंगे, यह भविष्य में देखना है।

शक-पल्हवों में जिस प्रकार मन्त्रवेत्ता मग ब्राह्मण थे उसी प्रकार प्राचीन मिस्र में भी थे। यह तथ्य इतना प्रसिद्ध है कि उसकी स्थापना के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। निश्चय ही प्राचीन मिस्र में चातुर्वर्ण्य-जैसी कोई व्यवस्था रही होगी। आशय यह कि चार-पाँच हज़ार वर्ष पूर्व मिस्र से लेकर

चीन तक जितने भी देश थे, उन सब में चातुर्वर्ण्य-संस्था तथा जाति-धर्म विद्यमान थे। असूर्यादि देश के असुरों, दैत्यों तथा राक्षसों का रुझान एकवर्णता तथा आचार-भ्रष्टता की ओर अधिक था और भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों में ज्यों-ज्यों वे प्रबल होते गये त्यों-त्यों उन देशों में वर्णाश्रम-व्यवस्था नष्ट होती गई। आज भारतवर्ष के अतिरिक्त किसी देश में चातुर्वर्ण्य शेष नहीं रह गया है। भारत में भी छः करोड़ के लगभग असुरधर्मी निवास करते हैं। आचार-भ्रष्टता की वर्तमान गति देखते हुए लगता है कि कालान्तर में शेष बीस करोड़ चातुर्वर्ण्यधर्मी भी एकवर्णीय बन जायेंगे।

तात्पर्य यह कि प्राचीन काल में पाँच हजार वर्षों पूर्व सुसंस्कृत जगत् में राजा सगर के काल तक सर्वत्र चातुर्वर्ण्यात्मक समाज-व्यवस्था प्रचलित थी। वह धीरे-धीरे संकुचित हो रही है और आज केवल भारत में दिखाई देती है। आगे चलकर वह समूल नष्ट हो जायगी या सारे संसार में अगले पाँच हजार वर्षों में फैल जायगी, इसका निर्णय समय-देवता ही कर सकते हैं। प्रभु ने कहा भी तो है:—

धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।

८ | मगध

शब्द-कल्पद्रुम में "मगध" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—मगं दोषं दधाति इति मगधः। शब्द-कल्पद्रुमकार ने "मग" का अर्थ "दोष" किस प्रकार दिया है, समझ में नहीं आता। किसी अन्य संस्कृत-कोष में यह अर्थ नहीं मिलता। अतः दोष अर्थ ऐतिहासिक नहीं है, केवल काल्पनिक दिखाई देता है। वाचस्पत्य में "मग" शब्द का अर्थ "दोष". इस प्रकार निकाला गया है—"मगधः देशभेदः। स च कीकटेति संज्ञः अगदेशस्थः। अंगवंगकलिंगान्ध्रान् गत्वा संस्कारमर्हति इति मिताक्षराया देवलः। अतः मगधस्य पापजनकत्वात् मगशब्दस्य दोषार्थत्वम्।" इस अर्थ-निष्पत्ति से तो अंग, वंग, आन्ध्र शब्द भी पापार्थक हो सकते है। अर्थात् "मग" का "दोष" ऐतिहासिक अर्थ नहीं है। खींच-तान कर लगाया गया है, अतएव त्याज्य है।

मेरे मत मे मगध की व्युत्पत्ति इस प्रकार करनी चाहिए—"मगान् दधाति इति मगधः।" मग लोगों को जो देश धारण करता है वह है मगध। मग शाकद्वीप (मध्य एशिया) के ब्राह्मण थे, वे जिस देश मे निवास करने लगे वह मगध देश है। उसके पहले उस प्रदेश का क्या नाम था, इसका आज पता लगाना साधनों के अभाव में मेरे लिए असम्भव सा हो गया है। मगध देश मे बुद्ध का उदय (कदाचित् जन्म) हुआ। बुद्ध शाक्य अर्थात् शाकवंशीय थे। उन्हें शक नहीं कहा जाता, उनका कुल ही शाक्य कहलाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मगध के नाम से जो देश प्रसिद्ध था उसमें शाकद्वीप के शक ब्राह्मण, क्षत्रियादि आकर बस गये और शकों के "मग" ब्राह्मण के आधार पर देश को मगध नाम मिला।

पाणिनि को "मगध" शब्द ज्ञात था। "द्व्यञ्" मगध कलिंग सूरमसादण" (४-१-१७०)। स्पष्ट है कि मगादि शक पाणिनि के पूर्व मगध मे आकर बस चुके थे।

"मगध" का एक अर्थ है स्तुति करनेवाला। वह संस्कृत धातु "मगध्" से निकला है। "मगध्यन्ते इति मगधाः। मगध याञ्चायाम्।" धातुपाठ में एक अर्थ दिया गया है: "मगध् परिवेष्टने, नीचदास्ये इति अन्ये।" नीचदास्यार्थक "मगध्" धातु मगध देश के नाम से निकली है। इससे प्रतीत होता है कि "मगध"

धातु का नीचदास्यात्मक अर्थ उस देश मे याचना करने तथा वंश-स्तुति गाने वाले व्यावसायिक भिखारियों के आधार पर निश्चित किया गया होगा। "मगध् परिवेष्टने" धातु "मगध् याञ्चायाम्" से बिलकुल भिन्न है। अंग्रेजी मे "नो" (to know) जानना क्रिया "नो" (to know) "स्त्री-समागम करना" से भिन्न है; उसी प्रकार 'मगध् परिवेष्टने" धातु "मगध् याञ्चायाम्" से भिन्न है। "नो" जानना का सम्बन्ध संस्कृत की "ज्ञा" धातु से है तथा "नो" "स्त्री-समागम करना" का सम्बन्ध संस्कृत की "जन् : उत्पन्न करना" धातु से है। अंग्रेजी मे दोनों धातुएँ अपभ्रष्ट होकर समान रूप से "नो" उच्चारित होती हैं। "ज्ञा" के "ज" के स्थान पर "के" (K) तथा "ञ" के स्थान पर "एन" (N) तथा "जन्" के "ज" के स्थान पर "के" तथा "न" के स्थान पर "एन" दोनों धातुओं के व्यंजनों के चिह्न अंग्रेजी अपभ्रंश में समान बने रहे। इसी कारण दोनों का उच्चारण समान होता है। केवल अर्थ से उनकी भिन्नता पहचानी जाती है। इसी प्रकार "मगध् याञ्चायाम्" तथा "मगध् परिवेष्टने"— ये दो भिन्न धातुयें समान उच्चारण होते हुए भी, लगता है कि पूर्ववैदिक भाषाओं में "मगध् परिवेष्टने" धातु का मूल कुछ और रहा होगा। "मगध् याञ्चायाम्" नामधातु "मगध" देश के नाम से प्रचार मे आई, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। याञ्चार्थ "मगध्" धातु नामधातु है। परिवेष्टनार्थक "मगध्" धातु नामधातु नहीं है। तंलबुद्धिन्यून सस्कृत वैयाकरणों ने इन दो धातुओं को एक समझकर उनकी गणना "कण्ड्वादि गण" मे की है।

चूँकि याञ्चार्थक "मगध्" धातु मगध देश के नाम से निकली है इसलिए स्पष्ट है कि स्तुतिपाठक मगध्-भिखारी उस देश मे आकर रहने लगे, तभी उस देश को "मगध" अभिधान प्राप्त हुआ और अन्य प्रदेशो मे वे मगध अथवा मागध के नाम से पहचाने जाने लगे। यह किस प्रकार सम्भव हुआ, इसका उदाहरण अर्वाचीन इतिहास मे से दिया जा सकता है। महाराष्ट्र में 'गुजराती' शब्द का अर्थ है एक विशेष जाति का, पानी भरने वाला व्यक्ति। "भय्या" या "पुरभय्या" का अर्थ है दरवान। "पजाबी" का अर्थ है विशिष्ट जाति का पहलवान और "गोवेकरीण" का अर्थ है विशिष्ट प्रान्त (गोवा—अनु०) की वेश्या। हमने एक "गुजराथी" रक्खा है या "भय्या" रक्खा है या "पंजाबी" पाल रक्खा है या "गोवेकरीण" रख छोडी है—इन वाक्यों में पानी भरने वाला, दरवान, पहलवान, वेश्या अर्थ की प्रतीति होती है। उसी प्रकार प्राचीन काल में "मगध" अथवा "मागध" शब्द से स्तुतिपाठक अर्थ की प्रतीति होती थी। तात्पर्य, पुरातन काल मे मगध देश मे राजवंश के स्तुतिपाठक शब्द के लिए 'मगध' एक पर्यायवाची शब्द बन गया।

९ | नट तथा निच्छिवि

प्रसिद्ध है कि जैन धर्म के संस्थापक महावीर नट जाति के थे। इस जाति का उल्लेख मनुसंहिता के दशमध्याय के वाईमवे श्लोक मे किया गया है। व्रात्य क्षत्रिय तथा सवर्ण अर्थात् क्षत्रिय स्त्री के गमागम से जो मन्तान होती है उसे मनुसहिता मे "नट" संज्ञा दी गई है। कहने की आवश्यकता नही कि महावीर का जन्म इमी व्रात्य क्षत्रिय जाति मे हुआ।

नट लोग वैशाली के निकट वस गये थे। वैशाली में लिच्छिवि नामक क्षत्रियों का राज्य था। लिच्छिवि मनुसंहिता के दसवें अध्याय के वाईसवें श्लोक मे उल्लिखित 'निच्छिवि' नामक व्रात्य क्षत्रियों की जाति थी। "निच्छिवि" शब्द के "नि" के स्थान पर "लि" होकर प्राकृत शब्द "लिच्छिवि" निष्पन्न हुआ। प्राकृत मे "न" का "ल" हो जाता है, उदाहरणार्थ संस्कृत : निम्व=प्राकृत : लिम्व। प्राकृत "निच्छिवि" का अपभ्रंश अथवा पर्यायवाची शब्द है "लिच्छिवि"।

इमी लिच्छिवि जाति की कुमारदेवी मे शक-सम्वत् २२० (२९८ ई०) के लगभग गुप्त-वश के आदि पुरुष चन्द्रगुप्त ने विवाह किया। (वी०ए० स्मिथ कृत अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया; अध्याय ११)

निच्छिवि शब्द का भारत के शिवि, शिवि देशवाचक तथा तद्देशराजवाचक शब्दों मे सम्वन्ध रहा प्रतीत होता है। शिविदेश के निकट का प्रदेश निच्छिवि था। शिवि देश के शिवि नामक शुद्ध क्षत्रियों से जो व्रात्य क्षत्रिय हुए उनका देश ही निच्छिवि देश बना।

निच्छिवि, लिच्छिवि अथवा लिच्छवि व्रात्य क्षत्रिय शक-सम्वत् ५५७ (६३५ ई०) के लगभग नेपाल के सिंहासन पर विराजमान हुए।

गौतमवुद्ध के चरित्र मे लिच्छिवियों का नाम अधिकतर आता है।

१० | महाराष्ट्र की "प्राकृतिक" भाषाओं तथा साहित्य का इतिहास

महाराष्ट्र-सन्दर्भ

हमारे मतानुसार लेख्य इतिहास दो प्रकार के हो सकते हैं : (१) महाराष्ट्र की प्राकृतिक भाषाओं का इतिहास तथा (२) महाराष्ट्र के साहित्य का इतिहास । पहले महाराष्ट्र की प्राकृतिक भाषाओं के इतिहास पर विचार करें।

महाराष्ट्र की भाषा को प्राकृत कहे तो उससे उद्भूत अपभ्रंशों को हम "प्राकृतिक" कहते है । प्राकृतिक भाषा का अर्थ हुआ नागर मराठी भाषा तथा महाराष्ट्र की अन्य प्रान्तीय तथा जातीय मराठी भाषाएँ । इन सब भाषाओं का इतिहास ही मराठी प्राकृतिक भाषा का इतिहास है । भाषा के इतिहास के अन्तर्गत शब्द, प्रत्यय, आगम, स्वर, आघात आदि अंगों का इतिहास आता है। इतिहास परम्परा तथा परम्परा के नियमों का दूसरा नाम है । पूर्ववर्ती भाषा से परवर्ती भाषा के अवयव किस प्रकार तैयार हुए है, यह दिखलाना ही उनका इतिहास वर्णन करना है । सिद्धान्त तो दो-तीन वाक्यों मे लिखा जा सकता है, परन्तु उसी को शब्दबद्ध करने में, आइए देखे कि किन कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है ।

भाषा के इतिहास के लिए शब्द-संग्रह की आवश्यकता

कल्पना कीजिए कि एक सर्वज्ञ व्यक्ति है जो मराठी भाषा-शास्त्रज्ञ है जिसने मराठी की वर्तमान, मध्य तथा प्राचीन अवस्थाओं से पूर्ण साक्षात्कार किया है । यदि वह शास्त्रज्ञ अपने साक्षात्कृत अनुभव अन्य जनों को कराने का प्रयत्न करे तो वह निम्नलिखित मार्ग चुनेगा । वह सर्वप्रथम वर्तमान तथा भूत नागर, प्रान्तीय तथा जातीय मराठी भाषा के अखिल लिखित तथा मौखिक रूप में व्यवहार मे आने वाले शब्द तथा प्रत्यय एकत्र करेगा और उसके पश्चात् वे नियम और प्रक्रियाएँ दिखलाएगा जिनके आधार पर एकत्र किये गये शब्दों तथा प्रत्ययों का अपभ्रंश, महाराष्ट्री, प्राचीन महाराष्ट्री,

संस्कृत, वैदिक तथा पूर्व-वैदिक आदि भाषाओं के शब्द-प्रत्ययों से सम्बन्ध स्थापित हुआ है। यह कार्य करते समय उसे भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों तथा प्रत्ययों की सूची बनाने के लिए विद्वानों की सहायता लेनी पड़ेगी क्योंकि एक सर्वज्ञ शास्त्री के लिए इस प्रकार का प्रायः शारीरिक तथा अधिकतर मानसिक श्रमपूर्ण कार्य एक निश्चित कालावधि में पूरा करना सम्भव नहीं है। अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति न प्रारम्भ कर सकता है, न समाप्त कर सकता है। यह कार्य है अत्यन्त कठिन और यह ईमानदारी से पूरा होना भी चाहिए। खरापन उच्च शिक्षा तथा शास्त्रीय अध्ययन-अभ्यास के बिना नहीं आती। सहायक भी उच्च योग्यता-प्राप्त होने चाहिए। कार्य का विस्तार भी असीम है। मराठी का शब्द-समुद्र विशाल है। हमारा अनुमान है कि मोल्स्वर्थ के कोश में वर्तमान एवं भूत मराठी भाषा के शब्द-समुद्र का आधा भाग ही आ पाया होगा। अतएव अखिल शब्द समुद्र का आलोड़न करना हो तो सहायकों को वर्तमान एवं भूतकालीन मराठी भाषा का लिखित तथा मौखिक साहित्य अत्यन्त सावधानी से छान मारना पड़ेगा और नवीन शब्द, प्रत्यय अथवा स्तर मिलते ही उन्हें साक्षेपपूर्वक दर्ज कर लेना होगा। कोश तैयार करने वाले इस श्रम को खूब जानते हैं।

शब्दों की व्युत्पत्ति का अन्वेषण

सहायक उक्त कार्य अलग से करते रहते हैं, दूसरी ओर इतिहासकार खोजे गये शब्दों की पूर्ववर्ती भाषागत परम्परा निश्चित करने का बारीक काम करता रहता है। इतिहासकार कैसा ही व्युत्पन्नमति क्यों न हो, कह नहीं सकते कि वह शब्द की व्युत्पत्ति उर्फ इतिहास चुटकियों में बतला ही देगा। ऐतिहासिक व्युत्पत्ति की गति अनुलोम होती है—वह भूत से वर्तमान की ओर आती है। यास्क के निरुक्त की काल्पनिक व्युत्पत्ति की भाँति वर्तमान से भूत की ओर—ऐसी होगी, ऐसी भी होगी,—इस प्रकार द्विधायुक्त, प्रतिलोम, अनिश्चित एवं अकिंचितकर नहीं होती। पर यह कहने का साहस भी नहीं करना चाहिए कि यास्काचार्य ने द्विधायुक्त, प्रतिलोम व्युत्पत्ति भूल से दी है। यास्क के युग में वेदभाषा इतनी पुरानी पड़ चुकी थी कि तत्कालीन वैदिक जन उसे भलीभाँति समझ तक न पाते थे। वेदपूर्व अर्थात् पूर्व-वैदिक भाषा तो कुछ इतनी प्राचीन हो चुकी थी कि यास्काचार्य के समय में उसके अवशेष भी नहीं रह गये थे। अतः यास्काचार्य के पास वैदिक शब्द की अनुलोम तथा निश्चित व्युत्पत्ति अथवा इतिहास प्रस्तुत कर पाने का कोई साधन नहीं था। इस कठिनाई का सामना करते हुए उन्हें व्युत्पत्ति देकर असमाहित संतोष कर चुप रह जाना पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि जिस पूर्व

वैदिक भाषा से वैदिक भाषा निकली उसमें व्याप्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने का सादा तथा सरल कार्य, इतिहास-पद्धति का अज्ञान होने से यास्काचार्य जानते ही नही थे। जो भी हो, मराठी व्युत्पत्तिकार को यास्कीय दुरवस्था नहीं ग्रस सकती; क्योंकि आज भी मराठी की पूर्ववर्ती अपभ्रंश तथा महाराष्ट्री भाषायें उसकी सहायता के लिए उपस्थित हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत तथा वैदिक, ये दो सगी भाषाएँ भी विद्यमान हैं। अतः मराठी भाषा के व्युत्पत्तिकार या शब्देतिहासकार या भाषा-इतिहासकार को प्रतिलोम, अनिश्चित व्युत्पत्ति का दोषी मानने की जरा भी सम्भावना नहीं होगी। सौभाग्य से इस सम्बन्ध में यास्क की अपेक्षा मराठी भाषा के इतिहासकार का मार्ग प्रशस्त है, परन्तु एक दूसरी बात के सम्बन्ध मे मराठी निरुक्तकार को घोर एवं निविड़ अरण्यों में से जाना पड़ेगा। पूर्व वैदिक साहित्य का नितान्त अभाव होने से यास्क को ग्रन्थाध्ययन तथा वैदिक शब्दों के पूर्व-वैदिक पूर्व शब्द खोजने का श्रम नही करना पड़ा। मराठी निरुक्तकार पर महाराष्ट्री, संस्कृत, वैदिक आदि तीन-चार भाषाओ के अपार साहित्य के निबिड़ अरण्य में जाकर उनकी पत्तियों से अपने पास की पत्तियों की तुलना करके सही पता लगाने का उत्तरदायित्व है। अपने पास का एक पत्ता दूसरे वृक्ष का हो सकता है, अपना एक पत्ता अनेक वृक्षों के पत्तो जैसा हो सकता है, अथवा अपने अनेक पत्ते एक ही पेड़ के हो सकते हैं—इस प्रकार के त्रिविध सन्देह मे पड़कर मराठी निरुक्तकार घबरा जाता है। यास्क की भाँति यह द्विधापूर्ण उत्तर भी नही दे सकते कि ऐसा होगा, ऐसा भी होगा। निश्चित उत्तर की अपेक्षा होती है, क्योंकि हम जानते हैं कि उत्तर है। उदाहरणार्थ यहाँ दस-पाँच मराठी शब्दों की परीक्षा[1] की जाती है जिससे सहृदय पाठकों को हमारे दृष्टिकोण की प्रतीति होगी—

(१) मराठी शब्द "पाणी"[2] जलार्थक "पाणी" संस्कृत "पानीयं" शब्द का सर्वमान्य अपभ्रंश है। परन्तु "तलवार का पानी" प्रयोग में "पानी" शब्द किस संस्कृत शब्द का अपभ्रंश होगा? लक्षरण के आधार पर तलवार के दमकने के लिए "पानी" शब्द की योजना तो नही की गई? लक्षणा की दृष्टि से देखें तो गधा आदमी पर सवार हो सकता है परन्तु निरुक्त में लक्षणा सदैव प्रामाणिक नहीं मानी जाती। अतः दमक, दीप्त-अर्थक पानी शब्द की व्युत्पत्ति

[1] यहाँ, जहाँ तक बन पड़ा है हिन्दी के समानार्थी शब्द तथा वाक्यप्रयोग देकर अनुवाद किया गया है किन्तु दोनों भाषाओं की प्रकृति-भिन्नता के कारण पाठक को सावधानी से पढ़ना चाहिए—अनु०।

[2] हिन्दी : पानी—अनु०।

अलग ही होगी। यह मात्र तर्क हुआ। धातुपाठ में 'पू : शुद्ध करना" धातु है। "तलवार को पानी देना" अर्थात् उसे अग्नि में शुद्ध करना। पू-पावनीयं=पाग्र-णीग्रं=पाणी। जलार्थक "पानी" "पा" धातु से और उज्ज्वलार्थक पानी "पू" धातु से निकला है, यह निर्णय किया। दोनों शब्द एकदम भिन्न है और शास्त्रीय कोष मे उनकी भिन्नता दिखलानी पड़ेगी।

(२) फार[१]. यह शब्द संस्कृत 'स्फार' से निकला बतलाया जाता है। परन्तु 'फार करून'[२] अव्यय के 'फार' की व्युत्पत्ति कैसे करे? 'करून'[३] का कर्म 'फार' नही कहा जा सकता। अतः 'फार करून' को अव्यय मानकर एक शब्द कहना उचित है। संस्कृत मे "प्रायस्कृत्वा" अव्यय है। प्रायस्कृत्वा=फार करून प्रायस्कृत्वा म न आयास्यति="फार" बहुत करके वह नहीं आयेगा। तात्पर्य, मराठी मे दो "फार" है। एक "स्फार" मे और दूसरा "प्रायः" से उदभूत हुआ है।

(३) भीक[४]: भिक्षा से निकला है। परन्तु एक प्रयोग है? "मी त्याला भीक घालीत नाही"।[५] इसमें आये हुए प्रवाह-सूचक 'भीक' शब्द की क्या व्युत्पत्ति दी जायेगी? हाँ लक्षणा की खींचा-तानी होगी तब कहीं भीख से पर्वाह तक दौड़ पाएँगे। संस्कृत में भयार्थक "भीषा" शब्द है। भीषा=भीख=भीक। "मी त्याला भीक घालीत नाही" का अर्थ है मैं उससे नहीं डरता। "भीक"—भय, पर्वाह। दोनों शब्द भिन्न हैं, उच्चारण समान है। कोश में अलग दिखाने पड़ेगे।

(४) भरणें[६]: सामान्यतः 'भृ' से निकला माना जाता है परन्तु "मला रागें भरला"[७] वाक्य में "भरला" की क्या व्युत्पत्ति होगी! "रागें भरला" कठोर शब्द बोला। 'रागावणें'[८] शब्द "रागे भरणें" शब्द प्रयोग से भिन्न हैं। "रागें

१ विपुलतादर्शक विशेषण—अनु०।
२ अधिकतर, बहुत करके—अनु०।
३ करके—अनु०।
४ भीख—अनु०।
५ मैं उसे जूते की नोंक पर मारता हूँ—अनु०।
६ भरना—अनु०।
७ मुझसे कठोर बातें कीं—अनु०।
८ क्रोध करना—अनु०।

भरणें" में बोलने की क्रिया दर्शाई गई है जो "रागावणें" में नहीं दिखाई देती। समाधान : संस्कृत में "भृ भर्त्सने" धातु है। उससे "कठोर शब्दार्थक भरना" बना। "क्रोधेन मा परिभृणाति"=क्रोधानें मला रागें भरतो[1]। रागें : तृतीया। भर्त्सनार्थक "भरना" शब्द पूरणार्थक "भरना" से भिन्न है।

(५) बोलणें[2]: "आदमी बोलता है" वाक्य में "बोलना" संस्कृत "बल्ह्" धातु से निकला है जो सब लोग मान्य करते हैं। परन्तु धन्धा "बोलता" है वाक्य में "बोलना" क्रिया किस संस्कृत धातु की अपभ्रंश है ? धन्धा "बोलता" है अर्थात् प्रगति पर है। समाधान : संस्कृत में "पुल वृद्धौ" धातु है। पोलति= बोल्लइ=बोले। भाषणार्थक बोलना वृद्ध्यर्थक "बोलना" से भिन्न है।

(६) काढणें[3]: 'कृष्' से "काढणें" सर्वमान्य है। परन्तु "थाव, त्याचे काढतों, तुझे काढतों"[4] वाक्य में "काढ" की निष्पत्ति कैसी हो ? यहाँ अर्थ है मारना, पीटना। समाधान : "क्रथ्" : मारना जो संस्कृत धातु है, उसका कर्म षष्ठ्यन्त होता है। "तस्य क्राथयामि=त्याचे काढतो।" कर्षणात्मक "काढणें" मारणार्थक "काढणें" से अलग है। क्राथय : काढ[5]।

(७) पाडणें[6]:"पातय्" से बना है। परन्तु "फलया पडाणें"[7]"फाकी पाडणें"[8] "तुकड़े पाडणें"[9] में आया हुआ "पाडणें" के बारे में क्या कहें ? यहाँ 'पाडणें' "कापणें"[10] के अर्थ में आया है। समाधान: संस्कृत "पाट्य्" से 'पाड' निकला है। 'फलकान् पाटयति'=फलक चीरता है।

(८) चोरणें[11]: 'चुर' से बना है। परन्तु "अंग चोरणे"[12] "चोरून जाणें"[13] में "चोर" कहाँ से आया ? यहाँ "चोरणें" का अर्थ है लुकछिपकर

---

१ क्रोध में मेरी भर्त्सना करता है—अनु०।
२ बोलना—अनु०।
३ निकालना, खींचना—अनु०।
४ ठहर, उसे अभी देखता हूँ, तुझे देखता हूँ—अनु०।
५ निकालो, खींचो—अनु०।
६ गिराना—अनु०।
७ तख्तियाँ बनाना—अनु०।
८ फाँकें बनाना—अनु०।
९ टुकड़े करना—अनु०।
१० काटना, चीरना—अनु०।
११ चुराना—अनु०।
१२ बदन चुराना—अनु०।
१३ छिपकर जाना—अनु०।

जाना। संस्कृत में "त्सरः छद्मगतौ" धातु है। त्सरणें=चोरणें, अगत्सरणें=अंग चोरणें[1] । त्स=च।

(९) जा[2]: संस्कृत "या" से मराठी में "जा" सर्वमान्य हो गया है। परन्तु "येत नाही जा !"[3] "मर जा।"[4] वाक्यों में "जा" कहाँ से आया है? समाधानः संस्कृत "ध्य न्ययकरणे" धातु है। उसके आशीलिङ् के द्वितीय पुरुष में एकवचन का रूप है "ध्यायाः"। "ध्यायाः, नैष्यामि:"=जा जा। नहीं आता। यहाँ "जाणें" क्रिया का अर्थ तिरस्कारात्मक है। गमनार्थक "जा" तथा तिरस्कारार्थक "जा" भिन्न है। ध्य=ज्ज।

(१०) दगड[5]: सं दृषद्=दसड=दगड—यह अरमार्थक पत्थर शब्द की परम्परा सर्वमान्य है। परन्तु "अरे दगडा, तू मूर्ख आहेस"[6] में "दगड" कहाँ से आया? क्या लक्षणा से अर्थ निकालें? समाधान: संस्कृत में निम्न प्रयोग होता आया है: "रे दग्ध। मूर्खोऽसि"। अतः दग्ध=दगड=दगड=डगड। "दग्ध" याने निन्द्य। निन्द्यार्थक "दगड" और अरमार्थक "दगड" भिन्न हैं।

(११) दुद्ढाचार्य[7]: इस शब्द की प्रतिलोम गति से व्युत्पत्ति देने जायें तो अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं, परन्तु वे सब अनैतिहासिक तथा अनिश्चित रहेंगे। मूल संस्कृत में इस मराठी शब्द का पूर्व शब्द अचानक पढ़ते समय मिलेगा, तभी इसकी व्युत्पत्ति निश्चित की जा सकेगी। संस्कृत में "दोग्धृ" शब्द है जिसका अर्थ है "किराये का कवि"। किराये के रद्दी कवियों में जो श्रेष्ठ वह दोग्ध्राचार्य कहलाता था। दोग्ध्राचार्य=दोढ्ढाचार्य=दुद्ढाचार्य। मराठी में इस शब्द का अर्थ ढोंगी, पाखण्डी आदि है। कन्नड "दोड्ड"[8] से "दुद्ढ" की व्युत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

इस प्रकार कई उदाहरण दिये जा सकते है। तात्पर्य यह है कि मराठी निरुक्त यास्कीय निरुक्त की भाँति स्याद्वादी नहीं, अद्वैतवादी है। इसके अतिरिक्त

---

1. बदन चुराना-छुपाना—अनु०।
2. जाओ—अनु०।
3. नहीं आता, जाओ !—अनु०।
4. जाओ, मरो—अनु०।
5. पत्थर—अनु०।
6. अरे पत्थर, तू मूर्ख है—अनु०।
7. बड़ा प्रतिष्ठित व्यक्ति : व्यंग्यार्थ में—अनु०।
8. बड़ा—अनु०।

भाषा के जन्म से लेकर अद्यतन काल तक उक्त रूपान्तर मे क्या-क्या परिवर्तन हुए, इन सबकी नियमबद्ध कथा का वर्णन करना मराठी भाषा का इतिहास लिखना है। यदि मातृभाषा के अन्य अपत्य अथवा सगे-सम्बन्धी हों तो उन सब के रूपों मे सम्बन्धित अपत्य का रूप किस बात में और किस कारण सम-विषम है, इसका ऊहापोह भाषा के इतिहास मे किया जाय तो उसका रूप स्पष्टता तथा समस्त विशेषताओ सहित ध्यान मे आ सकता है। इसी प्रकार जिस समाज मे, संस्कृति मे तथा जलवायु मे मातृ-भाषा ने जन्म पाया, वह पाली-पोसी गई उस समाज, संस्कृति तथा जलवायु से भिन्न परिस्थितियों मे अपत्य-भाषा का जन्म तथा पालन-पोषण होने के कारण उसका रूप किस प्रकार तथा कितने अंशो मे बदल गया है, आदि प्रश्नों के उत्तर भी इतिहास में आते है। इतिहास लिखते समय तीन अध्याय तैयार हो ही जाते है—

(१) आदेश-प्रक्रिया जो यूरोप मे "फोनेटिक्स" कहलाती है,[१] (२) वर्तमान, तथा भूतकालीन व्याकरण तथा (३) वाक्य-रचना का इतिहास। (१) आदेश-प्रक्रिया मे पूर्व से परवर्ती भाषा मे शब्दो का किस प्रकार और कैसा रूपान्तर होता है, इसका निरूपण किया जाता है। (२) व्याकरण में भाषा के वर्तमान तथा भूतकालीन रूपो का पृथक्करण किया जाता है और (३) वाक्ये-तिहास मे दिखलाया जाता है कि गद्य-पद्य वाक्यो की रचना समय-समय पर कैसे-कैसे बढ़ती-बदलती गई। तात्पर्य यह कि मराठी भाषा के इतिहास की रचना करनी हो तो निम्न प्रकरणो का निर्माण करना होगा—

(१) कोश अथवा निघण्टु (२) निरुक्त (३) व्याकरण (४) आदेश-प्रक्रिया तथा उच्चारण एवं अक्षरो का इतिहास (५) वाक्य-प्रक्रिया।

विवरण

(१) भाषा के विस्तार के ज्ञान के लिए अखिल मृत तथा जीवित शब्दो का कोश अथवा निघण्टु तैयार करना पड़ता है। मराठी मे अखिल शब्दो का समावेश करने वाला निघण्टु नही है। मोल्स्वर्थ का कोश तथा रघुनाथ शास्त्री गोडबोले का "हंस-कोश"[२] दोनो मे मिलाकर मराठी के लगभग पचास प्रतिशत शब्द संगृहीत हुए है अतः मराठी भाषा के इतिहासकार को अखिल शब्दो का निघण्टु तैयार करना अपरिहार्य है।

---

[१] "हिन्दी ध्वनि-विज्ञान" के अर्थ में—अनु०।

[२] मराठी के प्राचीन कोशकार। [illegible] : मरा[illegible] (१८७० ई०), हंसकोश [illegible] नवीन कोश (१८७६ ई०), म[illegible] भार[illegible] ऐतिहासिक

(२) निघण्टु तैयार करते समय तथा तैयार कर चुकने के बाद दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है समस्त शब्दों की पूर्व-भाषा से व्युत्पत्ति दिखलाना। व्युत्पादन को ही शब्दों का इतिहास कहते हैं। संस्कृत में व्युत्पादन को निरुक्त कहा गया है। मराठी में व्युत्पत्ति के अत्यन्त प्राथमिक प्रयत्न किये गये हैं। राजवाडे[१] ने हजारों शब्दों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति अवश्य दिखलाई है किन्तु हजारों शब्दों के बारे में अब भी कुछ नहीं कहा जा सकता। अत यह कार्य भी शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न होना परमावश्यक है कि जिसके अभाव में प्रासाद पूर्ण नहीं हो सकता।

(३) इतिहास का तीसरा अंग व्याकरण है जिसमें शब्द-रूपों तथा शब्दों का पृथक्करण दिया जाता है। संस्कृत में पाणिनि ने पृथक्करण का जैसा कार्य किया है वैसा मराठी भाषा के सम्बन्ध में नहीं किया गया है। दादोबा, गोडबोले, दामले प्रभृति[२] के व्याकरण अत्यन्त अशास्त्रीय एव अपूर्ण हैं। फिर भी दामले का व्याकरण अपेक्षाकृत शास्त्रीय दृष्टिकोण से तैयार किया गया है। इस विकट स्थिति में शास्त्रीय मराठी व्याकरण की रचना करना अत्यन्त आवश्यक है। पाणिनीय पद्धति तथा ऐतिहासिक पद्धति की सहायता लेकर मराठी का व्याकरण लिखना होगा। किन वस्तुओं का इतिहास दिया जाय, इसका निर्णय वर्तमान तथा भूतकालीन व्याकरण के अभाव में इतिहासकार नहीं कर पायेगा।

(४) आश्चर्य का विषय है कि पाणिनि ने अक्षर, उच्चारण तथा आदेश का इतिहास नहीं दिया है। वे वैदिक तथा संस्कृत भाषाओं के रूप से परिचित थे अतः दोनों की रूप-सिद्धि उन्होंने की है। किन्तु वैदिक भाषा से संस्कृत में आते समय शब्दों के रूपों में किन नियमों से परिवर्तन हुआ, उसका वर्णन करने का विचार पाणिनि ने स्वप्न में भी नहीं किया। उन्होंने यह भी कहीं स्पष्टता से नहीं लिखा है कि वैदिक पूर्ववर्ती तथा संस्कृत-परवर्ती भाषा है। वे इतना ही जानते हैं कि वैदिक संस्कृत से भिन्न भाषा है। वे "भाषा" और "छन्दस्" दो शब्दों की योजना कर दोनों को समकालीन समझते हैं। प्राचीन

---

१ स्वयं लेखक—अनु०।

२ स्व० दादोबा पाण्डुरंग तर्खडकर, स्व० रघुनाथ शास्त्री गोडबोले, स्व० मोरो केशव दामले। स्व० दादोबा पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शास्त्रीय नीव पर कोश तैयार करने का यत्न किया। दामले का "शास्त्रीय मराठी व्याकरण" मराठी में स्व० कामता प्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण की भाँति लोकप्रिय है। दोनों की रचना-समानता द्रष्टव्य है—अनु०।

ज्ञानेश्वर-कालीन मराठी तथा वर्तमान चिपलूणकर[1]-कालीन मराठी को सम-कालीन मानकर यदि कोई मराठी वैयाकरण काल-भिन्नता भूलकर कहे कि नई मराठी से पुरानी मराठी में रूप-सिद्धि अमुक प्रकार से भिन्न हो जाती है तो वह जो भूल करेगा वही पाणिनि ने की है। हमारा मत है कि पाणिनि ने काल की ओर जान-बूझकर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि पाणिनि-पूर्वकालीन उपनिषदों के कई उदाहरणों से बतलाया जा सकता है कि शब्दों की व्युत्पत्ति (अर्थात् इतिहास) प्राचीन भाषा में दी गई है। काल या इतिहास की ओर ध्यान न देने के कारण पाणिनि की निर्मल कृति में कलंक रह गया है। "गम" का गच्छ होता है तथा "अस्मद्" का "अहं" —पाणिनि इतना कह कर चुप हो जाते है, वे नहीं खोज करते कि "गच्छ" तथा "अहं" रूप पूर्व-वैदिक भाषा के ही सकते है अथवा नहीं और न यही बतलाते है कि ये परिवर्तन किस प्रकार हुए। सार्वधातुक के बाद "दृश्" का "पश्य्" हो जाता है तथा आर्धधातुक के बाद "दृश्" बना रहता है—पाणिनि इससे अधिक नही कहते, क्यों ऐसा होता है, इसका उत्तर देने का प्रयत्न उनसे नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि उन्होंने अविच्छिन्न माना। वररुचि-जैसे प्राकृत-वैयाकरणों ने बहुत कुछ इसी दृष्टि से शब्दों को देखा।

प्राकृत के वैयाकरणों के ग्रन्थों को व्याकरण-ग्रन्थ अवश्य कहा जाता है परन्तु उनमें प्राकृत भाषाओं के व्याकरण के ऊहापोह की अपेक्षा अधिक "आदेश प्रक्रिया" का वर्णन पाया जाता है। "शेष संस्कृतवत्" कहकर वे व्याकरण का उत्तरदायित्व पाणिनि पर छोड देते है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत के वैयाकरण वस्तुतः आदेश-प्रक्रियाकार अर्थात् फोनेटीशियन्स है और एक अर्थ में प्रति-शाख्यकारों के उत्तराधिकारी है। प्राकृत आदेश-प्रक्रियाकारों की सबसे बड़ी न्यूनता यह है कि उन्होंने "आदेशों" के सम्पूर्ण क्षेत्र की छानबीन करने का प्रयत्न भी नहीं किया ; न वे महाराष्ट्री आदि भाषाओं के अनेक शब्दों के संस्कृत पूर्व-शब्द ही दिखला पाये है ; और न उन्होंने महाराष्ट्री आदि भाषाओं के कोश तैयार किये। सम्पूर्ण कोश के अभाव में सम्पूर्ण व्युत्पत्ति के उत्तरदायित्व का निर्वाह उनसे नहीं हो पाया। सम्पूर्ण व्युत्पत्ति का ज्ञान न होने से सम्पूर्ण "आदेश-प्रक्रिया" दिखलाना उनके लिए असम्भव था। हम

---

[1] स्व० विष्णुशास्त्री चिपलूणकर (१८५०-१८८२ ई०) "निबन्धमाला" के सम्पादक। निबन्धमाला के स्वतन्त्र, स्वाभिमानी एवं राष्ट्रीय मतों ने महाराष्ट्र में विचारकों की एक पीढ़ी तैयार की। "मराठी भाषा के शिवाजी"—अनु०।

आधुनिकों की स्वाभाविक इच्छा है कि मराठी मे इस प्रकार की कोई न्यूनता न रह पाये। इच्छा केवल इच्छा न रही, उसे थोडा-बहुत मूर्त स्वरूप भी उपलब्ध हो चुका है। ग्रियर्सन, भाण्डारकर, ब्लॉक, इन तीनो ने क्रमशः जर्मनी, महाराष्ट्र तथा फ्रान्स देशो में मराठी की "आदेश-प्रक्रिया" विषयक खोजें प्रकाशित की हैं। डा० भाण्डारकर ने सबसे पहले प्रयत्न किया। तीनो प्रयत्न अपूर्ण है, उन्हे परिपूर्ण बनाने के लिए नये सिरे से प्रयत्न करना आवश्यक है। ब्लॉक का ग्रन्थ प्रकाशित होकर दो वर्ष भी नहीं बीते है। ध्यान मे रखे कि तीनो प्रयत्न परिभाषाओ मे किये गये है, इसलिए हमें उनसे अधिक स्नेह नही। यदि वैसा ग्रन्थ तैयार हो जाय तो मराठी भाषा की व्युत्पत्ति के नियमो का सबको भलीभाँति ज्ञान प्राप्त होगा तथा भाषा के इतिहास की साधना पूर्ण होगी।

(५) उच्चारण, अक्षर तथा शब्दों के विवरण के पश्चात् वाक्यो का क्रम आना स्वाभाविक है। वाक्य के शब्दो के अन्योन्य सम्बन्धों का तथा प्रयोग की प्रकृति मे समय-समय पर होने वाले परिवर्तनो का वर्णन इतिहास के प्रथम भाग मे कर चुकने के बाद इस आशय का ऐतिहासिक निरूपण करना पडेगा कि वाक्य की शब्द-रचना संस्कृत की भाँति समस्त है अथवा अँग्रेजी की भाँति व्यस्त; तुर्की की भाँति श्लिष्ट हैं अथवा चीनी की भाँति एकदम मुक्त तथा एकपदीय, और वह जिस रूप मे पायी जाती है वह पूर्व से परवर्ती भाषा मे किस प्रकार आयी। वाक्य दो प्रकार के होते है—गद्य तथा पद्य। पद्य-वाक्य के विचार को छन्दशास्त्र कहते हैं। पूर्व-भाषा से परवर्ती भाषा मे गद्य तथा पद्य की पद्धतियाँ किस प्रकार उद्भूत हुईं और परवर्ती भाषा मे उनका विकास किस प्रकार हुआ, यह विषय गद्य-पद्य-वाक्येतिहास के अन्तर्गत आता है।

वाक्य-विचार के पश्चात् इतिहासकार को वाक्य-समूह की ओर मुड़ना होगा। यहाँ रीति, शैली उर्फ पद्धति का ऊहापोह करना पड़ेगा। इसी अवसर पर लालित्य, सौष्ठव, योग्यता, कठोरता इत्यादि का इतिहास देकर, रीति के कालानुरूप उदाहरण देकर, समय-समय पर होने वाले परिवर्तन दिखलाकर भाषा का इतिहास समाप्त करना होगा। इस अध्याय के सैद्धान्तिक रूप को संस्कृत मे साहित्य-शास्त्र कहते है। सैद्धान्तिक रूप को संस्कृत मे उत्कृष्ट रीति से विचार किया गया है। साहित्य के इतिहास का नितान्त अभाव है। भाषा के इतिहास का अंग मानकर उसका विकास दिखलाने का कार्य नये सिरे से मराठी को करना होगा। मराठी छन्दों का इतिहास देने का प्रयत्न अन्यत्र एक निबन्ध में किया है। वाक्येतिहास के शेष अंगों से मराठी अब तक अपरिचित है।

इस प्रकार मराठी भाषा का इतिहास लिखना हो तो निम्नलिखित पाँच ग्रन्थ तैयार करने होंगे :—

(१) कोश अर्थात् निघण्टु (२) निरुक्त (३) व्याकरण (४) 'आदेश-प्रक्रिया' (५) वाक्येतिहास या साहित्य का इतिहास।

निघण्टु और व्याकरण भाषा के सैद्धान्तिक नियमों का वर्णन करते हैं अतः ये इतिहास नहीं, इतिहास के साधन हैं। आज ये दोनों साधन मराठी को उपलब्ध होते तो नये सिरे से तैयारी करने का श्रम न करना पड़ता। चूँकि सुविधा का अभाव है अतः इतिहास-विवेचक को चाहिए कि स्वयं तैयार करे। शब्देतिहास अथवा निरुक्त, 'आदेश-प्रक्रिया' तथा साहित्येतिहास अत्यन्त श्रम-पूर्वक करने योग्य कार्य हैं। अतः मराठी भाषा-इतिहासकार को पाँचों कार्य करने हैं। किसी भाषा-शास्त्री के अधीन चार-पाँच विद्वान सहायक कम-से-कम चार-पाँच वर्ष काम करेंगे तो उन पाँच अध्यायों की मनोनुकूल रचना हो पायेगी। इस कष्टकर कार्य में अनुमान से क्या खर्चा आएगा इसका विचार एक अन्य प्रकरण की समाप्ति के बाद करेंगे।

कह चुके हैं कि कोश, निरुक्त, व्याकरण तथा 'आदेश-प्रक्रिया' इन चार अंगों में केवल शब्द का विचार होता है। शब्द-शक्ति नामक जो एक विशेष अंग है उसका विचार ज़रा भी नहीं किया जाता। आशय यह कि उक्त चार अध्यायों में भाषा के बाह्यांग का याने केवल देह का विचार हो पाता है, अन्तरंग का याने शक्ति का या अर्थ का बिलकुल नहीं; न उसकी यहाँ आवश्यकता है। पाँचवें अध्याय में वाक्य-प्रक्रिया के अन्तर्गत, जब उसका साहित्य की दृष्टि से मूल्यांकन होता है तब शब्द का विचार भी आता है और शब्द शक्ति का भी। लालित्य, परषता, सौष्ठव तथा अन्य बाह्यालंकार शब्द की देह और ध्वनि, व्यंजना, लक्षणा आदि अन्तरलंकार शब्द की आत्मा का दर्शन कराते हैं। साहित्य-क्षेत्र में भाषा के बाह्यांग की अपेक्षा अन्तरंग—अर्थ—की महत्ता स्थापित हुई दीख पड़ती है। शब्द यदि छिलका है तो अर्थ मगज—कुछ ऐसा भेद साहित्य-वृक्ष के फल में मिलता है। यहीं से वह भाग आरम्भ होता है जिसे वाङ्मय या साहित्य कहते हैं।

साहित्य की व्याप्ति

भूत, वर्तमान तथा भविष्य में मनुष्य के मुख से शब्दों का रूप लेकर जो सार्थ एवं सम्पूर्ण उक्ति अवतरित हुई, होती है और होगी वह साहित्य है। साहित्य में अर्थ की ओर ध्यान दिया जाता है; शब्द की ओर नहीं। साहित्य

दो प्रकार का है : (१) मौखिक (२) लिखित। लिपि की खोज पूरी हो चुकने के बाद लिखित साहित्य का जन्म होता है, उसके पूर्व समस्त साहित्य मौखिक रूप मे बना रहता है। "वाङ्मय" शब्द से प्रकट होता है कि लिपि की खोज के पहले भारतीय आर्यों का समस्त साहित्य मौखिक रूप मे था। लिखित तथा मौखिक साहित्य दो भागों मे विभाजित किया जाता है : (१) लौकिक तथा (२) पारलौकिक। इस लोक के प्रपंच से अनन्य-सम्बन्ध स्थापित करने वाला साहित्य "पारलौकिक" कहलाता है। लौकिक साहित्य के तीन अग है : (१) ज्ञानवर्धक, (२) व्यवहारवर्धक तथा (३) प्रसारक। जिस साहित्य की सहायता से विश्व की अन्तर्बाह्य खोज प्रकाशित तथा प्रदर्शित की जाती है वह ज्ञानवर्धक या शास्त्रीय साहित्य, जिससे व्यवहारवर्धक कलाओं का प्रकाशन अथवा प्रदर्शन होता है वह व्यवहारवर्धक या कलात्मक साहित्य; और जिसके द्वारा समाज के छोटे-बड़े, बाल-वयस्क व्यक्ति शास्त्रों तथा कलाओं का प्रारम्भिक मनोरंजन तथा मूल तत्वात्मक ज्ञान प्राप्त करते है वह कलाओं तथा शास्त्रों का प्रसारक साहित्य कहलाता है। प्रसारक साहित्य दो प्रकार का है : (१) बालोपयोगी और (२) बालेतरोपयोगी। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च पाठशालाओं मे चार से पच्चीस वर्ष की वयस् के शालेय बालकों अर्थात् अज्ञजनों में शास्त्रों तथा कलाओं के मूल तत्वों का प्रसार बालोपयोगी प्रसारक साहित्य और शालेयावस्था पार कर चुकनेवाले बालेतर अज्ञजनों को शास्त्रज्ञान एव कलाज्ञान की क्रमशः किन्तु स्थूल जानकारी देने की व्यवस्था बालेतरोपयोगी प्रसारक साहित्य करता है। बालेतरोपयोगी प्रसारक साहित्य ज्ञान-प्रसार का कार्य मनोरंजक प्रबन्धों द्वारा करता है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, पोवाडे[1], लावणी[2], पद, नीति-निबन्ध, मनोरजक चरित्र, आल्हादकारक इतिहास, शास्त्र एवं कलाओं की जानकारी देनेवाली चित्रालंकृत पुस्तिका, सामान्य समाचार पत्र तथा मासिक पत्रिका—ये सब बालेतरोपयोगी प्रसारक साहित्य के अन्तर्गत आते है। इनमे उच्च कोटि के काव्य, नाटक, उपन्यास, पद, निबन्ध, नीति-प्रबन्ध आदि विदग्ध-वाङ्मय या सारस्वत का कार्य विख्यात है। शास्त्रों तथा कलाओं का आकलन कर पाने की जिन्हें दुर्भाग्यवश सुविधा नही मिल पाती उन्हें सुसभ्य, नीतिमान तथा नागर बनाने का कार्य विदग्ध-वाङ्मय करता है। विदग्ध-वाङ्मय का असाधारण धर्म है चमत्कृतिजनक शब्दो तथा

---

[1] वीररसात्मक कथा-काव्य। आज भी महाराष्ट्र में बहुत लोकप्रिय है—अनु०।

[2] शृंगाररसात्मक स्फुट गीति-काव्य—अनु०।

वाक्योंसहित अवतीर्ण होना। वह केवल चमत्कृति है जो बालेतर अज्ञजनों का चित्त हरण कर, मम्मट के कथनानुसार स्त्रियों की खट-मिट्ठी बातों की सहायता से उन्हें शास्त्रों एवं कलाओं के कण का आस्वाद पाने के लिए प्रवृत्त करती है। ध्वनि, व्यंजना, लक्षणा, अर्थालंकार तथा रीति या "स्टाइल" का स्वांग भर कर चमत्कृति चित्ताकर्षण करती है और स्मृति, उत्प्रेक्षा, प्रत्यक्षीकरण इत्यादि रूपों से श्रोताओं अथवा पाठकों को उत्तेजित करती है। सामान्य जन विदग्ध-वाङ्मय के निरतिशय प्रेमी है तो उसकी आकर्षकता तथा उत्तेजकता के कारण; इसी कारण विदग्ध-वाङ्मय के कुशल कारीगरों की स्तुति की जाती है। सामान्य जनो की बहुसंख्या होने के कारण विदग्ध-वाङ्मयकारो का बेहिसाब बोलबाला होता है। उनकी आवश्यकता से अधिक प्रशस्ति भले ही हो, यह भूलना असम्भव है कि विदग्ध-वाङ्मय अन्ततः प्रसारक है, शास्त्रीय वाङ्मय की भाँति निर्णायक अथवा कला-वाङ्मय जितना उपयोगी नहीं है। लौकिक साहित्य का कुल विस्तार तथा वर्गीकरण इस प्रकार है।

पारलौकिक साहित्य मे परमार्थ का विचार किया जाता है जिसके तीन भाग हैं : (१) शास्त्र (२) कलाएँ (३) प्रसार। पारलौकिक शास्त्रज्ञान का अर्थ है अध्यात्म-विद्या। पारलौकिक कलाज्ञान का अर्थ है भक्ति, तन्त्र, यज्ञयाग आदि; एवं पारलौकिक प्रसार साहित्य का अर्थ है बाल-बालेतरों मे अध्यात्म-विद्या तथा भक्ति आदि का ज्ञान प्रसृत करनेवाला सुबोध अथवा कथात्मक अथवा मूलतत्वात्मक साहित्य।

वाङ्मयेतिहास के प्रकार

लौकिक एवं पारलौकिक मौखिक एवं लिखित साहित्य इस प्रकार है। द्विविध साहित्य के इतिहास को ही साहित्य का इतिहास कहते है। सारस्वत या विदग्ध-वाङ्मय का इतिहास साहित्येतिहास का एक अंश है पर उसे बहुत महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता। साहित्य-वंश के वृक्ष का इस प्रकार आरेखन कर सकते हैं :

साहित्य
(मौखिक एवं लिखित)

लौकिक

पारलौकिक
५

ज्ञानोत्पादक
(शास्त्र)
१

व्यवहारोत्पादक
(कलाएँ)
२

शास्त्र-कला-ज्ञान-प्रसारक

बालोपयोगी
३

बालेतरोपयोगी
(विदग्ध-वाङ्मय)
४
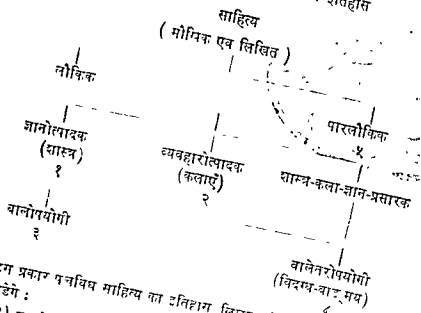
इस प्रकार पञ्चविध साहित्य का इतिहास लिखना हो तो उसके पांच खण्ड करने पड़ेंगे :

(१) शास्त्रेतिहास (२) कला का इतिहास (३) बालोपयोगी शास्त्र-कला-ज्ञान-प्रसारक साहित्येतिहास (४) विदग्ध-साहित्येतिहास अथवा चमत्कृतिजनक साहित्येतिहास (५) परलोक सम्बन्धी साहित्येतिहास ।

पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व यूरोपीय भाषाओं मे छोटे-बड़े साहित्येतिहास लिखे गये उन्होंने विदग्ध-वाङ्मय पर अधिक बल दिया है । उन इतिहासों मे शास्त्र, कलाएँ, बाल-शिक्षा तथा परलोक सम्बन्धी साहित्य की जो चार-पाँच बड़ी शाखाएँ हैं उनका या तो अत्यन्त अल्प दर्शन मिलता है या मिलता ही नहीं । यूरोपीय इतिहासों को देखकर हमारे यहाँ के लोगों ने भी साहित्येतिहास का अधकचरा आदर्श तैयार किया । कवियों का जीवन-चरित्र, उनके काव्य का गुण, दोष-विवेचन तथा उसका गुणग्रहण करना ही वाङ्मयेतिहास में प्रमुख स्थान प्राप्त करता है । ऐसी अपक्व धारणा साहित्य परिषद् तथा महाजनी[1] आदि ने

[1] महाराष्ट्र साहित्य परिषद् की ओर से 'विविध-ज्ञान-विस्तार' नामक पत्रिका के जून १९१८ के अंक मे पृष्ठ ५६ पर श्री विष्णु मोरेश्वर महाजनी ने एक टिप्पणी प्रकाशित कराई थी : मराठी भाषेचा (भाषा का) इतिहास । टिप्पणी मराठी साहित्य के इतिहास की रचना करने-कराने के सम्बन्ध मे थी जिसके लिए साहित्य परिषद् ने ३०० रु० का पुरस्कार घोषित किया था । महाजनी की टिप्पणी में जहाँ योजना का

बना ली है। परन्तु यह अनुचित है। इसकी कल्पना उपर्युक्त विवेचन से निश्चय ही होगी। साहित्य के इतिहास को साहित्य के प्रत्येक अंग को समाविष्ट करना पड़ेगा। केवल विदग्ध-साहित्य पर भूस मिटाकर रहना आज के युग में न सम्भव है, न इष्ट ही।

वाङ्मय तथा इतिहास

हमने "वाङ्मय का इतिहास" शब्द-प्रयोग किया है। इससे प्रकट होता है कि साहित्य और इतिहास दो भिन्न वस्तुएँ हैं। प्रधानता की दृष्टि से इतिहास साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। यदि यह सत्य है अर्थात् यदि इतिहास साहित्य का असली भाग नहीं है तो वह किसके अन्तर्गत आता है? इतिहास किस वस्तु का नाम है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि इतिहास साहित्य की वृत्ति है। जिस प्रकार कला बुद्धि का धर्म है उसी प्रकार इतिहास उस साहित्य का धर्म है जो बुद्धि का प्रदर्शक है। अखिल साहित्य काल पर छाया हुआ है अर्थात् उस पर काल का आवरण है। काल के दो अथवा अधिक अंश लेकर इतिहास दिखलाता है कि उक्त अवधि में साहित्य में क्या-क्या परिवर्तन हुए। साहित्येतिहास साहित्य की गतकालीन कथा है। इस कथा का वर्णन दो प्रकार से किया जा सकता है: (१) शास्त्रीय पद्धति से और (२) ज्ञान-प्रसार हेतु से। गणना, कार्य-कारण सम्बन्ध-दर्शन तथा वर्गीकरण की दृष्टि से साहित्य के परिवर्तनों की मीमांसा करना शास्त्रीय पद्धति से इतिहास लिखना है। अज्ञ बालकों अथवा अज्ञ प्रौढ़ जनों की जानकारी के लिए मनोरंजक शब्दों में साहित्य की बालसुलभ एवं चमत्कृतिजनक कहानी सुनाना सामान्य जनप्रिय इतिहास लिखना है। महाजनी आदि ने यह नहीं स्पष्ट किया कि वे किस पद्धति का अवलम्बन करना चाहते हैं। चूँकि लोकप्रिय इतिहास की रचना शास्त्रीय इतिहास की नींव पर अर्थात् तत्पश्चात् हो सकती है इसलिए साहित्य-परिषद् जैसे विद्वन्मण्डल को

विवरण दिया गया है, वहाँ भाषा के इतिहास के स्थान पर साहित्य के इतिहास की चर्चा की गई है। प्रतीत होता है कि क्या महाजनी, किसी को स्पष्ट कल्पना नहीं थी कि भाषा का इतिहास साहित्य के इतिहास से भिन्न होता है। इसके अतिरिक्त कदाचित महाजनी का मत था कि साहित्य के इतिहास में कवियों के सम्बन्ध में जानकारी दी जाती है और उनकी कविता का सामान्य परिचयात्मक परीक्षण किया जाता है। यह दृष्टिकोण जैसा कि स्पष्ट है, अत्यन्त भ्रामक था और राजवाड़ेजी ने यहाँ दोनों की भूल दिखलाई है—अनु०।

शास्त्रीय इतिहास ही मुख्यतः अभिप्रेत है—इस विचार से महाराष्ट्र के साहित्ये-तिहास की व्याप्ति की मर्यादाओं की चर्चा कर रहे है।

महाराष्ट्रीयों का वाङ्मय

शक-सम्वत् ५०० (५७८ ई०) से शक-सम्वत् १८४० (सन् १९१८ ई०) तक १३४० वर्षों मे महाराष्ट्र-निवासियो ने निम्नलिखित भाषाओ मे साहित्य-रचना की है : (१) संस्कृत (२) मराठी (३) फारसी (४) व्रज (५) अंग्रेजी। संस्कृत में शास्त्र, कलाएँ तथा विदग्ध-साहित्यादि तीन शाखाएँ प्रदर्शित हुई हैं। मराठी में शास्त्रीय, कला-विषयक अथवा बाल-साहित्य अधिक नहीं है, केवल पारलौकिक तथा किंचित् लौकिक विदग्ध-साहित्य की रचना की गई है। फारसी तथा व्रजभाषा मे अत्यन्त अल्प रचनाएँ पायी जाती हैं, परन्तु पायी अवश्य जाती है। अंग्रेजी मे आजकल अर्थशास्त्र तथा प्राचीन शोधकार्य के सम्बन्ध में शास्त्रीय लेखन हो रहा है। भाषानुसार महाराष्ट्रीय साहित्य की व्याप्ति इस प्रकार है।

११ | मराठों का इतिहास किस प्रकार लिखा जाय ?

एक प्रश्न हर बार उपस्थित होता रहा है कि मराठों का इतिहास किस प्रकार लिखा जाय। इसका उत्तर केवल यही दिया जा सकता है कि यदि इतिहास शास्त्रीय पद्धति से लिखा जाय तभी उसका स्थायी मूल्य रहेगा। आज महाराष्ट्रीयों को इतिहास-लेखन का अपूर्व अवसर उपलब्ध है। उत्कृष्ट इतिहास-लेखन की पद्धति यूरोपीय इतिहासवेत्ता प्रस्तुत कर चुके हैं, उससे लाभ उठाकर मराठों के इतिहास का प्रासाद निर्माण किया जाना चाहिए। सत्रहवीं और अठारहवीं शती में यूरोप के इतिहासकारों और चरित्रकारों ने जो भूलें कीं, आज उन्नीसवीं शती के अन्त में हम भी वही भूलें करने लगें तो कहना पड़ेगा कि उन्नीसवीं शती के यूरोप से परिचित होकर भी हम कुछ न कर पाये।

इतिहास-लेखन के पाँच सिद्धान्त

मराठों के इतिहास के अध्येताओं को पाँच सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए : (१) इतिहास तथा जीवनी किसी प्रकार के पूर्वाग्रह सहित नहीं लिखनी चाहिए। आज तक लिखी गयी अधिकांश जीवनियों में यह दोष स्पष्टतया दृष्टि में आता है। महादजी शिन्दे[1], गोविन्दपन्त बुन्देला,[2] परशुरामभाऊ पटवर्धन,[3] बापू गोखले[4] बाजीराव प्रथम आदि समस्त सेनानायक अद्वितीय

---

[1] सुप्रसिद्ध मराठा वीर। ग्वालियर राज्य के संस्थापक। अँग्रेजी के अनुकरण से हिन्दी में लिखे भारत के इतिहासों में अशुद्ध नाम मिलता है:— माधाजी सेन्दिया या सिन्दिया—अनु०।

[2] बाजीराव का एक सैनिक जो आगे चलकर बुन्देलखण्ड का शासक बना। अब्दाली द्वारा युद्ध में मारा गया—अनु०।

[3] सवाई माधवराव पेशवा के काल में सेनापति था। पेशवाओं के कार्यों को भली भाँति समझकर आत्मीयता से स्वीकार करने वालों में सर्वप्रथम रहा। जीवन के अन्त में अधिकार-लालसा से प्रेरित होकर अँग्रेजों से सन्धि की—अनु०।

[4] मराठा राज्य का स्वामिनिष्ठ अन्तिम सेनापति। अँग्रेजों से युद्ध करते हुए मारा गया—अनु०।

योद्धा थे, ऐसी उनके चरित्रकारों की मान्यता है। यह भी स्पष्ट है कि बाजीराव प्रथम की बराबरी में उपर्युक्त में से एक भी योद्धा नहीं आ सकता। बाजीराव के पश्चात् महादजी की समानता कोई सेनापति नहीं कर सकता। मेरी धारणा है कि परशुरामभाऊ पटवर्धन द्वितीय श्रेणी का सेनानायक था। गोविन्दपन्त बुन्देला और बापू गोखले कनिष्ठ श्रेणी के सेनापति थे। इस कथन को हर समझदार व्यक्ति स्वीकार करेगा। बापू गोखले ने तो किसी गोरे अधिकारी का सर्टिफिकेट ले रखा था! "सर्टिफिकेटिया" सेनापति का मूल्य क्या होना चाहिए इसका विशद वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। यह बात सेनापतित्व की हुई। बहुत-से इतिहासकार यह सिद्ध करने को लालायित रहते हैं कि मराठे हर दृष्टि से श्रेष्ठ थे, बहुत से इसके विरुद्ध विचार रखते हैं। ये सब पूर्वाग्रह के उदाहरण हैं जिनसे मुक्त होना नितान्त आवश्यक है। (२) पर्याप्त तथ्यपूर्ण जानकारी के अभाव में जीवनी तथा इतिहास-लेखन का बखेड़ा नहीं मोल लेना चाहिए। (३) यदि लिखने का संकल्प कर चुके हों तो साफ-साफ लिख देना चाहिए कि अपने पास कौनसी जानकारी नहीं है। पर्याप्त तथ्यपूर्ण प्रमाण-संग्रह अपने पास न रखकर इतिहास लिखने वाले के सम्बन्ध में अभिप्राय देना पड़ेगा कि वह जानकार नहीं है। (४) पर्याप्त तथ्यपूर्ण जानकारी के आधार पर निष्कर्ष निकालना हो तो अवश्य निकालना चाहिए। चौथा सिद्धान्त पहले सिद्धान्त का रूपान्तर प्रतीत होता है, परन्तु वह वास्तविकता नहीं। पहले में पूर्वाग्रह-प्रधान तथा चौथे सिद्धान्त में पश्चादाग्रह-प्रधान पद्धति का निर्देश किया गया है। पूर्वाग्रह मनमाना होता है, पश्चादाग्रह पर्याप्त तथ्यपूर्ण प्रमाणों के आधार पर वही होता है जो होना चाहिए।

इधर जो इतिहास तथा जीवनियाँ लिखी गयी हैं उनमें पूर्वाग्रह-पद्धति की प्रमुखता दिखायी देती है। अनेक ग्रन्थों में तो दोनों पद्धतियों का एक विचित्र सम्मिश्रण पाया जाता है। उदाहरणार्थ एक ग्रन्थ में शिवाजी की शासन-पद्धति विषयक क्लृप्ति देखिए। यहाँ तीन निष्कर्ष निकाले हैं: (अ) शिवाजी की शासन-पद्धति अष्ट प्रधानात्मक थी; (आ) वह मुसलमानों की शासन-पद्धति से भिन्न थी; (इ) वह यूरोपीय मन्त्रिमण्डलीय-सरकार जैसी थी। उक्त क्लृप्ति का प्रथम भाग अधिकांश में पश्चादाग्रहोत्पन्न है अर्थात् साधार है। शिवाजी की जो बखर तथा एक-दो तथ्यपूर्ण दस्तावेज आज तक प्रकाशित हुए हैं उनके आधार पर शिवाजी की शासन-पद्धति अष्टप्रधानात्मक थी, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं।

विचार करने की बात यह है कि प्रधानों की संख्या आठ थी या अधिक।

काव्येतिहास-संग्रह[1] का पत्र क्र० ४०४ शिवाजी के राज्याभिषेक व
है। उस पत्र में मुख्य प्रधान, अमात्य, सचिव, सेनापति, पण्डितराव, न्य
मन्त्री, चिटणीस, सुमन्त बक्षी, सेनाधुरन्धर आदि ग्यारह अधिकारियों के
"प्रधानों" में की गयी है। उक्त संहिता का आशय यह है कि युद्धादि
के सम्बन्ध में या राजपत्रों पर मुद्रा अंकित करने का अधिकार जि
गया है वे "प्रधान" हैं। इस प्रकार उपर्युक्त एकादश अधिकारी "प्रधा
होते हैं, किन्तु संहिता के अन्तिम अनुच्छेद में उन्हें "अष्टप्रधान" नाम से
न्वित किया गया है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि "अष्टप्रधान" शब्द
सम्यावाचक नहीं बल्कि समुदायवाचक है। सही है कि इस निष्कर्ष का
करनेवाला कोई अन्य शिवाजी-कालीन दस्तावेज अब तक उपलब्ध नहीं
परन्तु राजाराम की बखर से ज्ञात होता है कि उसके प्रशासन-काल में
प्रधानों" में नौ व्यक्ति थे। इसी प्रकार शाहू महाराज के प्रशासन-क
नौ अधिकारियों की नियुक्ति हुई थी, यह तथ्य काव्येतिहास-संग्रह के प
४०५ के आधार पर स्वीकार करना पड़ता है। शिवाजी के पश्चात् अष्टप्र
की सख्या केवल आठ नहीं थी, यह इन दो प्रमाणों से सिद्ध होता है; यहीं
शिवाजी के काल में भी पायी जाती है जो पत्र क्र० ४०४ से स्पष्ट है।
निश्चित संख्या के सम्बन्ध में है, यह तथ्य निर्विवाद है कि शिवाज
शासन-पद्धति (अष्ट) प्रधानात्मक थी।

यह शासन-पद्धति शिवाजी ने खोज निकाली अथवा मुसलमानों से
की अथवा प्राचीन संस्कृत नीतिशास्त्र से ली? मेरे मतानुसार शिवा
मुसलमानों से ली। "पेशवा",[2] "मुजूमदार"[3] "वाकनीस",[4] "सुरनीस"

---

१ मराठी के श्रेष्ठ गद्य-युग-निर्माता स्व० विष्णुशास्त्री चिपलूणकर
"इतिहास" शीर्षक निबन्ध से प्रेरित होकर स्व० शालिग्राम, साने
मोडक आदि लोगों ने स० १८७८ ई० में "काव्येतिहास-संग्रह" ना
मासिक-पत्रिका प्रकाशित की। मराठी में ऐतिहासिक खोजों की शा
शुद्ध परम्परा यहीं से प्रारम्भ होती है। पत्रिका में पहले-पहल "बख
प्रकाशित होती थी, कालान्तर में ऐतिहासिक दस्तावेज भी आने लगे
महाराष्ट्र की जनता में स्वदेश, स्वधर्म एवं स्वभाषा के प्रति जागृ
अभिमान की भावना जाग्रत करने का श्रेय "काव्येतिहास-संग्रह" को है
—अनु०।

२ अगुआ, नेता (फारसी)—अनु०।

३ वसूली करने वाला अधिकारी (मज्मूअ+दार)—अनु०।

४ दैनन्दिन घटनाएँ लिखने वाला (वाक़िया:+नवीस)—अनु०।

५ सरकारी खबरें लिखने वाला (सर+नवीस) ।

(४) सन् १७०७ ई० से सन् १७३१ ई० तक स्वराज्य-स्थापना तथा 'हिन्दू पद-बादशाही' का इतिहास।

(५) सन् १७३१ ई० से सन् १७६१ ई० तक "ब्राह्मण पद-बादशाही" का इतिहास।

(६) सन् १७६१ ई० से सन् १७९६ ई० तक 'ब्राह्मण पद-बादशाही' को जीवित रखने का इतिहास।

(७) सन् १७९६ ई० से सन् १८१८ ई० तक महाराष्ट्र-साम्राज्य के पतन का इतिहास।

(८) सन् १८२८ ई० से सन् १८९८ ई० तक महाराष्ट्र की अवनति का इतिहास।

मराठों के इतिहास के इन विभागों के साथ महाराष्ट्र के भू-ज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक है।

१२ महाराष्ट्र का उपनिवेशन

महाराजिक एवं महाराष्ट्रिक

"महाराष्ट्र का उपनिवेश-काल" शीर्षक लेख मे हम अल्पाश मे बतला चुके हैं कि "महरट्ट" या "महाराष्ट्रिक "कौन थे। महाराजा + ठन्" सूत्र मे पाणिनि कह चुके है कि "महाराज" जिनकी भक्ति का विषय है वे महाराजिक है। "महाराज किसे कहा जाता था ? पाणिनि के युग मे "महाराज" शब्द के दो अर्थ प्रचलित थे। एक, इन्द्र और दूसरा, सामान्य राजाओ से बड़ा राजा। पहले अर्थानुसार "महाराजिक" इन्द्र के भक्त हुए और दूसरे अर्थानुसार "महाराज" कहलाने वाले अथवा "महाराज" उपाधि धारण करने वाले भूपति के भक्त "महाराजिक" हुए। उक्त दोनो अर्थो को स्वीकार करने के बाद भी प्रश्न उठता है कि "महाराजिक" का "महाराष्ट्रिक" से क्या सम्बन्ध है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि राजा जिस भूमि पर राज्य करता है उसे "राष्ट्र" कहते हैं और जो राष्ट्र के प्रति भक्ति रखते है वे "राष्ट्रिक" कहलाते हैं। इस आधार पर महाराजा जिस भूमि पर महाराज्य करते थे वह "महाराष्ट्र" और जो महाराष्ट्र के भक्त थे वे "महाराष्ट्रिक" कहलाये। महाराजा जिनकी भक्ति का विषय थे उन्हे "माहाराजिक" तथा महाराजा का महाराष्ट्र जिनकी भक्ति का विषय था उन्हे "महाराष्ट्रिक" कहा जाता था। तात्पर्य यह कि "महाराज" व्यक्ति को लक्ष्य कर बना "महाराजिक" तथा "महाराष्ट्र" को लक्ष्य कर बना "महाराष्ट्रिक"। "महाराष्ट्रिक" शब्द वस्तुत. समानार्थी है।

उपनिवेशी महाराष्ट्रिक, राष्ट्रिक तथा वैराष्ट्रिक

यह निश्चय कर चुकने के बाद कि महाराजिक ही महाराष्ट्रिक थे, एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस समय दक्षिणारण्य में उपनिवेशन के विचार से महाराष्ट्रिक चल दिये थे उस समय उत्तरी भारत मे "महाराज"

(४) सन् १७०७ ई० से सन् १७३१ ई० तक स्वराज्य-स्थापना तथा 'हिन्दू पद-बादशाही' का इतिहास।

(५) सन् १७३१ ई० से सन् १७६१ ई० तक "ब्राह्मण पद-बादशाही" का इतिहास।

(६) सन् १७६१ ई० से सन् १७९६ ई० तक 'ब्राह्मण पद-बादशाही' को जीवित रखने का इतिहास।

(७) सन् १७९६ ई० से सन् १८१८ ई० तक महाराष्ट्र-साम्राज्य के पतन का इतिहास।

(८) सन् १८२८ ई० से सन् १८९८ ई० तक महाराष्ट्र की अवनति का इतिहास।

मराठों के इतिहास के इन विभागों के साथ महाराष्ट्र के भू-ज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक है।

१२ महाराष्ट्र का उपनिवेशन

महाराजिक एवं महाराष्ट्रिक

"महाराष्ट्र का उपनिवेश-काल" शीर्षक लेख मे हम अल्पाश मे बतला चुके है कि "महरट्ट" या "महाराष्ट्रिक "कौन थे। महाराजा + ठन्" सूत्र में पाणिनि कह चुके है कि "महाराज" जिनकी भक्ति का विषय है वे महाराजिक है। "महाराज किसे कहा जाता था ? पाणिनि के युग मे "महाराज" शब्द के दो अर्थ प्रचलित थे। एक, इन्द्र और दूसरा, सामान्य राजाओ से बड़ा राजा। पहले अर्थानुसार "महाराजिक" इन्द्र के भक्त हुए और दूसरे अर्थानुसार "महाराज" कहलाने वाले अथवा "महाराज" उपाधि धारण करने वाले भूपति के भक्त "महाराजिक" हुए। उक्त दोनो अर्थों को स्वीकार करने के बाद भी प्रश्न उठता है कि "महाराजिक" का "महाराष्ट्रिक" से क्या सम्बन्ध है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि राजा जिस भूमि पर राज्य करता है उसे "राष्ट्र" कहते है और जो राष्ट्र के प्रति भक्ति रखते है वे "राष्ट्रिक" कहलाते हैं। इस आधार पर महाराजा जिस भूमि पर महाराज्य करते थे वह "महाराष्ट्र" और जो महाराष्ट्र के भक्त थे वे "महाराष्ट्रिक" कहलाये। महाराजा जिनकी भक्ति का विषय थे उन्हे "माहाराजिक" तथा महाराजा का महाराष्ट्र जिनकी भक्ति का विषय था उन्हे "महाराष्ट्रिक" कहा जाता था। तात्पर्य यह कि "महाराज" व्यक्ति को लक्ष्य कर बना "महाराजिक" तथा "महाराष्ट्र" को लक्ष्य कर बना "महाराष्ट्रिक"। "महाराष्ट्रिक" शब्द वस्तुतः समानार्थी है।

उपनिवेशी महाराष्ट्रिक, राष्ट्रिक तथा वैराष्ट्रिक

यह निश्चय कर चुकने के बाद कि महाराजिक ही महाराष्ट्रिक थे, एक अन्य प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस समय दक्षिणारण्य मे उपनिवेशन के विचार से महाराष्ट्रिक चल दिये थे उस समय उत्तरी भारत मे "महाराज"

उपाधिधारी कौन भूपति थे और महाराष्ट्र नामक देश कहाँ था। कहना न होगा कि वह देश मगध था। प्रद्योत, शैशुनाग, नन्द तथा मौर्य-वंशीयों ने क्रमानुसार "माहाराज्य" किया मगध मे। माहाराज्य का क्या अर्थ है ? उस युग मे सार्वभौम सत्ता को "माहाराज्य" कहा जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अध्याय क्र० ३८/३९ मे साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, माहाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य, आतिष्ठ्य तथा एकराज्य आदि ग्यारह प्रकार के नृपति बतलाये गये हैं। मगध के नृपति एकच्छत्रीय या "एकराट्" थे अर्थात् राज्य, साम्राज्य, महाराज्य आदि दस प्रकार के सत्ताधिकारियों से श्रेष्ठ थे, अतः स्पष्ट है कि वे "महाराज" थे। अपने को मगध देशाधिपति महाराज के भक्त कहने वाले महाराष्ट्रिको ने जब दक्षिणारण्य मे बस्ती की तो वे "महाराष्ट्रिक" कहलाये।

बौद्ध-क्रान्ति से त्रस्त होकर दक्षिणारण्य में प्रवेश करनेवाले मागधीय महाराष्ट्रिको की भाँति "राष्ट्रिक" नामक अन्य लोग भी आये। ये ही हैं जिन्हे अशोक ने अपने शिलालेखों में "रास्टिक" कहा है। राष्ट्रिक मगधवासी नही थे, वे "कुरुपाञ्चाल" के थे। तात्पर्य, राष्ट्रिक महाराष्ट्रिकों से भिन्न थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अड़तीसवे अध्याय में निम्नलिखित उल्लेख द्रष्टव्य है :—

"एतामेव देवानां विहितं अन्वेयैनं अस्यां
ध्रुवाया मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि
साध्याश्चाप्त्याश्च देवाः षड्भिश्चैव पंचविंशै-
रहोभि. अभ्यषिचन् एतेन च तृचेन एतेन च
यजुषा एताभिश्च व्याहृतिभी राज्याय तस्माद् अस्यां
ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठाया दिशि ये के च
कुरुपाचालानां राजानः सवशोशीनराणां राज्याय एव
तेऽभिषिचन्ते राजेत्येनान् अभिषिक्तान् आचक्षते"

उक्त उल्लेख का प्रमुख आशय यह है कि भारत की पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर दिशाओं के बीच अवस्थित कुरुपांचाल देश के नृपति "राजा" की उपाधि धारण करते थे। स्पष्ट है कि कुरुपांचाल राजाओं का राज्य "राष्ट्र" सम्बोधित किया जाता था और उस राष्ट्र के भक्त राष्ट्रिक कहलाते थे। अशोक ने महाराष्ट्रिकों का नहीं, राष्ट्रिको का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि राष्ट्रिक उसके आधिपत्य में थे, महाराष्ट्रिक नही थे। तात्पर्य यह कि राष्ट्रिक महाराष्ट्रिको से भिन्न थे।

बौद्ध-क्रान्तिकाल मे एक अन्य समाज भी दक्षिणारण्य मे बसने के विचार से आया था। उसका नाम है "वैराष्ट्रिक"। ये लोग विराट् नामक राजा के देश के अर्थात् उत्तरकुरु तथा उत्तरमद्र देश के निवासी थे। विराट् नामक राजाओं का राष्ट्र "विराष्ट्र" तथा विराष्ट्र के भक्त "वैराष्ट्रिक" कहलाते थे।

इस प्रकार तीन देशो के तीन प्रकार के लोग बौद्ध-क्रान्तिकाल में महाराष्ट्र में उपनिवेशनार्थ आये। महाराष्ट्रिक नर्मदा से भीमा तक के सह्याद्रि-तट तथा देवगिरि से पैठण प्रदेश तक फैल गये। महरट्टों के उल्लेख नासिक, जुन्नर, कान्हेरी स्थित शिलालेखों मे प्राप्त होते हैं। वैराष्ट्रिकों ने पूना के दक्षिण में "वायदेश" कहलानेवाले आसपास के विस्तीर्ण प्रदेश पर अधिकार कर लिया। आज के "वाई" देश को विराटदेश कहने का प्रघात "महात्म्य"[1] नामक ग्रन्थों मे तथा जनश्रुतियो मे पाया जाता है। वाई नगर का विराटनगरी और निकटवर्ती दुर्ग का विराटगढ या वैराटगढ नाम आज भी प्रचलित है। लौकिक मान्यता है कि यह वही विराट् देश है जहाँ पाण्डवो ने बारह वर्ष अज्ञातवास किया था परन्तु यह सत्य नही है। वैराटगढ या वैराडगड शब्द सस्कृत "वैराष्ट्रिक गढ" का अपभ्रंश है। प्रतीत होता है कि वैराष्ट्रिको ने इस दुर्ग मे निवास कर आसपास के प्रदेश पर अधिकार कर लिया और गढ को अपने नाम से विभूषित किया। मेरा अनुमान है कि कदाचित् उत्तरी कर्नाटक की "बेरड" नामक युयुत्सु जाति वैराष्ट्रिकों (वैराष्ट्रिक=बेरट्ट=बेरड) की वंशज रही होगी। राष्ट्रिको ने आज के दक्षिणी महाराष्ट्र प्रदेश तथा निजाम-रियासत के बीड् से लेकर मैसूर के निकट के सौन्दत्ती तक का प्रदेश जीत लिया था। रट्टो अथवा राष्ट्रिको के नाम के आधार पर रट्टपाटी, रट्टगिरि, रट्टपल्ली, रट्टेहल्ली, रट्टज्जुन (राष्ट्रकार्जुनक), रड्डी, रेडी आदि अनेक ग्राम, व्यक्ति तथा जातियाँ आज भी प्रसिद्ध है। साराश यह कि उत्तर को महाराष्ट्रिकों ने, मध्यभाग को वराष्ट्रिको ने तथा दक्षिण के दण्डकारण्य को राष्ट्रिकों ने उपनिवेश बनाया। कालान्तर में उत्तर के महाराष्ट्रिक प्रबल तथा प्रमुख होते गये और सबको महाराष्ट्रिक संज्ञा प्रदान की गयी और तीनों के प्रदेश मिलकर, त्रिकलिंग, त्रिगर्त, त्रिकूट, त्रिपुर की भाँति त्रिमहाराष्ट्रक कहलाये। त्रिमहाराष्ट्रक देश मे शक-सम्वत् की छठी शताब्दी मे निन्नानवे हजार ग्राम थे, ऐसा जो उल्लेख

---

[1] व्रत—पुण्यकर्मों की महिमा तथा रीति का वर्णन करने वाले ग्रन्थ। उदा-वैशाख-महात्म्य—अनु०।

ताम्रपटों में मिलता है, यह अठारह खण्ड है। खानदेश, नासिक, अहमदनगर, पूना, सातारा, शोलापुर, बेलगांव, धारवाड, बीजापुर, कारवार, रत्नागिरि, कुलाबा, थाना, मिलकर लगभग चालीस हजार ग्राम होते हैं। उनमें औरंगाबाद, बीड़, बीदर, नान्देड, आदि निजाम-रियासत का मराठवाड़ा नामक भाग तथा मैसूर का उत्तरी भाग मिला दिया जाय तो संख्या निन्यानवे हजार सहज हो जायगी। पर यह न भूलना चाहिए कि आज लगभग एक-चतुर्थांश ग्राम उजड़ गये हैं। आज पचहत्तर हजार ग्रामसंख्या हो तो यह छठी शताब्दी के निन्यानवे हजार के बराबर होगी, इसमें सन्देह नहीं।

राष्ट्रिक, वैराष्ट्रिक तथा महाराष्ट्रिक मगध, कुरुपांचाल तथा उत्तरकुरु आदि नर्मदोत्तर प्रदेश से दक्षिण में आये। इसके सम्बन्ध में भाषा का प्रमाण दिया जा सकता है। महाराष्ट्रिकों के सम्बन्ध में ध्यान में रखना होगा कि वे यद्यपि मगध-देशीय महाराज के अर्थात् अधिपतियों के अनुयायी थे, परन्तु वे मगध के मूल निवासी नहीं थे। वे मूलतः हिमालय के उस ओर के देवों के अनुषंग से निवास करने वाले देवयोनि तथा गणदेवों में से थे। उनकी मूल भाषा वैदिक भाषा की समकालीन एक उपभाषा थी और वे महाराजिक कहलाते थे। मगध में आने के उपरान्त उन्होंने मगध के प्राकृतजनों की भाषा की कुछ विशेषताएँ ग्रहण की। वैराष्ट्रिक भी मूलतः हिमालय-पार के लोग थे और वे आगे चलकर पंजाब के मत्स्यदेश के विराट राजाओं के राष्ट्रिक बने। राष्ट्रिक कुरुपांचालवासी थे जो अपनी भाषा लेकर दक्षिण में आये। वैराष्ट्रिकों की भाषा वह थी जो अपभ्रंश कहलाती है तथा राष्ट्रिकों की भाषा वह थी जो आगे चलकर शौरसेनी कहलाई। इस प्रकार ये तीनों समूह अपनी-अपनी भाषाएं लेकर दक्षिण में आये।

अन्य चार भाषाओं के प्रभाव से महाराष्ट्री का रूपान्तर

उपनिवेशियों में प्रभाव एवं कर्तृत्वशीलता की दृष्टि से महाराष्ट्रिक सबसे बढ़े-चढ़े थे, अतः उनकी भाषा के सामने अन्य जनों की भाषाएँ फीकी पड़ गयीं—पर अन्य जनों की भाषाओं की कुछ विशेषताएँ महाराष्ट्रिकों की भाषा के बिना चिपकी न रही। वैराष्ट्रिकों, राष्ट्रिकों तथा मागधों की भाषाओं ने महाराष्ट्रिकों की महाराष्ट्री को किस प्रकार प्रभावित किया इसके दो-चार उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है।

: संस्कृत "रत्न" शब्द का महाराष्ट्री रूप "रअण" है, परन्तु महाराष्ट्री से उद्भूत मराठी में "लेणे" प्रचलित है। प्रश्न यह है कि रत्न शब्द के संस्कृत

"र" के स्थान पर "र" ही रखने वाली महाराष्ट्री मराठी बनते समय "र" का 'ल" क्यों बनाती है। उत्तर यह है कि मागधी मे संस्कृत "र" के स्थान पर "ल" नियमपूर्वक आता है। कुछ इस प्रकार कि मागधी में "र" का उच्चारण था ही नही। अतः संस्कृत "रत्न" के "र" के स्थान पर मागधी मे "ल" उच्चारण हुआ। महाराष्ट्री मराठी में विकसित होते समय मगधवासियों की सगति से "रअण" का उच्चारण "लअण"=लयण=लइण =लेणें", इस प्रकार मराठी मे लकारयुक्त हो गया। यह न भूलना चाहिए कि "लयन" (निवास का स्थान) से निकला मराठी "लेणे" शब्द संस्कृत "रत्न" से निकले "लेणे" से भिन्न है। संस्कृत मूर्धन्य "ष" का महाराष्ट्री में "स" अथवा "ह" हो जाता है। विषय=विसअ। परन्तु मराठी में "विषये" सप्तम्यन्त शब्द के स्थान पर "विशी" उच्चारण किया जाता है। महाराष्ट्री "स" के स्थान पर मराठी में तालव्य "श" कैसे आया ? मागधी में "स" तथा मूर्धन्य "ष" के उच्चारण का अभाव है। महाराष्ट्री से मराठी में आते समय "विस-अम्मि" रूप के "स" का तालव्य "श" मागधी भाषा-भाषियों की संगति से हुआ यह स्पष्ट है। आज मराठी में हंसी=हांशी, माउस्सिआ=माउशी[१] असा=अश्यास[२], ठसा=ठश्यास[३], पास=पाशी[४] फास=फाशी[५] आदि मे जो शकार शिष्टजनों के बोलने में आता है वह और सामान्य जनों के बोलने मे मूर्धन्य "ष" के स्थान पर जो तालव्य "श" सुनाई पड़ता है वह, दोनों उद्गमों का तालव्य "श" महाराष्ट्री की मराठी बनते समय मागधी की मैत्री का चिह्न है। "य" के कारण तालव्य "श" उच्चारण मे आता है, इत्यादि कारण केवल ऊपरी साहचर्य दिखाने वाले कथन हैं, उच्चारण के परिवर्तन के सच्चे कारण नही। महाराष्ट्री के मराठी बनते समय उस पर मागधी का जो प्रभाव पड़ा उसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। अत. भाषा का आधार लेकर कहा जा सकता है कि महाराष्ट्रिक किसी समय मगध में निवास करते थे।

राष्ट्रिकों की शौरसेनी ने भी महाराष्ट्री को प्रभावित किया है। यह बात मराठी के प्रचलित रूप के आधार पर प्रस्थापित की जा सकती है। महाराष्ट्री में "सर्वस्माद् व्यंजनात् परः पूर्वस्थश्च रेफो लोप्यो भवति" (चण्ड)। शौरसेनी

---

१ हिन्दी : मौसी—अनु०।

२ हिन्दी : ऐसे को, इसलिए—अनु०।

३ हिन्दी : मोहर को—अनु०।

४ हिन्दी : के पास—अनु०।

५ हिन्दी : फासी को—अनु०।

में यही होता है, ऐसी बात नही । उदाहरणार्थ शौरसेनी में "मूर्ख" का विकल्प द्वारा बना अपभ्रंश है "मुरुक्ख"—यहाँ "र" का लोप नही होता । महाराष्ट्री के मराठी बनते समय "मुलुख" होकर मराठी मे उसका अर्थ हुआ : सारे मुल्क मे होशियार आदमी । यहाँ "मुलुख" का असली अर्थ है 'मूर्खाणाम्'; प्रदेश प्रान्त, नही । "मुलुख" का अर्थ प्रदेश या प्रान्त अरबी में होता है । "वह सारे मुल्क मे होशियार आदमी है" वाक्य का शब्दश: संस्कृत अनुवाद होगा : स सर्वेषा मूर्खाणा विचक्षण: अस्ति । यदि फारसी "मुल्क" अभिप्रेत होता है तो सम्भाव्य प्रयोग मुलखांतला[1] था । "मुलखाचा" चान्त प्रयोग सम्भव नहीं था । स्पष्ट है कि यहाँ महाराष्ट्री ने शौरसेनी की विशेषता को ग्रहण किया है । महाराष्ट्री तथा शौरसेनी मे विशेष तथा उत्कट अन्तर न होने से दक्षिणारण्य मे उन दोनो को एक रूप बनते समय कठिनाई न हुई ।

महाराष्ट्री ने मराठी बनते समय अपभ्रंश की जो अनेक विशेषताएँ ग्रहण की उनमे से एक का उल्लेख कर रहा हूँ । चण्ड का कथन है : अपभ्रंशे अधोरेफस्य लोपो न भवति । महाराष्ट्री में अधोरेफ का लोप हो जाता है । "व्याघ्र" अपभ्रंश मे अर्थात् चण्डकालीन अपभ्रंश मे "वाघ्रो" बनता है । मराठी मे महाराष्ट्री से आया हुआ रूप "वाघ" तो प्रचलित है ही; अपभ्रंश के प्रभाव से अधोरेफयुक्त "वाघ्र" रूप भी अशिष्ट तथा ग्रामीण जनों मे चलता है ।

तात्पर्य, महाराष्ट्री मराठी की जननी भले ही हो, उसने कई बार शौरसेनी, मागधी, अपभ्रंश तथा पैशाची आदि धात्रियो का दूध पिया है । इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं । महाराष्ट्रिक, राष्ट्रिक तथा वैराष्ट्रिक लोग मगध, कुरुपांचाल, सत्य तथा उत्तरकुरु आदि उत्तरी प्रदेशो से दक्षिण में आये, फलत: उन सब प्रदेशों की भाषाओ की विशेषताएँ मराठी मे विकसित होते समय महाराष्ट्री ने ग्रहण की । शिष्ट मराठी के अतिरिक्त जो प्रान्तीय तथा जातीय उपभाषाएँ आज महाराष्ट्र मे प्रचलित हैं वे ऊपर के उपनिवेशियो की उत्तर-प्रान्तीय भाषाओ से निकली हैं । उनका अस्तित्व प्रान्तीय तथा जातीय उपभाषाओं की विशिष्टताओ से पहचाना जाता है ।

उपनिवेशियो के उत्तर-भारतीय पुरोहित

महाराष्ट्रिको, राष्ट्रिको तथा वैराष्ट्रिकों के उत्तरी प्रान्तो से आने के तथ्य का

---

[1] हिन्दी : मुल्क का—अनु० ।

दूसरा प्रमाण महाराष्ट्रिकादि के पुरोहितों की शाखाओं तथा गोत्रों अथवा उपनामों मे मिलता है। महाराष्ट्रिक वैदिक धर्मी थे; अतः वे अपने साथ पुरोहितो को यज्ञ-यागार्थ ले आये थे। महाराष्ट्र मे नागपुर, बरार, खानदेश, नासिक, औरंगाबाद, बीड़, सातारा आदि स्थानों मे यजुर्वेदी ब्राह्मणों की अधिकता है। उनके बाद ऋग्वेदियों का और उनके पश्चात् काण्व, मैत्रायणीय इत्यादि शाखाओं का क्रम आता है। सामवेदी तथा अथर्ववेदी ब्राह्मणों की संख्या नगण्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि महाराष्ट्रिकादि मगध, कुरुपाचाल, मत्स्य, उत्तरकुरु तथा उत्तरमद्र से आये तो उनके पुरोहित भी उन्ही प्रदेशो के थे। इसलिए देखना होगा कि नर्मदोत्तर प्रदेश मे आजकल किन शाखाओं के ब्राह्मणों की बहुसंख्या है। यह सिंहावलोकन इस ग्रहीत तथ्य के आधार पर कर रहे है कि प्रत्येक प्रदेश मे प्रत्येक शाखा पुरातनकाल से बसी है। अर्वाचीन कश्मीर, ऐनरेय ब्राह्मण के उत्तरकुरु तथा उत्तरमद्र देश का भाग है। उस देश के ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेदी, कठशाखी तथा लौगाक्षि सूत्री है। उनमें आज भी जो उपनाम प्रचलित है उनमें से कुछ तत्सदृश मराठी उपनामों सहित दे रहे है :

कश्मीरी	मराठी
१. भैरव	बेहरे
२. भूत	भुते
३. त्रकारी	टकारे
४. वैष्णव	वैष्णव
५. भट	भट
६. राख्यम	राक्षे
७. काली	काले
८. बंगी	बगी
९. छात्री	छत्रे
१०. बास	व्यास
११. वारिकी	वारके
१२. डुली	डूले
१३. पाण्डे	पाण्डे
१४. विचारी	विचारे
१५. चन्द्र	चन्द्रे

आज का पंजाब प्राचीन मत्स्य देश का कुछ अंश है। वहाँ के सब सारस्वत ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेदी तथा माध्यन्दिनशाखी हैं जिनके कुछ उपनाम इस प्रकार हैं :

१. नवले	२१. भारये	४१. आचारिये
२. खडे	२२. ऋषि	४२. टांकरे
३. पण्डित	२३. अह्नी	४३. केशर
४. तिखे	२४. भिडे	४४. लाट
५. बागे	२५. भूत	४५. प्रोहित
६. मालिये	२६. ओझे	४६. वलिये
७. कालिये	२७. पाध्ये	४७. सुत्ते
८. कपूरिये	२८. तोटे	४८. भुरे
९. पाठक	२९. मढरे	४९. सांगड
१०. भारद्वाजी	३०. भटारे	५०. मुण्डे
११. जोशी	३१. व्यास	५१. उपाध्ये
१२. दत्त	३२. मैत्र	५२. घोडे
१३. वैद्य	३३. लट्टू	५३. गुहलिये
१४. श्यामे	३४. अग्निहोत्री	५४. सिरखण्डिये
१५. कटपले	३५. कोटपाल	५५. किरले
१६. घोटके	३६. सुन्दर	५६. गोसाई
१७. पाराशर	३७. पाण्डे	५७. गोकुलिये
१८. कपाल	३८. गाण्डे	५८. कवडे
१९. नागे	३९. तगाले	५९. रोड
२०. वासिष्ठ	४०. दीक्षित	६०. जड

उपर्युक्त सूची के पंजाबी सारस्वत ब्राह्मणों के तत्सदृश महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो के नामो की समान्तर सूची इसलिए नही दी गयी है कि वह सहज ध्यान में आ सकती है। सिन्ध के ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदी तथा माध्यन्दिनशाखी है। कान्यकुब्ज "मिश्र" ब्राह्मणो मे अधिकांश शुक्लयजुर्वेदी तथा काण्वशाखी हैं और कुछ ऋग्वेदी है। उनमे गर्ग, अवस्थी, बाला, गौतमी, तारा, करयव, इत्यादि उपनाम

मिलते हैं। कान्यकुब्जों मे डुबे[1] ब्राह्मण बहुधा शुक्लयजुर्वेदी, काण्वशाखी तथा गोभिलसूत्री है; कुछ थोड़े सामवेदी भी है। वहाँ के "पाठक" ब्राह्मण यजुर्वेदी है। इसी प्रकार "चौबे" तथा "दीक्षित" ब्राह्मण यजुर्वेदी माध्यन्दिन है। राजपूताने के "पोखर सेवग" ब्राह्मण, जयपुर के "पारीख" ब्राह्मण, मारवाड के "दायिम" ब्राह्मण—सब यजुर्वेदी माध्यन्दिन है। मैथिल ब्राह्मणों मे "ओझा" अथवा "झा" माध्यन्दिनशाखा के है तथा "मिश्र" ब्राह्मण मात्र यजुर्वेदी तथा सामवेदी है। नेपाल के ब्राह्मण यजुर्वेदी है जिनमें "भट्ट" "आचार्य", "पर्वत्य", अधिकारी", "पण्डित" आदि उपनाम पाये जाते है। गुर्जर ब्राह्मण ऋग्यजु.साम तीनवेदी हैं। वगीय ब्राह्मणों मे सामवेदी अधिक है। कलिग ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदी काण्व हैं, ओड्र देश के नन्द ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेदी है जो शालिवाहन के काल मे पैठण आये थे। नन्द ब्राह्मणों के साथ नन्दभाषा भी महाराष्ट्र मे आई। नन्द ब्राह्मण सर्राफी का व्यवसाय करते थे। उपर्युक्त सूची से प्रकट होगा कि कश्मीर से मगध तक का समस्त प्रदेश शुक्ल-यजुर्वेदी माध्यन्दिन ब्राह्मणो से व्याप्त था। ऋग्वेदी तथा सामवेदी ब्राह्मणो की संख्या न्यून थी, काण्व अवश्य कुछ अधिक सख्या मे थे। ये माध्यन्दिन, काण्व तथा ऋग्वेदी ब्राह्मण महाराष्ट्रिक, राष्ट्रिक तथा वैराष्ट्रिक क्षत्रियों के साथ दक्षिण मे आये।

विदर्भ मे यजुर्वेदी माध्यन्दिन ब्राह्मणो की बहुलता है। इनका उल्लेख त्रिविक्रमभट्ट ने "शतपथिनः" कहकर नल-दमयन्ती चम्पू में किया है। नागपुर की ओर "झाडे" ब्राह्मण माध्यन्दिन तथा काण्वशाखी है। खानदेश, नासिक, पण्ढरपुर की तरफ माध्यन्दिनों की बहुत सख्या है। तात्पर्य यह कि महाराष्ट्र में शुक्लयजुर्वेदी माध्यन्दिन ब्राह्मणों की सख्या सबसे अधिक है। यदि ऋग्वेदी, काण्व तथा आपस्तम्बों की अल्पसंख्या की तुलना माध्यन्दिनों की प्रचण्ड संख्या से करें तो कहना होगा कि महाराष्ट्र प्रमुखतः माध्यन्दिनो का देश है। माध्यन्दिनों मे काण्व मिला दे तो इन शुक्लयजुर्वेदियों की संख्या उससे भी बड़ी होगी। शुक्लयजुर्वेदियों की वाजसनेयी सहिता के मूल उत्पादक याज्ञवल्क्य थे, इसी कारण याज्ञवल्क्य-प्रणीत धर्मादिसूत्र महाराष्ट्र में उपनिवेश-काल मे

---

[1] वास्तव में "दुबे" होना चाहिए। पर महाराष्ट्र मे कई परिवार आज भी "डुबे" उपनाम लिखते है। शर्मा, पाण्डे, तिवारी उपनामक परिवार महाराष्ट्र मे खूब बस गये हैं और हिन्दी की अपेक्षा मराठी अच्छी जानते है—अनु०।

आज का पजाब प्राचीन मत्स्य देश का कुछ अंश है। यहाँ के सब सारस्वत ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेदी तथा माध्यन्दिनशाखी है जिनके कुछ उपनाम इस प्रकार हैं :

१. नवले	२१. भारथे	४१. आचारिये
२. खडे	२२. ऋषि	४२. टोकरे
३. पण्डित	२३. ब्रह्मी	४३. केसर
४. तिखे	२४. भिडे	४४. लाट
५. वागे	२५. भूत	४५. प्रोहित
६. मालिये	२६. ओझे	४६. वलिये
७. कालिये	२७. पाध्ये	४७. मुसे
८. कपूरिये	२८. तोटे	४८. भुरे
९. पाठक	२९. मढरे	४९. सांगड
१०. भारद्वाजी	३०. भटारे	५०. मुण्डे
११. जोशी	३१. व्यास	५१. उपाध्ये
१२. दत्त	३२. मैत्र	५२. घोडे
१३. वैद्य	३३. लट्टू	५३. गुहलिये
१४. श्यामे	३४. अग्निहोत्री	५४. सिरखण्डिये
१५. कटपले	३५. कोटपाल	५५. किरले
१६. घोटके	३६. सुन्दर	५६. गोसाई
१७. पाराशर	३७. पाण्डे	५७. गोकुलिये
१८. कपाल	३८. गाण्डे	५८. कवडे
१९. नागे	३९. तगाले	५९. रोड
२०. वासिष्ठ	४०. दीक्षित	६०. जड

उपर्युक्त सूची के पंजाबी सारस्वत ब्राह्मणो के तत्सदृश महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो के नामों की समान्तर सूची इसलिए नही दी गयी है कि वह सहज ध्यान में आ सकती है। सिन्ध के ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदी तथा माध्यन्दिनशाखी है। कान्यकुब्ज "मिश्र" ब्राह्मणो मे अधिकांश शुक्लयजुर्वेदी तथा काण्वशाखी हैं और कुछ ऋग्वेदी है। उनमे गर्ग, अवस्थी, बाला, गौतमी, तारा, करयव, इत्यादि उपनाम

मिलते हैं। कान्यकुब्जो मे डुबे[1] ब्राह्मण बहुधा शुक्लयजुर्वेदी, काण्वशाखी तथा गोभिलसूत्री हैं; कुछ थोडे सामवेदी भी हैं। वहाँ के "पाठक" ब्राह्मण यजुर्वेदी हैं। इसी प्रकार "चौबे" तथा "दीक्षित" ब्राह्मण यजुर्वेदी माध्यन्दिन है। राजपूताने के "पोखर सेवग" ब्राह्मण, जयपुर के "पारीख" ब्राह्मण, मारवाड के "दायिम" ब्राह्मण—सब यजुर्वेदी माध्यन्दिन है। मैथिल ब्राह्मणों में "ओझा" अथवा "झा" माध्यन्दिनशाखा के है तथा "मिश्र" ब्राह्मण मात्र यजुर्वेदी तथा सामवेदी है। नेपाल के ब्राह्मण यजुर्वेदी है जिनमें "भट्ट" "आचार्य", "पर्वत्य", अधिकारी", "पण्डित" आदि उपनाम पाये जाते है। गुर्जर ब्राह्मण ऋग्यजु:साम तीनवेदी है। वगीय ब्राह्मणो मे सामवेदी अधिक है। कलिग ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदी काण्व हैं; ओड्र देश के नन्द ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेदी हैं जो शालिवाहन के काल मे पैठण आये थे। नन्द ब्राह्मणों के साथ नन्दभाषा भी महाराष्ट्र मे आई। नन्द ब्राह्मण सर्राफी का व्यवसाय करते थे। उपर्युक्त सूची से प्रकट होगा कि कश्मीर से मगध तक का समस्त प्रदेश शुक्ल-यजुर्वेदी माध्यन्दिन ब्राह्मणो से व्याप्त था। ऋग्वेदी तथा सामवेदी ब्राह्मणों की संख्या न्यून थी, काण्व अवश्य कुछ अधिक सख्या मे थे। ये माध्यन्दिन, काण्व तथा ऋग्वेदी ब्राह्मण महाराष्ट्रिक, राष्ट्रिक तथा वैराष्ट्रिक क्षत्रियों के साथ दक्षिण मे आये।

विदर्भ में यजुर्वेदी माध्यन्दिन ब्राह्मणों की बहुलता है। इनका उल्लेख त्रिविक्रमभट्ट ने "शतपथिन:" कहकर नल-दमयन्ती चम्पू मे किया है। नागपुर की ओर "झाडे" ब्राह्मण माध्यन्दिन तथा काण्वशाखी है। खानदेश, नासिक, पण्ढरपुर की तरफ माध्यन्दिनो की वहुत सख्या है। तात्पर्य यह कि महाराष्ट्र मे शुक्लयजुर्वेदी माध्यन्दिन ब्राह्मणो की सख्या सबसे अधिक है। यदि ऋग्वेदी, काण्व तथा आपस्तम्बों की अल्पसंख्या की तुलना माध्यन्दिनो की प्रचण्ड सख्या से करें तो कहना होगा कि महाराष्ट्र प्रमुखत: माध्यन्दिनों का देश है। माध्यन्दिनों मे काण्व मिला दें तो इन शुक्लयजुर्वेदियो की संख्या उससे भी बड़ी होगी। शुक्लयजुर्वेदियों की वाजसनेयी सहिता के मूल उत्पादक याज्ञवल्क्य थे, इसी कारण याज्ञवल्क्य-प्रणीत धर्मादिसूत्र महाराष्ट्र में उपनिवेश-काल मे

[1] वास्तव मे "दुबे" होना चाहिए। पर महाराष्ट्र में कई परिवार आज भी "डुबे" उपनाम लिखते हैं। शर्मा, पाण्डे, तिवारी उपनामक परिवार महाराष्ट्र मे खूब बस गये है और हिन्दी की अपेक्षा मराठी अच्छी जानते है—अनु०।

ही आ गये। दक्षिण में याज्ञवल्क्य-स्मृति इसलिए प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता है कि महाराष्ट्र में शुक्लयजुर्वेदी ब्राह्मणों की बहुसख्या तथा उन ब्राह्मणों के महाराष्ट्रिकादि क्षत्रिय अनुयायियों की सख्या वाजसनेय शाखा का अनुसरण करती है। इस प्रकार भाषा तथा वेदशाखाओं के प्रमाण से निश्चित हो जाता है कि महाराष्ट्रिकादि लोग तथा उनके वाजसनेयादि पुरोहित कश्मीर से मगध तक फैले उत्तरी भारत से बौद्ध-क्रान्तिकाल में दक्षिण में आये।

बौद्ध-क्रान्तिकाल में महाराष्ट्र में आनेवाले अन्य जन

उत्तरी भारत से बौद्ध-क्रान्तिकाल में महाराष्ट्रिकादि जनों के साथ अन्य लोग भी दक्षिण में आये। अशोक ने अपने शिलालेखों में उनकी नामावली दी है। वे लोग है—भोज, पेतेनिक, सतियपुत, केरलपुत, पाण्डय, तथा चोल। भोज वही हैं जिनका ऐतरेय ब्राह्मण के अडतीसवें अध्याय में "दक्षिणस्या दिशि ये के च सत्वता राजानो भोज्यायेव ते अभिषिचन्त भोजेति एनान अभिषिक्तान् आचक्षते" वर्णन किया गया है। कुरुपांचाल के दक्षिण में मथुरा का प्रदेश सत्वतो के भोज नामक राजाओं का प्रदेश था। भोज दक्षिणापथ के विदर्भ में बस गये। अर्थात् विदर्भ देश के भोज मथुरा-वृन्दावन की ओर के उत्तर-भारतीय है। संस्कृत "भोज" शब्द में स्वार्थक "ल" जुड़कर मराठी का सुप्रसिद्ध शब्द "भोजले" "भोसले" बना है।

पेतेनिक अर्थात् प्रतिष्ठानक लोग मूलत प्रयाग के निकटवर्ती प्राचीन प्रतिष्ठान नगर तथा प्रदेश के निवासी थे। प्रयाग के पास के प्रतिष्ठानकों ने दक्षिण में गोदावरी-तट पर 'प्रतिष्ठाण'' या पैठण नगर तथा प्रदेश की स्थापना की तथा निवास किया। ये लोग भी उत्तर-भारतीय है।

सतियपुत का अर्थ है सत्वपुत्र। उनकी उत्पत्ति मथुरा-वृन्दावन के प्रदेश के भोजो के आधिपत्य में रहने वाले सत्वतों से हुई; तभी वे सत्वपुत्र या सतियपुत कहलाये। सतियपुत प्राचीन सत्वद्वारिका-अर्वाचीन सावन्तवाड़ी में निवास करते थे। सतियपुत भी उत्तर-भारतीय है।

सतियपुतों की भांति केरलपुत भी उत्तर से कोंकण होकर मलबार में उतरे। कुरुदेश के उत्तर में अतिनिकट कुलिन्द नामक देश था, उसी के निकट प्राचीन काल में केरल देश था। केरल देश के राजा सुधार्मिक के पुत्र चन्द्रहास की कथा आबालवृद्ध-लोकप्रिय है। उत्तरी भारत के केरल देश से निकलकर केरलपुत दक्षिण में मलबार-तट पर बस गये और उस स्थान को केरल नाम दिया।

केरलों की भाँति चोल भी उत्तर-भारतीय थे। पैशाची भाषा के एक उपभेद को चूलिका-पैशाची कहा जाता है। इस सामासिक शब्द मे चूलिका शब्द निस्सन्देह देशवाचक है। उत्तर के चूलिका देश के चोल अथवा प्राकृत चोल, चोल लोगों ने दक्षिण मे बसकर अपने उपनिवेश का 'चोल' नामकरण किया।

पाण्ड्य उत्तरी भारत के कुरुदेश के निकटस्थ पाण्डुराष्ट्रीय पाण्डुजनों के वंशज है। पाण्ड्योर्ड्यण-वार्तिक मे कात्यायन ने पाण्डुदेश का उद्धार किया है। पाण्डुराष्ट्रीय पाण्डुजनों के वंशज पाण्ड्य दक्षिण मे बस गये और अपने उपनिवेश-स्थान का "पाण्ड्य" कहने लगे। पाण्ड्य, चोल, केरल, सत्यपुत्र, भोज, पेतेनिक आदि जनों के इतिहास से हमारा कोई सम्बन्ध नही है, हमे तो उन राष्ट्रिक, वैराष्ट्रिक तथा महाराष्ट्रिक जनो के विषय मे विचार करना है जिनके नामान्त मे "राष्ट्रिक" पद जुड़ा हुआ है।

महाराष्ट्रिकों को महाराष्ट्रक तथा महाराष्ट्र भी कहा जाता था, ऐसा प्रतीत होता है। राष्ट्रिक, वैराष्ट्रिक जनों की अपेक्षा महाराष्ट्रिक कर्तृत्वशीलता मे श्रेष्ठ थे अतः "स एषां ग्रामणीः" सूत्र मे वर्णित न्यायानुसार ये सब-के-सब कालान्तर मे महाराष्ट्रक कहलाने लगे। महाराष्ट्रिकों मे एक नाम "महाराष्ट्रिन्" भी है। "महाराष्ट्रिन" का स्त्री लिंगी रूप है "महाराष्ट्रिणी" जिसका प्राकृत रूप होता "महारठिणी"। यह नाम भाजे, बेड़से तथा कार्ले के कुछ शिलालेखो मे आया है। तात्पर्य यह कि इन लोगों को महाराष्ट्र महाराष्ट्रक, महाराष्ट्रिक तथा महाराष्ट्रिन् कहा जाता था। महाराष्ट्रिन् के आधार पर उनकी स्त्रियाँ महाराष्ट्रिणी, महारठिणी कहलाई, इसी प्रकार उनकी भाषा "महाराष्ट्री" कहलाई। सस्कृत "महाराष्ट्री" का अपभ्रंश हुआ "महरट्टी"; और पुनः सस्कृतीकरण हुआ "महाराष्ट्री"। सब प्राकृत वैयाकरण "महाराष्ट्री" उच्चारण निरपवाद देते है।

महाराष्ट्रिको की प्राचीन सस्कृति

देखना होगा कि महाराष्ट्री-भाषी महाराष्ट्रिक जब बाद्ध-क्रान्तिकाल मे दक्षिण में आये उस समय उनकी सस्कृति किस कोटि की थी। उनकी सस्कृति की परीक्षा राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक-तीन दृष्टियों से की जा सकती है, ऐसे साधन भी आज उपलब्ध है। महरट्ट या महाराष्ट्रिक चातुर्वर्ण्यबद्ध थे, बिना पुरोहित के एक कदम चलना उनके लिए असम्भव था। वे झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट आदि जनों की भाँति पवित्रता-पतित व्रात्य भी नहीं थे, न ओड्र, द्रविड़, काम्बोज आदि जनो की भाँति ब्राह्मण आदर्शानुसार

शूद्र थे। वे उत्तरी भारत के व्रात्य तथा शूद्रप्राय पाखण्ड, मतानुयायी क्षत्रियों से रक्षा करने के उद्देश्य से दक्षिण में आये थे। मातृसावर्ण्य का नियम लागू होने के पूर्व उनमें शूद्रभार्योत्पन्न निकृष्ट क्षत्रियों का समावेश, अन्य वर्णों की भाँति हो चुका था; नियम बन जाने के बाद विधिपूर्वक बन्द हो गया। नाजायज तरीके से जारी रहा, परन्तु विधिरहित सम्बन्धों से उत्पन्न प्रजा की पृथक जाति बनने लगी और शुद्ध क्षत्रियत्व निष्कलंक रहा। मगध मे महाराष्ट्रिक आयुधजीवी या शस्त्रोपजीवी संघ थे, वे मगध के महाराजाओं के गण अर्थात् किराये के सैनिक थे।

उक्त शस्त्रोपजीवी संघ मे प्रचार था कि गण की समस्त स्त्रियाँ गण के समस्त पुरुषों की पत्नियाँ मानी जाती थी और गणिका कहलाती थी। यहाँ गणिका का विदग्धयोपिता-वाला अर्वाचीन अर्थ अग्राह्य है। इस गण के पुरुषों ने गण की स्त्रियों के साथ जो प्रणय-केलि की उसका वर्णन "गाथा-सप्तशती" मे पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि गण-संघ में स्त्रियों का दाम्पत्य-नियम विशेष दृढ़ नही था, बहुत-कुछ शिथिल था। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विषय मे ये महाराष्ट्रिक गण मगध के महाराज शब्दधारी क्षत्रियों से बहुत पिछड़े हुए थे. मगध के शिष्ट क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के सान्निध्य में आने के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की शिथिलता धीरे-धीरे क्षय हुई और वैयक्तिक पति-पत्नीत्व का सम्बन्ध दृढ़ होता गया।

महाराष्ट्रिक मूलतः, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के उपासक थे; बौद्धकाल मे जब ब्राह्मणों ने शिव, विष्णु आदि देवताओं की स्थापना की. तब वे नये देवताओं के भक्त बन गये। महाराष्ट्रिकों की सामाजिक, धार्मिक तथा पारिवारिक स्थिति प्रथमावस्थिक थी।

गणराज्य

महाराष्ट्रिकों की राजनीतिक स्थिति भी इससे दूर नहीं थी। मगध तथा मगध के निकटवर्ती चेदि इत्यादि प्रान्तों मे भल्ल, मल्ल, लिच्छिवि, शाक्य, नट आदि व्रात्यों की भाँति भी "गण" नामक राजनीतिक संस्था प्रचलित थी। गण नामक राजनीतिक संस्था में गण के समस्त पुरुष राजा होते और इसी नाम से अपने को विभूषित भी करते थे। आजकल "छियानवे कुल"[१] के मराठे[२] अपने को व्यक्तिशः राजा कहते है, उसके मूल मे उनके

---

१ उच्चकुलीन महाराष्ट्रीय क्षत्रिय—अनु०।

२ महाराष्ट्रीय क्षत्रिय—अनु०।

...ों की गणराज्य-संस्था ही है । गणराज्य तीन प्रकार के थे । (१) गण ...ब व्यक्ति राजा माने जाते थे । इसे बहुनायकवादी गणराज्य कह सकते (२) राज्याधिकार कुछ प्रमुख व्यक्तियों को सौंप दिया जाता था; इसे ...जनवादी गणराज्य कह सकते हैं । (३) सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति सर्वाधिकारी होता । यह एकराज्य कहा जायगा । ये तीनों प्रकार महाराष्ट्रिकों में प्रचलित थे ...हे लेकर दक्षिण मे आये ।

आन्ध्र-भृत्य-काल में महाराष्ट्रिकों मे गणराज्य थे । नाणेघाट के ...ध्रभृत्य भित्तिचित्रों मे एक चित्र के नीचे "महारठिगनकयिरो" अक्षर पाये ...ते है । "महाराष्ट्रिकगणकवीर." सामासिक पद मे एकनायकवादी गणराज्य अपेक्षा बहुनायकवादी गणराज्य ध्वनित होता है । समुद्रगुप्त के प्रयाग-...त स्तम्भ पर व्याघ्रराज, नीलराज, कुबेर, मण्टराज आदि राजाओं के ...म खुदे है । नाम यदि महाराष्ट्रिकों के होंगे तो कहना पड़ेगा कि शालिवाहन तीसरी-चौथी शती मे दक्षिण मे एकनायकवादी गणराज्य स्थापित हो ...थे, बहुनायकवादी गणराज्य नष्ट हो चुके थे । तात्पर्य यह कि शकोत्तर ...रसों वर्षों तक महाराष्ट्रिकों में गणराज्य-संस्था—वह एकनायकवादी हो ...वा बहुनायकवादी—प्रचलित थी । ऐसा नही सोचना चाहिए कि ...राष्ट्रिकों ने गणराज्य-संस्था को जन्म दिया, वे जब महाराजिक थे तभी से उनमे प्रचलित थी ।

देवयोनि तथा गण-देवताओं मे गणराज्य-संस्था बहुत प्राचीन काल से ...मान थी । प्राचीन ऋषियों के काल मे भी अस्तित्व मे थी, यहाँ तक कि ...वेदकालीन ऋषियो ने उसका मार्मिक वर्णन किया है ।

...णस्पति गणप्रमुख

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल मे ब्रह्मणस्पति के सूक्त या सुवर्णन दिये गये उनमे गण-संस्था के राजा— गणराज या ब्रह्मणस्पति की सामर्थ्य के गाये गये है । "गणाना त्व गणपतिम्" मन्त्र तो विख्यात् ही है । प्रत्येक ...ार के कार्यारम्भ मे सर्वप्रथम गणपति का आवाहन इसी मन्त्र द्वारा ...क करते है, किन्तु मन्त्र मे किस व्यक्ति का तथा किस वस्तु का वर्णन । गया है, इसके विषय में उनकी कल्पनाएँ विचित्र है । केवल उन्हीं की ...ी बात नही, स्वयम् सायण तक ने विचित्र बातें कही है । वे लोग ... ति को देवता मानते है । वस्तुतः ब्रह्मणस्पति का ऋग्वेदकालीन अर्थ ... ब्राह्मणस्पत्य सूक्त की रचना हुई, "ब्रह्मन का प्रमुख नेता" था ।

अन्त्योदात्त ब्रह्मन् (पु०) शब्द का अर्थ है स्तुति करनेवाला, स्तावक तथा आद्योदात्त ब्रह्मन् (नपु०) शब्द का अर्थ है स्तुति, स्तवन। आद्योदात्त ब्रह्मन् के अनुसार ब्रह्मणस्पति का अर्थ होगा "स्तुति का पति"—किन्तु इससे अर्थबोध नहीं होता अतः सायरण ने ब्रह्मन् (नपु०) शब्द का "अन्न" अर्थ निघण्टु से लेकर ब्रह्मणस्पति को "अन्न का पालन करनेवाला" कहा। यह नहीं कह सकते कि ऐसा ही कोई विचित्र अर्थ दिये बिना काम न चल सकता हो। "ब्रह्मणस्पति" सम्बोधन में समस्त पद अनुदात्त है, इसलिए उसमें "ब्रह्मण" पद अन्त्योदात्त अथवा आद्योदात्त लिया जा सकता था। परन्तु परम्परागत संहिता-पठन तथा स्वर-प्रक्रिया के कारण वैसा न किया जा सका। स्वर-प्रक्रियानुसार "ब्रह्मणस्पति" सामासिक शब्द के दोनों पद आद्योदात्त हैं, अतः सम्भव नहीं था कि सायण आद्योदात्त "ब्रह्मन्" शब्द स्वीकृत कर उसका अर्थ "स्तुति" अथवा "अन्न" के अतिरिक्त कुछ और बतला पाते। सायण को सन्देह तक न हो सकता था कि संहिताओं के सम्पादकों ने तथा संहिता को प्रामाणिक मानकर स्वर-प्रक्रिया वर्णन करनेवाले वैयाकरणों ने अपने तथा मूल ऋग्वेद-रचना-काल के बीच बहुत कालान्तर होने से उक्त ऋचा के "ब्रह्मणां" पद के और "ब्रह्मणस्पति" सामासिक शब्द के गलत स्वर दिये होंगे। संस्थाओं का इतिहास जाननेवाले हम आधुनिक विद्यार्थियों को स्पष्ट दिखायी देता है कि उक्त ऋचा में "ब्रह्मणां" पद अन्त्योदात्त है तथा "ब्रह्मन्" शब्द "ब्रह्मणां" तथा "ब्रह्मणस्पते" दोनों स्थानों पर पुल्लिंग में है। "ब्रह्मन्" पुल्लिंग में मानें तो ऋचा का अन्वय तथा अर्थ इस प्रकार होगा :

ऋचा—गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनां उपमश्रवस्तमम्।।
ज्येष्ठराज्यं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते आ नः शृण्वन् ऊतिभिः सीद सादनम्।। १।।

अन्वय—ब्रह्मणस्पते। गणानां गणपतिं, कवीनां कविं, उपमश्रवस्तमं,
ब्रह्मणां ज्येष्ठराज्यं त्वा हवामहे। नः शृण्वन् ऊतिभिः सादनं आसीद।

अर्थ—ओ स्तावकों के नेता, गणों के नायक, बुद्धिमानों में बुद्धिमान जिसका यश अन्य जनों के यश के लिए अत्यन्त उपमानभूत होता है, स्तावक जनों के सर्वश्रेष्ठ राजा! हम तुझे पुकारते हैं। हमारी (पुकार) सुनकर प्रसादों सहित चौकी पर विराजमान हो।

ब्रह्मन् जनों अर्थात् स्तावक ऋषि या ब्राह्मणों से यह सूक्त जब रचा गया तब गणसंस्था तथा गणराज्य कहलानेवाली संस्था विद्यमान थी।

ऋषियों-ब्राह्मणों के गण के प्रमुख के लिए ब्रह्मणस्पति सत्ता रूढ हो चुकी थी। गणपति तथा ब्रह्मणस्पति शब्द सामान्यनामक बनने के कारण सभा का "सभापति" तथा देश का "भूपति" अथवा गाँव का "गँवई" आदि शब्द पुनरुक्ति का विचार न कर जिस प्रकार प्रयोग में लाये जाते हैं उसी प्रकार "गणाना गणपति" तथा "ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पति" शब्द पुनरुक्ति का विचार न कर प्रयोग में लाये जाते थे। ब्रह्मगणों के सब व्यक्ति राजशब्दोपजीवी थे। आयु, अनुभव, बुद्धिमता तथा यशस्वी कृतित्व से जो व्यक्ति ज्येष्ठराज कहा जाता था और शेष लोग उसका अधिकार मानते थे। प्राय. ज्येष्ठराज समस्त गणराज्य का साक्षात् पिता होता था (जनिता ब्रह्मणा असि)।

ब्रह्मणस्पति का अन्य नाम बृहस्पति था। बृह्‌ धातु को मन् प्रत्यय लगाकर जिस प्रकार ब्रह्मन् शब्द तैयार किया जाता है उसी प्रकार उसी धातु को अस् प्रत्यय लगाकर समानार्थी "बृहस्" शब्द तैयार होता है। बृहस् अर्थात् स्तावक, स्तुतिकार। बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति या गणपति या ज्येष्ठराज भीम (भयकर) अमित्रदम्भन्, रक्षोहण था। वह जिनकी सरक्षा करता (यं रक्षसि ब्रह्मणस्पते) उसे संकट छू तक न पाता था। (न त ग्रहो न दुरितं अरातयः तितिरु)। वह शत्रुओं को भस्म करने वाला (निष्टप्ता शत्रु), स्वजनों की मार्गरक्षा करने वाला (पथिकृत्) था। जो गणपति की सहायता पा जाता (यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः) है वह शत्रुओं का ध्वंस करता है (वनुष्यतः वनवत्)। जो ब्रह्मणस्पति को घी के पक्वान्न भेंट करता है (यो अस्मै हव्यैः घृतवद्भिः अविधत्) उसे वह पूर्व की ओर विजयपूर्वक उपनिवेशन के लिए ले जाता है (तं प्राचा प्र नयति)। तात्पर्य यह कि कवि ने इस सूत्र मे गण के नेता की महिमा गाई है।

जिन ब्रह्मगणों मे गणसंस्था तथा गणराज्य रूढ हो चुके थे उनमे प्रचलन था कि गण की समस्त स्त्रियाँ गणपति से प्रजोत्पादन कराने में अपना सौभाग्य मानती थी। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद की वाजसनेय-संहिता का तेईसवाँ अध्याय द्रष्टव्य है। उसमे गण की स्त्रियाँ गणपति को इस प्रकार आवाहन करती हैं :—

ऋचा—गणाना त्वा गणपतिं हवामहे। प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे। निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे। वसो मम। आहं अजानि गर्भधम्। आ त्वं अजासि गर्भधम्।

अर्थ—ओ हमारे गण के नेता, हम तुझे पुकारते हैं। ओ हमारे प्रियो के प्रिय नेता, हम तुझे पुकारते हैं। ओ हमारी निधियों के निधिपति, हम तुझे

पुकारते हैं। मेरे वसु ! मैं अपना गर्भ धारण करने वाला अवयव हिलाती (या खींचती) हूँ। तू अपना गर्भ स्थित कराने वाला अवयव हिला (या खींच)।

गणपति—अथर्वशीर्ष में गण-नेता का रूप-वर्णन दिया गया है। गण का योद्धा नेता हाथ में पाश, अंकुश तथा हाथी का एक दाँत लेकर, रक्त वस्त्र धारण कर शत्रु को नष्ट कर देता था। ब्रह्मन् जनों का या ऋषियों का नेता ब्रह्मणस्पति या गणपति इस प्रकार था। उसकी बिना प्रारम्भ में आराधना किये गण के गणों का कोई कार्य निर्विघ्न सम्पन्न नहीं हो सकता था। इसी कारण सबसे पहले गण-प्रमुख की सहायता माँगी जाती थी। अब हम गणपति के आवाहन के प्रचार का नाटकीय अनुकरण करते हैं, परन्तु प्राचीन काल गणराज्य-संस्था के प्रचलन के समय गण के नेता की प्रत्येक कार्य सम्पन्न करने के पूर्व सम्मति लेनी पड़ती थी। इस प्रकार महाराष्ट्रिक अथवा मरहट्ट जनों में गणराज्य-संस्था पूर्वापर प्रचलित थी।

राज्य करने की नितान्त प्राथमिक पद्धति से भली भाँति परिचित होने के कारण जब महाराष्ट्रिक दण्डकारण्य में आये तब उन्होंने नागपुर से तुंगभद्रा तक अक्षरशः सहस्रों छोटे-छोटे गणराज्यों को जन्म दिया। प्रायः दस-बीस मील के क्षेत्रफल के प्रदेश का एक गणराज्य था जिसकी राजधानी को राजपुरी, राजुरी, रावरी, राजगढ़ या रायगढ़ कहा जाता था। महाराष्ट्र में राजपुरी, राजुरी, रायरी आदि "राज" आद्याक्षर वाले जो अनेक ग्राम हैं वे महरट्टों के प्राथमावस्थिक गणराज्यों के द्योतक हैं।

महाराष्ट्रिकों की राजनीतिक स्थिति की भाँति उनकी महाराष्ट्री नामक भाषा भी प्राथमावस्थिक थी। संस्कृत की तरह व्याकरण, धर्म, न्याय, मीमांसा, इतिहास आदि शास्त्रों का विपुल एवं भव्य साहित्य महाराष्ट्री में न था; न उसकी सम्भावना ही थी। महाराष्ट्रिक जन बौद्ध-क्रान्तिकाल में जब दक्षिण में आये तब उनका साहित्य लौकिक स्त्री-पुरुष-प्रणय के शृङ्गारिक गीतों में आबद्ध था; वह लिपिबद्ध भी नहीं हुआ था; पर महाराष्ट्रिक जनता की जिह्वा पर अवश्य था।

उत्तरी भारत के उच्चतर आर्यों का आधिपत्य

उत्तरी भारत के तत्कालीन क्षत्रियों तथा अशोकादि उच्च वृषलों की तुलना में अत्यन्त निम्न श्रेणी में स्थित महाराष्ट्रिक गणों की बौद्ध-क्रान्तिकाल में उपरिनिर्दिष्ट सामाजिक, राजनीतिक तथा भाषिक स्थिति थी। अब इस बात

का वर्णन करना है कि दक्षिण मे उपनिवेश स्थापित कर चुकने के बाद उनमे क्या परिवर्तन हुआ। सबसे पहले राजनीतिक स्थिति लेते है। मर्यादित रूप में छोटे-से गणराज्य चला पाने की शक्ति महाराष्ट्रिकों में थी ; परन्तु उन्हें शकपूर्व १०० से शकोत्तर १५५१ (सन् १६२८ ई०) तक अर्थात् पूरे १६०० वर्षों तक उत्तर तथा पूर्व की ओर से आये हुए उन उन्नत जनों के आधिपत्य मे रहना पडा जो उच्च कोटि की राज्य-पद्धति से भली भांति परिचित हो चुके थे।

यह ध्यान में रखना होगा कि शातवाहन, चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव आदि उत्तर के साहसी राज्यकर्ताओ ने दक्षिण मे जिन साम्राज्यो की स्थापना की वे एक बाह्य अल्पसख्य परन्तु उच्च संस्कृति वाली जाति द्वारा निम्न सस्कृति वाले महाराष्ट्रिको को दबाकर निर्माण किये गये अधिराज्य थे। महाराष्ट्रिको में इतनी बुद्धि नही थी—और यदि थी तो अत्यन्त अल्पाश मे थी—कि वे बाह्य अधिपतियो के गुण स्वयं अपने मे उत्पन्न कर पाते। शातवाहनों के विहार, चालुक्य तथा यादवों के सुन्दर देवालय तथा राष्ट्रकूटो की गुफाएँ बाह्य राज्यकर्ताओं की स्थापत्य-कला-कौशल की साक्षी है। फर्दापुर तथा दौलताबाद का मूर्तिशिल्प तथा चित्रशिल्प उनकी अद्भुत कारीगरी के मूर्त स्मारक है।

महाराष्ट्रिको ने बाह्य स्थापत्य-कला, मूर्तिशिल्प तथा चित्रशिल्प को कभी स्पर्श तक न किया। बाह्य जनों के अस्त होते ही उनकी कलाएँ भी अस्त हो गईं। ये कलाएँ महाराष्ट्र के महारट्टों की अपनी कलाएँ होती तो चालुक्य-राष्ट्रकूटादि के पश्चात् समूल नष्ट न हो जाती। यदि कहे कि मराठो के राज्य-काल में वे पुनः उदित हुई तो इतिहास बतलाता है कि दो-ढाई सौ वर्ष के मराठा शासन-काल मे एक भी ऐसा देवालय, एक भी ऐसी मूर्ति अथवा एक भी ऐसा चित्र नही दिखलाया जा सकता जो चालुक्यादि के देवालयों, मूर्तियों अथवा चित्रों के सामने रखा जा सकता हो। यह रुदन-गाथा केवल यह दिखलाने के लिए है कि महाराष्ट्रिक अत्यन्त कनिष्ठ संस्कृति के लोग थे। साम्राज्य चलाना-जैसे उनके लिए दूर की बात थी वैसे ही अन्य उच्च कलाओं का निर्माण करना उनकी राशि में नही लिखा था।

प्राचीन महाराष्ट्रिकों की भाषा तथा साहित्य

भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में भी महाराष्ट्रिक बहुत पिछड़े हुए थे। शात-वाहनों के राज्य-काल में राज्यकर्ता प्राकृत भाषा-भाषी थे, इससे महाराष्ट्री भाषा को प्रोत्साहन मिला। प्रोत्साहन का फल [illegible] पाया जाता

सौ-दो सौ महाराष्ट्री कवि सिर्फ गुनगुनाना सीखे। हाल-शातवाहन ने "गाथा-सप्तशती" में कई महाराष्ट्री कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। काव्य छोड़ दें तो शास्त्र, व्याकरण, मीमांसा, गणित, ज्योतिष, स्थापत्य तथा इतिहास जैसे गहन विषयों पर महाराष्ट्री में एक पंक्ति नहीं लिखी गई। रावण-वहो, गौडवहो, कर्पूरमंजरी आदि सस्ते साहित्य की चार-पाँच बड़ी कहलाने-वाली रचनाएँ महाराष्ट्री की ग्रन्थ-सम्पत्ति है, पर ये चार-पाँच रचनाएँ भी तब की हैं जब महाराष्ट्री अन्तिम साँसें गिन रही थी, तब की नहीं जब वह पूर्ण यौवन में थी। जैन-महाराष्ट्री भिन्न भाषा थी इसलिए उसके धर्म-विषयक ग्रन्थों का समावेश नहीं किया जा सकता। संस्कृत नाटकों में उच्चवर्ग की स्त्रियों से जो पद्य कहलाये गये हैं वे इतना ही दिखलाते हैं कि महाराष्ट्री भाषा में सुन्दर पद्य-रचना हो सकती थी। उच्च कुल की स्त्रियाँ महाराष्ट्री इसलिए व्यवहार में लाती थीं कि भारत के प्रायः समस्त राजा महाराष्ट्रिक स्त्रियों से विवाह करना गौरव की बात समझते थे—वह भी इस कारण कि उस काल में महाराष्ट्रिक या महाराजिक जनों का वंश अत्यन्त शुद्ध माना जाता था। महाराष्ट्रिकों की भाषा का यही विस्तार था। वाङ्मय-विपुलता में वह भी नष्ट हो गयी। शक-सम्वत् ५०० (सन् ५७८ ई०) के लगभग महाराष्ट्री का पतन होना आरम्भ हो गया। शक-सम्वत् ५०० तक शिलालेख, ताम्रपट, काव्यग्रन्थ प्राकृत भाषा में रचे जाते थे, चालुक्यों की पताका फहरते ही वे संस्कृत में लिखे जाने लगे।

व्रात्यों, पतितों तथा पाखंडियों की बौद्ध-क्रान्ति का तथा उनकी प्राकृत भाषाओं का विकास रोकते-रोकते ब्राह्मण तथा त्रैवर्णिक, वैदिक धर्म तथा संस्कृत भाषा का पुनरुज्जीवन शक की चौथी-पाँचवीं शती तक कर पाये। संस्कृत सिंह के मैदान में आते ही प्राकृत-मर्कटों ने भय से प्राण त्याग दिये।

महाराष्ट्रिकों में नागजनों तथा उनकी भाषा का समावेश

महाराष्ट्री भाषा को राज-दरबार से बहिष्कृत कराने में वैदिक धर्म के पुनरुज्जीवन का बहुत-कुछ हाथ था ही, पर एक प्रबल वस्तु और थी जो अनेक शतियों तक महाराष्ट्री को रसातल में पहुँचाने में प्रयत्नशील रही। यह एक प्रकार की सामाजिक स्थिति थी। जिस काल में महाराष्ट्रिक दक्षिणारण्य में पहुँचे उस काल में उन्हें अपनी संस्कृति से कनिष्ठ संस्कृतिवाले नाग लोग मिले। जनमेजय ने सर्पसत्र या नागों का हनन प्रारम्भ किया तब वे लोग उत्तर

से दक्षिण में आये। नाग जनमेजय-कालीन प्राचीन संस्कृत अर्थात् वैदिक भाषा का अपभ्रंश अपनाये हुए थे। नागों की संस्कृति महाराष्ट्रिको की संस्कृति से भी निम्न स्तर पर थी। नागो से शरीर-सम्बन्ध स्थापित होने के बाद धीरे-धीरे महाराष्ट्रिक तथा नाग लोगो के सम्मिश्रण से एक नयी जाति का राष्ट्र उदित हो रहा था। यह नवीन जाति वह थी जिसे महरट्टे, म्हराट्टे, म-हाटे या मराठे कहते हैं। एक भाषा के स्थान पर जब तत्सदृश दूसरी भाषा का प्रचलन होता है तब उसकी जड मे दो राष्ट्रों या लोगो का सम्मिलन नियमपूर्वक होता हुआ पाया जाता है। जिस अनुपात मे सामाजिक सम्मिलन घनिष्ठ अथवा विरल होगा उसी अनुपात मे दो भाषाओ का सम्मिश्रण घनिष्ठ तथा विरल पाया जायगा। एक समाज दूसरे से अत्यन्त बलशाली हो, वह बिलकुल निकटवर्ती हो, दोनो में विशेष संगठन हो तो कनिष्ठ समाज की भाषा मर जाती है और वह समाज श्रेष्ठ समाज की भाषा अपभ्रष्ट रूप मे बोलने लगता है। त्रैवर्णिको तथा एतद्देशज शूद्रो का सम्मिलन होने पर यही बात हुई। शूद्रो की मूल भाषा डूब गई। नागो और आर्यो का उत्तरी भारत मे जब जनमेजय के काल मे सम्मिलन हुआ था तब भी यही घटित हुआ था। नागों की मूल-भाषा लुप्त हो गई और उन्होने वैदिक भाषा का अपभ्रष्ट उच्चारण कर आर्यभाषा को अपना लिया। महाराष्ट्रिको का नागो से जब दक्षिण मे सगम, सहवास तथा सहगमन हुआ तब नागो की प्राचीन वैदिक अपभ्रंश तथा महाराष्ट्रिको की महाराष्ट्री—इन दो अपभ्रष्ट आर्यभाषाओ का सम्मिलन हुआ और वह मराठी भाषा उदित हुई जिसमे दोनो की विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है। मराठी मे जो ऐसे प्रयोग, प्रत्यय तथा क्रिया रूप पाये जाते हैं जो महाराष्ट्री में नहीं परन्तु वैदिक भाषा मे हैं, जो सस्कृत मे नही परन्तु वैदिक भाषा में है, उसका कारण नागों की वह वैदिक अपभ्रंश भाषा है जो महाराष्ट्री से अधिक प्राचीन है।

महाराष्ट्री मे नही, परन्तु वैदिक भाषा मे पाई जानेवाली दो विशेषताएँ दी जाती हैं। मराठी में "करूनश्यानी, जेऊनश्यानी, घेऊनश्यानी[१]" धातु-साधित अव्यय शूद्रों तथा देशस्थो[२] की भाषा में आता है। "श्यानी" प्रत्यय

[१] क्रमशः करके खाकर (भोजनकर), लेकर—अनु०।

[२] सह्याद्रि पर्वत, बालाघाट, कर्नाटक तथा गोदावरी नदी के द्वारा घिरे प्रदेश में निवास करनेवाले अधिकतर ब्राह्मणों के लिए प्रयुक्त शब्द —अनु०।

आर्य, मागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश किम्बा प्राकृत भाषा या पाअउभाषा या पाली भाषा जैसी किसी प्राकृत भाषा मे नही पाया जाता। वह प्रत्यय पाणिनीय संस्कृत भाषा मे भी नहीं है, केवल वैदिक भाषा मे है और वह भी विरल प्रयोग मे आता है। वैदिक मे "सन्" में "ई" प्रत्यय जोड़कर 'सनि" सप्तम्यन्त रूप धातुओं मे मिलाकर धातुसाधित अव्यय बनाते है; यथाः गृणीपणि, तरीपणि, नेपणि आदि। इसी "सनि-पणि" प्रत्यय से मराठी का "इयानि" प्रत्यय बना है। जब "इयानि" प्रत्यय मराठी मे महाराष्ट्री से नही आया क्योंकि वह महाराष्ट्री मे है ही नही, तो वह कहाँ से आया? काल का अन्तर इतना विशाल है कि मराठी तथा वैदिक भाषा की निकटता का अनुमान तक नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे एक ही मार्ग शेष है। यह प्रत्यय नागों की वैदिक अपभ्रंश से मराठी में आया होगा। दूसरा उदाहरण "झडकरि, चटकरि"[1] धातुसाधित अव्ययों का है। "करि" धातु अव्यय किसी प्राकृत मे नही है; केवल वैदिक भाषा में धातुओं मे "ई" प्रत्यय जोड़कर "दृशि", "बुधि" "संचक्षि" आदि धातुसाधित शब्द तैयार किये जाते हैं। "कर" धातु मे "ई" प्रत्यय लगाकर "करि" धातुसाधित मराठी मे लाना नागों की वैदिक अपभ्रंश को ही सम्भव था। तात्पर्य यह कि महाराष्ट्रिको तथा नागो का सम्मिलन शकोत्तर पाँचसौ वर्षोपरान्त पूर्ण होकर महाराष्ट्र में केवल महाराष्ट्री बोलनेवाले न रहे। महाराष्ट्रिक नागोत्पन्न समस्त प्रजा मराठी अपभ्रंश बोलने लगी। महाराष्ट्री भाषा को मृत्यु-सन्देश नागों के सम्मिलन ने दिया।

महाराष्ट्री के प्रयोक्ताओं के अभाव मे यदि उक्त भाषा का प्रयोग शकोत्तर ४००-५०० के लगभग चालुक्यादि संस्कृत भाषा के ज्ञाता राजाओ द्वारा सार्वजनिक शिलालेखों तथा ताम्रपटो मे नहीं किया गया, तो वह अत्यन्त स्वाभाविक है। मराठी को शिलालेख तथा ताम्रपट तैयार करने योग्य शिष्टमान्यता प्राप्त नहीं हो पाई थी, अतः चालुक्यादि के सार्वजनिक लेखों मे संस्कृतेतर भाषा का बिना उपयोग किये चारा नही था। कवि तथा नाटककार नाटको में महाराष्ट्री का प्रयोग अवश्य करते थे, पर वह मात्र परम्परागत रूढ़ि के आधार पर किया जाता था, इसलिए नहीं कि महाराष्ट्री एक जीवन्त भाषा थी या महाराष्ट्री-भाषी शकोत्तर पाँचसौ वर्षोपरान्त भी पाये जाते थे।

---

[1] क्रमशः जल्दी (से), फौरन (से)—अनु०।

इस प्रकार शक-सम्वत् ५०० के लगभग महाराष्ट्रिको एव नागो के हज़ार-पांचसौ वर्षों के सगम से मराठे उत्पन्न हुए। स्पष्ट है कि मराठो की सस्कृति महाराष्ट्रिको तथा नागो की संस्कृति से भिन्न नही थी, वलिक दोनों का मिश्रण थी। आज ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनकी सहायता से मराठो की संस्कृति मे नागो तथा महाराष्ट्रिको की संस्कृति के विखरे हुए अशो को खोजा जा सकता है। यहां महाराष्ट्री "पुत्त" तथा मराठी (मौखिक) "पूत" शब्दो के विभक्ति-रूप दे रहा हूं। आगे चलकर निर्णय करूंगा कि उनमे महाराष्ट्रिको की महाराष्ट्री तथा नागो की वैदिक अपभ्रंश भाषा का कितना अश उपलब्ध होता है। निर्णय के आधार पर स्थूल अनुमान कर सकेंगे कि मराठी सस्कृति मे महाराष्ट्री तथा नाग सस्कृतियां किस प्रमाण मे सम्मिश्रित हुई —

	महाराष्ट्री	अपभ्रंश	मराठी
	पुत्त	(१)	
१.	पुत्रो	पुत्त	पूत (मौखिक)
२.	पुत्तम्	पुत्तु	पूतु (प्राचीन), पूत (अर्वाचीन मौ०)
३.	पुत्तेण	पुत्तु	पूतु (प्रा०), पूत (अ० मौ०)
		पुत्तिण	पुतें (लिखित). पूतानें, पूतें,
४.	पुत्ताअ		पूतानें (मौ०)
५.	पुत्तत्तो, पुत्ताहितो, पुत्ताउ, पुत्ताहि	पुत्ताअ	पूता
		पुत्तहु	पूतातून
६.	पुत्तस्स		पूताहून
७.	पुत्तम्मि, पुत्ते	पुत्तह	पूता
		पुत्ति	पूतीं
८.	पुत्त, पुत्ता	पुत्तहिं	पूवांत
			पूत (मौ०)
			पूता
		(२)	
१.	पुत्ता		
२.	पुत्ता	पुत्ता, पुत्त	पूत (मौ०)
३.	पुत्तेहिं	पुत्ता, पुत्त	पूत (मौ०)
		पुत्तेहिं	पूतांहीं
		पुत्तंहि	पूतांनीं
			पूतीं

	महाराष्ट्री	अपभ्रंश	मराठी
४.	—	—	पूतां
५.	पुत्ताउ पुत्तत्तो	पुत्तहुं	पूतांहून् पूतांतून
६.	पुत्ताण	पुत्ताहं	पूतां
७.	पुत्तेसु	पुत्तिहिं	पूतीं
८.	पुत्ता	पुत्तहो	पूतांनों, पूतहो (मी०)

महाराष्ट्री "पुत्त" शब्द मराठी मे "पूत्" होता है अर्थात् "त्त" संयुक्त का "त्" असयुक्त होता है तथा सयोग पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। जो महाराष्ट्रिक पहले "त्त" उच्चारण करते थे वही स्वयं "त्" कहने लगे—इतना कहने से काम नही चलेगा। "त्त" का "त्" उच्चारण हुआ तो उसका बहिःकारण भी होना चाहिए। बहिःकारण हैं नाग लोग। नाग (१) संयुक्ताक्षर का उच्चारण नहीं करते; (२) अन्त्य "अ" भी उच्चरित नहीं होता। (३) वे संयोगपूर्व का स्वर दीर्घोच्चारण-सहित बोलते थे। महाराष्ट्रिकों और नागों का सम्मिश्रण होने पर नागो की ये तीनों विशेषताएँ महाराष्ट्रिकों पर लादी गईं जो आगे चलकर नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों की मराठी-भाषा मे भी प्रकट हुईं। महाराष्ट्रिकों के केवल "प्", "उ", तथा "त्" तीन उच्चारण शेष रहे। महाराष्ट्री "पुत्तो" के (४) अन्त्य "ओ" को नागों ने "उ" में परिवर्तित कर "पूतु" रूप बनाया। वे "ओ" की अपेक्षा "उ" का उच्चारण सरल मानते थे। महाराष्ट्री "पुत्तेण" का अन्त्य "अ" लुप्त होकर तथा (५) "न्" को सानुनासिक बनाकर नागों ने "पूते" उच्चारण किया। महाराष्ट्रिकों को स्वर के आगे स्वर-सन्धि न कर उच्चारण करने का अभ्यास था। (६) उसे तोड़कर नागों ने 'पुत्ताअ" को 'पूता" बनाया। महाराष्ट्री "पुतत्तो" के "ओ" का "उ" बनाकर संयुक्ताक्षर के स्थान पर सामान्याक्षर बनाकर तथा (७) सानुनासिक लटकाकर "पूतातून्" पंचमी विभक्ति का रूप बनाया। "पुत्ताउ" मे (८) "उ" का "हु", "हु" का "हूं" तथा "हूं" का "हून्" रचकर "पूताहून्" रूप बनाया। "पुत्तस्स" के (९) "स" का "ह" तथा "ह" का "अ" बनाकर "पूता" रूप का निर्माण किया। ये नौ परिवर्तन चमत्कारपूर्ण नहीं हैं। सबसे चमत्कृतिजन्य परिवर्तन है (१०) "पूतां", पूतांहीं, पूतांनी, पूतांहून्, पूतांतून्, पूतांनो आदि बहुवचनान्त रूप के "ता" पर सानुनासिक का प्रभाव। मराठी में चतुर्थी एकवचनान्त रूप है "पूता" और बहुवचनान्त है "पूतां"। उसी प्रकार सम्बोधन एकवचनान्त है "पूता" और बहुवचनान्त है "पूतांनो"। "पूतांनो" "पूतान्हो' का अपभ्रंश है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि "पूतों" तथा "पूतानूहो" बहुवचनान्त रूपों में सानुनासिक तथा नकार कैसे और कहाँ से आया ? इसी प्रश्न को किञ्चित् विस्तृत करके यह कहते हैं कि मराठी में "पुतान्", "पुताना", "पुतानें", "पुतानून" आदि रूपों में बहुवचनान्त अनुस्वार तथा सानुनासिक उच्चारण कहाँ से आते हैं ? महाराष्ट्री में सानुनासिक-अनुस्वार नहीं है। उत्तर यह कि मराठी ने उसे नागभाषा से लिया है। पूर्ववैदिक भाषा में "पुत्र" शब्द का प्रथमा का बहुवचनान्त रूप चार प्रकार से होता था (१) पुत्रास (२) पुत्राः (३) पुत्रे तथा (४) पुत्रान्। मैंने संस्कृत भाषा का रहस्यज्ञान[1] शीर्षक निबन्ध में चतुर्विध प्रकार दिखाया है। वेदों में "पुत्रान्" की तरह अर्थात् "अन्" प्रत्ययान्त रूप बहुवचनान्त प्रथमा में क्वचित् ही मिलता है। "अन्" प्रत्ययान्त रूप द्वितीया के बहुवचन में आता है यह सब भली भाँति जानते हैं। परन्तु वेदों में अन्-प्रत्ययान्त रूप क्वचित् प्रथमा के बहुवचन में प्रयुक्त देखकर शाकल्यादि ने 'छन्दसि बहुलं' जैसे विशाल नियम का आश्रय लेकर वचन किया है कि अन्-प्रत्ययान्त रूप प्रथमा के बहुवचन का है। इसके अतिरिक्त अन्य कथन किया ही नहीं जा सकता था। शाकल्य के साहसिक कथन के प्रति गुरुत्वादरपूर्वक आश्चर्य भी प्रकट करना होगा। अभी दो वर्ष पूर्व मुझे ज्ञात हुआ है कि पूर्व-वैदिक तथा वैदिक भाषाओं में प्रथमा का बहुवचन अन्-प्रत्यय जोड़कर बनाया जाता है। प्रथमा का एकवचन "पुत्रान्" जिस पूर्ववैदिक भाषा में होता था उसे व्यवहार में लाने वाले ऋषियों और नागों का एकीकरण हुआ और नागों ने अन्-प्रत्ययान्त रूप ग्रहण कर लिया। पूर्ववैदिक "पुत्रान्" का अपभ्रंश नागभाषा में "पूतों" बनकर आया। "पूतांन" "पूतांनो" इत्यादि मराठी बहुवचनान्त रूप में अनुस्वार-अनुनासिक कहाँ से आया उसका यही उत्तर है। "त्यांना", तथा "त्यानूना" "त्यानून" तथा "त्यानूतून" "त्यांचें" तथा "त्यानूचें" आदि सानुनासिक अनुस्वार-नकार युक्त जो रूप आते हैं वे नाग लोगों द्वारा वैदिकभाषा से लिए गए प्रथमा के बहुवचनान्त अन्-प्रत्ययान्त रूप के कारण। "पूतानूहो" या "पूतांनो" मराठी रूप में अन्-प्रत्ययान्त रूप स्पष्ट दिखाई देता है। महाराष्ट्री में सम्बोधन के बहुवचन में अन्-प्रत्ययान्त अथवा अनुस्वार-सानुनासिक रूप नहीं होता।

उपर्युक्त सोलह मराठी विभक्ति-रूपों में इसी प्रकार की नाग भाषा की विशेषताएँ दिखलाई जा सकती है। निष्कर्ष यह कि सोलह महाराष्ट्री रूपों में

---

[1] "संस्कृत भाषा का रहस्य-ज्ञान"—अनु०।

नाग भाषा के सम्पर्क से लगभग बीस-पच्चीस परिवर्तन हुए हैं। स्थूल अनुमानानुसार कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण महाराष्ट्री भाषा की सम्पूर्ण मराठी भाषा से तुलना की जाय तो महाराष्ट्री पर नाग भाषा का संस्कार एक को डेढ़ के हिसाब से पाया जायगा। उक्त नैरुक्तिक कथन का सामाजिक आशय यह है कि महाराष्ट्रिकों में नागों का सम्मिश्रण एक को डेढ़ के प्रमाण से हुआ और मराठे कहलानेवालों का जन्म हुआ। महाराष्ट्रिको की संस्कृति नागों से किंचित् श्रेष्ठ थी अत. नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न नवीन लोगों का "मराठे" नाम "महाराष्ट्रिक" से प्रचलित हुआ, नागो के नाम पर "नागे" नहीं हो पाया।

महाभारत मे बतलाया गया है कि नाग-स्त्रियो के आस्तिकादि ऋषियों तथा अर्जुनादि क्षत्रियो ने विवाह किया और पितृसावर्ण्यानुसार ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रजा उत्पन्न हुई। महाभारत और विष्णुपुराण जैसे पुराणेतिहास-ग्रन्थों मे कश्यप की तेरह पत्नियो मे से कद्रू के उदर से नागो की उत्पत्ति कथन की गई है। इस जनश्रुति में इतिहासोपयोगी तथ्य यही है कि कश्यप समुद्र (आज जिसे यूरोपीय "कस्पिअन सी" कहते हैं) के आसपास के प्रदेश मे राक्षस, गरुड, नाग आदि बसे थे जहाँ से परिभ्रमण करते हुए वे काश्मीर, तक्षशिला, सिन्धु, मथुरा आदि प्रदेशो से होकर पाताल मे याने नर्मदा के दक्षिण में उपनिवेशन कर उन्होने कई ग्राम बसाये और सामान्य राज्य-पद्धतियाँ निर्माण कीं। नागो के सौ कुल थे। जनमेजय ने वासुकी, तक्षक, ऐरावत आदि अनेक कुलों का वध किया। नागो का समाज मातृसत्तात्मक था। अर्वाचीन "नायर" नागो के वंशज है। "नाग" शब्द मे सम्बन्धार्थक प्राकृत "केर" प्रत्यय जुड़कर "नागकेर" प्राकृत शब्द बना। "नागकेर" का अपभ्रंश हुआ "नाअएर"। नाअएर=नाएर=नायर।

यलबुर्गा के "सिन्द" (शक-सम्वत् ६००-१००० तदनुसार सन् ६७८ से १०७८ ई०) नागवंशीय थे और उनकी पताका नागांकित थी। ग्वालियर के शिन्दे-सरकार की मुद्रा पर भी दो नाग अंकित है। "शिन्दा" शब्द शक-सम्वत् ६०० मे प्रचलित "सिन्द." का अपभ्रंश है। बहुत से विद्वानो का मत है कि सिन्दा "सेन्द्रक:" से बना है; परन्तु वह निराधार है। सेन्द्रक से मराठी उपनाम "शेन्द्रे" बनता है। तात्पर्य यह कि महाराष्ट्रिको के बहुत पूर्व नाग नर्मदा से लेकर त्रावणकोर तक फैले हुए थे।

महाराष्ट्रिकों तथा नागो का सम्मिलन शक-सम्वत् पूर्व ६०० से शकोत्तर ४००

तक अर्थात् एक हजार वर्ष तक हुआ और "मराठे" नामक जाति की उत्पत्ति हुई। दोनों गणराज्य जैसी राज्य सामान्य-पद्धति चलाते थे, उससे अधिक सक्षम पद्धति निर्माण करने की सामर्थ्य तथा बुद्धि नहीं थी। अतः उत्तरी भारत के चालुक्य यादवादि सम्राटों की सेवा करने में ही उनका क्षात्रतेज चुक जाता था तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। महाराष्ट्रिकों की महाराष्ट्री में थोडा-बहुत काव्य-साहित्य भी था; नागों की नाग भाषा में जो भी साहित्य था वह कभी लिपिबद्ध नहीं हो पाया। निरक्षर नागों तथा ईषदक्षर महाराष्ट्रिकों की सन्तान मराठों की संस्कृति महाराष्ट्रिकों की संस्कृति से कनिष्ठ तथा नागों से किंचित श्रेष्ठ रही। महाराष्ट्रिक सूर्यवंशी क्षत्रिय थे और नागा शेषवंशी क्षत्रिय। शक-सम्वत् ४०० (४७८ ई०) के लगभग उत्पन्न हुए मराठों में, सूर्यवंश तथा शेषवंश दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक था। धर्मोपासना के क्षेत्र में महाराष्ट्रिक पुराण-वैदिक धर्मानुयायी थे पर बौद्ध-क्रान्तिकाल के पश्चात् वे राम-कृष्णादि के उपासक बन गये।

नागों पर बौद्धों का प्रभाव

बहुत प्राचीन काल से नाग सर्प-पूजक तथा वन-देवतानुयायी थे, पर बौद्ध क्रान्ति के उपरान्त उन पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव पडा। बौद्ध-भिक्षु तथा श्रमणक दक्षिण में सर्वत्र फैल गये और जहाँ-जहाँ नागों की बस्तियाँ थीं, वहाँ-वहाँ उन्होंने अपने विहारों तथा गुफाओं की स्थापना की। दक्षिणारण्य में नागों की बस्ती की कोई पहाडी या मैदान की ओर का उतार देखिए, वहाँ बौद्धों के विहारों तथा गुफाओं के असंख्य अवशेष दिखाई पड़ते हैं। यथा : पूना से खण्डाला तक तीस मील की पहाडी में (१) पर्वती (२) भाम्बुर्डे (३) घोरवाड़ी (४) इन्दुरी (५) फिरंगाई की टेकरी (६) भाजे (७) वेड़सें और (८) कार्ले इन आठ स्थानों में बौद्धों के चिह्न उपलब्ध हैं। पूना से पलसदेव तक के मैदानों में विपुल बौद्ध अवशेष बिखरे हुए हैं। तात्पर्य यह कि नागों पर बौद्ध-धर्म ने अत्यन्त प्रभाव डाला था।

प्राचीन मराठों में राजनीतिक निष्ठा का अभाव

नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों पर वैदिक धर्म का, उपासना-मार्ग का, वन-देवता-पूजन का, सर्पोपासना का तथा बौद्ध-धर्म का पंचविध प्रभाव पड़ा, फलतः उनकी धार्मिकता एकनिष्ठ न रह पाई ; वह अनेक अंशों में बँट इसीलिए सुविधापूर्वक नहीं कह सकते कि मराठे अमुक धर्म के

अनुयायी है। सभी धर्मों और सभी देवताओं के अनुयायी किसी एक धर्म के, किसी एक देवता के कट्टर उपासक नहीं बन सकते। शक-सम्वत् ४००-५०० से लेकर अगली तीन-चार शताब्दियों में मराठा क्षत्रियों की धार्मिक स्थिति डाँवाडोल थी। न वे आर्य ऐतिह्य पूरी तरह जानते थे, न बौद्ध ऐतिह्य से भली भाँति परिचित ही थे—नागों के वन्य देव-धर्म में तो ऐतिह्य का अभाव ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि उक्त काल में महाराष्ट्र में मराठा समाज जड़बुद्धि व्यक्तियों का अव्यवस्थित समूह बना रह गया। न निश्चित देवता, न धर्म, न अक्षर, न ऐतिह्य—इस प्रकार मराठे, राज्यकर्ताओं तथा ब्राह्मणों की अखण्ड पराजय के सहायक बने, जो रोटी देता उसकी ओर से वे युद्ध करते थे; यही एक व्यवसाय उनके लिए खुला था। आज चालुक्यों की ओर से लड़ रहे हैं, कल राष्ट्रकूटों से मिलकर चालुक्यों को नीचा दिखा रहे हैं, तो परसों यादवों के सेवक बनकर चालुक्यों का सफाया कर रहे हैं और अन्त में मुसलमानों के गुलाम बनकर यादवों का समूल नाश कर रहे हैं। मराठा क्षत्रिय समाज बिना सोच-विचार के राजनीतिक अस्वास्थ्य का कारण बन चुका था। अन्नदाता न मिलता तो रीते बैठने का अभ्यास न होने से ये दंगाई आपस में एक-दूसरे से युद्ध कर प्रतिपक्षी की दस-पाँच मील भूमि पर अधिकार पाने में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार के अन्तःस्थ कलहों की कुछ कथाएँ मैंने प्रकाशित की हैं और कुछ अब तक अप्रकाशित हैं। नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न लोग ही शाहजी-कालीन अराष्ट्रीय अथवा अधम संस्कृति के मराठे हैं।

मराठों का उद्धार करनेवाली उत्तरी आर्यो की उच्च संस्कृति

शाहजी-कालीन मराठे कौन थे और वे किस प्रकार इतने अराष्ट्रीय तथा अधम बन गये थे, इसका समाधान करने के लिए पीछे कितने ही पृष्ठों का विवरण देना पड़ा है। ये मराठे क्षत्रिय अवश्य थे परन्तु वे राम-कृष्ण-जनकादि *आत्म-अनात्म का विचार करनेवाले तथा साम्राज्य-स्थापना करनेवाले* महान् क्षत्रियों के सीधे वंशज नहीं थे। वे तो रामकृष्णादि-कालीन अल्पोन्नत आयुधजीवी क्षत्रियों तथा मुख्यतः नागों के वंशज थे। इनके अतिरिक्त शाहजी के राज्यत्व-काल में एक समाज और भी था जो अपने को मराठा-क्षत्रिय कहता था। मराठा-क्षत्रिय वे क्षत्रिय थे जो महाराष्ट्र देश में कई शतियाँ रह चुके थे पर उत्तरी भारत से आये थे—नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न "महाटा" नहीं थे। महाराष्ट्र-देशवासी मराठा-क्षत्रियों में चालुक्य, यादव, पल्लव, भोज जैसे महान्

राज-वंशों के क्षत्रिय वंशजों का समावेश होता है। चालके, यादव, जाधव, पालवे, भोसले आदि उपनाम चालुक्यादि संस्कृत नामों के मराठी अपभ्रंश है। इन्हीं महान् राजवंशों में पुलकेशिन् अमोघवर्ष, विक्रमादित्य, सिंघण, अपरार्क आदि महापुरुषों ने जन्म लिया और उन्हीं के वंश में शाहजी और शिवाजी जैसे अवतारी पुरुष हो गये है। महाराष्ट्र-ब्राह्मण शब्द का मराठी अपभ्रंश है मराठा-ब्राह्मण, उसी प्रकार महाराष्ट्र-क्षत्रिय का मराठा-क्षत्रिय है। महाराष्ट्र-ब्राह्मण का अर्थ है महाराष्ट्र में चिरनिवास करने वाला ब्राह्मण; महाराष्ट्र-क्षत्रिय का अर्थ होगा महाराष्ट्र का चिरनिवासी क्षत्रिय।

भोज, यादव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, निकुम्भ आदि क्षत्रिय संस्कृत के जानकार और वैदिक संस्कृति के कट्टर उपासक थे। उन्हीं का आश्रय पाकर विज्ञानेश्वर, भास्कराचार्य, हेमाद्रि जैसे प्रसिद्ध पण्डितों ने संस्कृत-सरस्वती की अपूर्व सेवा की। नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों का आश्रय पाकर भी भास्कराचार्य जैसे प्रतिभा-सम्पन्न मनीषक का निर्वाह नहीं हो पाया, न हो सकता था। होता तब, जब नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों में पण्डितों की, उनकी कर्तृत्वशीलता की, उनकी विद्यासम्पन्नता को समझने की बुद्धि होती। भोज-चालुक्यादि महाराष्ट्र-क्षत्रिय तथा नाग महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों की संस्कृति में आकाश-पाताल का अन्तर था। इसी अन्तर के कारण भोज-चालुक्यादि महाराष्ट्र-क्षत्रिय नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों से विवाह-सम्बन्ध करना अधर्म मानते थे। यही भेद महाराष्ट्र में भोसलों के शासन-काल में भी प्रचलित था। भोसलों के विवाह-सम्बन्ध विवक्षित "पंचकुलीनों" तथा "दसकुलीनों[१]" से ही हो सकते थे, चाहे जिस मराठा "कुलीन" से नहीं; क्योंकि भोसले महाराष्ट्र-क्षत्रिय थे, वे नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में अपनी हेठी मानते थे। यह रूढ़ि चमत्कारपूर्ण तथा हास्यकारक परिस्थिति उत्पन्न कर देती थी। जहाँ भोसले "पंचकुलीनों" के बाहर के मराठों को विशेष अर्थ में सांस्कृतिक दृष्टि से हीन मानते थे, वहाँ बाहर के मराठे उन्हें और उनके "पंचकुलीनों" तथा "दसकुलीनों" को संकर कहकर व्यंग्य करते थे। यों दोनों क्षत्रिय है, अन्तर मात्र भिन्न संस्कृतियों का है। एक दल साम्राज्य-स्थापना की सामर्थ्य रखता था तो दूसरे में सामान्य देशमुखी[२] टिका रखने की अकल-

---

१ महाराष्ट्र-क्षत्रियों की एक उपजाति—अनु०।

२ परगने में नम्बरदारों का अधिकारी—अनु०।

नही थी। एक चतुरस्र विद्याओं का ज्ञाता तो दूसरा विद्याओं का परम्परागत शत्रु। एक सनातन-धर्म तथा गोब्राह्मण-प्रतिपालक तो दूसरा हर धर्म का, देवता का और पाखण्डियों का उपासक। एक सुवर्ण यज्ञोपवीत धारण करने में गौरव अनुभव करनेवाला तो दूसरा "नाग-नरसोबा"[1] सिर पर धारण कर नाचनेवाला। प्रत्येक काल में कभी राष्ट्रकूट तो कभी यादव तो कभी कोई अन्य—प्रत्येक वंश कनिष्ठ श्रेणी के इन क्षत्रियों की व्यवस्था करने का, उन्हें सनातन-धर्म की ओर प्रवृत्त करने का तथा वे प्रत्येक के सेवक बनकर न रहें, इसका प्रयत्न करता रहा और कठिनाई अनुभव करता रहा। उक्त चिन्ता का निवारण किस प्रकार और किस सीमा में किया जा सकता, इसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

चालुक्यादि के राज्य-काल में नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों की व्याप्ति महाराष्ट्र-देश में किसानों से लेकर पाटील[2]-देशमुख तक हो चुकी थी। सबसे प्रथम महाराष्ट्रिकों ने दण्डकारण्य तथा दक्षिण में उपनिवेशन किया तो वे किनारे-किनारे से गण-राज्य स्थापित करते बढ़ते गये। गणराज्य का नेतृत्व गण के प्रमुख ज्येष्ठराज को मिलता था और गणसंघ के गण उसके अनुयायी होते थे। चालुक्यादि सम्राटों के शासन-काल में ज्येष्ठराज देशमुख बन गये और गण के गण पाटील तथा कुणबी; और फिर गणराज्य समाप्त हो गये। पाटील का अर्थ है "पट्टकील"। "पट्टकील" सामाजिक शब्द का अर्थ उसके अवयवों से प्रकट होता है। अशोक के समय कपास के बने पट्ट लिखने के काम आते थे जिन पर भूमि के स्वामित्व का उल्लेख किया जाता था। वे पट्ट कीलकों में अर्थात् बाँस की पोली नलियों में सुरक्षित रखे जाते थे। पट्टकील का अर्थ हुआ बांस की पोली नलियाँ जिसमें पट्ट रखे हों। जिसके अधिकार में पट्टकील होता उस व्यक्ति को पट्टकीलक कहा जाता था। पट्टकीलक का अपभ्रंश है "पट्टकील"। पट्टकील का मराठी अपभ्रंश पाटैलु, पाटैल, पाटील है। तांबे की पट्टी पर भूमि-स्वामित्व का उल्लेख करने की प्रथा चली तो पाटैलु के पास ताम्रपत्रों का संग्रह सुरक्षित रहता था। चालुक्यादि के शासन-काल में गणसंघ के कतिपय गण गाँव-गाँव में पाटैलु तो कुछ गण कुणबी बने।

"कुणबी" का अर्थ है कुलपति। कुलपति का अपभ्रंश है कुलवइ, कुलवी, कुणबी। कुणबी शूद्र नहीं हैं। कुणबी याने धरती जोतनेवाला। वह निरपवाद

---

[1] सामान्य अन्धश्रद्धा से पूजे जानेवाले ग्रामीण देवता—अनु०।
[2] गाँव का नम्बरदार—अनु०।

रूप में चालुक्यों के चातुर्वर्णिक शासन-काल में नागमहाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठी हुआ करता था; शूद्र कतई नहीं। शूद्रों का कार्य तो सेवा करना था। तात्पर्य यह कि चालुक्य-यादवों के युग में कृषि का कार्य करनेवाले कुणबी, उनके नेता पाटील तथा पाटीलों के नेता देशमुख सर्वत्र नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठा थे। आज कुणबी धनवान हो जाय तो वह अपने को "मराठा" कहता है, सामान्य कुणबी को "पाटील" कह दीजिए—वह खुश हो जाता है। इसका कारण यह है कि कुणबी वंश से मराठा है अतः मराठा कहलाना उसका जन्मसिद्ध तथा वंशसिद्ध अधिकार है। कुणबी, पाटील, देशमुख, मराठा मराठी-भाषी है। वे आर्य-संस्कृति की निम्नतम सीढी पर थे और उनके उद्धारार्थ महाराष्ट्र-क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों को ऐसे उपाय खोजने थे कि जिनके बल पर उक्त कुणबी-पाटील-देशमुख आर्य-संस्कृति के प्रति गर्व अनुभव करने लगें।

उस युग में महाराष्ट्र के शूद्रों ने कुलपति या कुणबी या कृषिकार की प्रतिष्ठा नहीं पाई थी। जिस समय नागों और महाराष्ट्रिकों की दक्षिण में भेंट हुई उस समय नागों में तीन वर्णों या जातियों का अस्तित्व था: (१) नाग-क्षत्रिय (२) नाग-शूद्र तथा (३) नाग अतिशूद्र। नाग-क्षत्रिय तथा महाराष्ट्रिकों के विवाह-सम्बन्धों द्वारा मराठों की उत्पत्ति हुई। नाग-अतिशूद्र वे हैं जो आज महार[1] कहलाते हैं। इनके नाम के साथ नाग-नाक प्रत्यय अब भी जुड़ा हुआ पाया जाता है। यथा: रामनाक, कामनाक इत्यादि। मराठों की उत्पत्ति के समय नाग-शूद्र माने जाते थे। महाराष्ट्रिकों के साथ उनके उत्तरी भारत के शूद्रातिशूद्र भी दक्षिण में आये, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम थी। जहाँ-जहाँ आर्य उपनिवेशी पहुँचते तो वहाँ के अर्द्धवन्य भूमिजों को शूद्र तथा अतिशूद्र बनाकर उनसे दास्य-कर्म कराते थे। महाराष्ट्रिकों को दक्षिण में बने-बनाये नाग-शूद्र तथा नाग-अतिशूद्र मिले। नाग-शूद्रों के साथ महाराष्ट्रिकों के साथ आये हुए उत्तरदेशीय अनिरवसित शूद्रों, वैश्यों तथा नाग-क्षत्रियों के सम्बन्ध प्रस्थापित हुए और वह प्रजा उत्पन्न हुई जो शाहाजी के काल में शूद्र-कुणबी कहलाती थी। अतः नवीन शूद्र बनाने का प्रयत्न ही न करना पड़ा। कहना न होगा कि नाग-शूद्र तथा अतिशूद्र नाग-क्षत्रियों की तुलना में निम्न संस्कृति के थे। उनमें भी आर्य-संस्कृति के प्रति अभिमान उत्पन्न हो इसके लिए महाराष्ट्र-क्षत्रिय तथा ब्राह्मण प्रयत्नशील थे।

---

[1] अन्त्यज—अनु०।

महाराष्ट्रिकों के साथ उत्तर के ब्राह्मण---यजुर्वेदी ब्राह्मण---पुरोहित-कर्म सम्पादनार्थ दक्षिण में आये और महाराष्ट्रिकों के साथ ही गाँव-गाँव में बस गये। नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों की ग्राम्य संगति ने यजुर्वेदी ब्राह्मणों को अत्यन्त अज्ञ बना दिया था। इन्हें सुधारने तथा सुसंस्कृत बनाने का उत्तरदायित्व महाराष्ट्र-क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों पर था।

इस प्रकार चालुक्य-राष्ट्रकूट-यादवादि के राज्य-काल में महाराष्ट्र देश में (१) अल्पसंख्यक भोज-यादवादि उत्तर-भारतीय महाराष्ट्र क्षत्रिय तथा ब्राह्मण (२) नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठा देशमुख, पाटील और कुणबी (३) नाग-शूद्र तथा अतिशूद्र और (४) पुरोहिती तथा पटवारगरी करनेवाले कर्मभ्रष्ट यजुर्वेदी ब्राह्मण आदि चतुर्विध संस्कृतिवाले लोग बस गये थे और अल्पसंख्यक महाराष्ट्र-क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों पर राष्ट्र तथा समाज के नियन्त्रण तथा संचालन का उत्तरदायित्व था। अल्पसंख्यक महाराष्ट्र-क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों को उत्तर से उनके साथ आनेवाले थोड़े से क्षत्रियों और ब्राह्मणों का बल प्राप्त था। उत्तरदेशीय क्षत्रिय तथा विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्र के उच्च सेनाधि--कारी तथा असैनिक अधिकारी थे; नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठे तथा कर्मभ्रष्ट यजुर्वेदी ब्राह्मण या तो सेना के स्थायी सैनिक अथवा सेवक थे या असैनिक सेवा-विभाग तथा धर्म-विभाग में स्थायी, निम्नस्तर के कर्मचारी तथा ग्राम-वृत्ति अपनाये हुए थे। निकृष्ट मराठा और कर्म-भ्रष्ट यजुर्वेदी ब्राह्मण मराठी भाषा बोलते थे और अन्य देवताओं की उपासना करते थे। झुकानेवाला आ जाता तो ये लोग झुकने को अज्ञानवश सदैव तत्पर रहते। जैन, लिंगायत, महानुभावी, गोरखपंथी आदि अनेक पाखण्डी उन्हें पागल बनाया करते और वे उनके शिकार होते जाते थे। यही नहीं, नवीं-दसवीं शती के लगभग नन्दुरबार प्रदेश के अनेक यजुःशाखी व्यापारियों, सर्राफों और रँगरेजों ने ईरान, अरब और शामलदेश के साथ व्यापार करते हुए मुसलमान पीरों-फकीरों का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। नागोत्पन्न मराठे और यजुर्वेदी ब्राह्मण सदैव उसकी सेवा करने को तैयार रहते थे जो रोटी दे सकता हो---फिर वह स्वधर्मी हो अथवा विधर्मी। मराठों का स्वभाव बदला इसलिए कि वे नागवंशीय थे। वंशीय अर्थात सामाजिक कारणों का प्रभाव कुल व्यावहारिक, राजनीतिक तथा धार्मिक पहलुओं पर पड़कर ही रहता है---यह उसका उत्कृष्ठ उदाहरण है।

अज्ञान-पंक में डूबे प्राकृत जनों को उस काल में सुसंस्कृत प्रदेशों में लहरानेवाली संस्कृति के स्पर्श से पवित्र बनाना राष्ट्र के संचालकों के लिए

अनिवार्य था; बिना उसके दोनों में समरसता स्थापित होना असम्भव था। संस्कृत भाषा के द्वारा स्पर्श किया जाय तो यह अब तक निषिद्ध भी नहीं हुई थी। एक बात अवश्य संतोषजनक थी। वह यह कि सारे महाराष्ट्र देश में मराठी शालिवाहन की पाँचवीं से नवीं शती तक देशमुख से लेकर रंक तक समस्त जातियों और जनों की जन्मभाषा बन चुकी थी। प्रान्तीय भेदानुसार प्रान्त-प्रान्त में किंचित् भिन्नता सहित उच्चारित अवश्य होती थी, किंचित् भिन्न भेदानुसार बोली जाती थी परन्तु देवगिरि प्रान्त की मराठी भाषा मध्यवर्ती होने के कारण समस्त प्रान्तों में सहजता से समझी जाती थी। इसी कारण राज्यकर्ता ब्राह्मण-क्षत्रियों ने देवगिरि की मराठी भाषा को शिष्टता प्रदान कर उसके माध्यम से उच्च आर्य-संस्कृति का प्राकृत जनों में प्रसार करने का निश्चय किया। आर्य-संस्कृति के प्रसार का अर्थ था आर्य-संस्कृति के विद्यमान वर्णधर्म, आश्रमधर्म, यौनधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, राष्ट्रधर्म एवं देशधर्म-ऐतिह्य का, शास्त्र तथा कलाओं के वृद्धिगत हुए ज्ञान का प्रसार करना। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्कालीन प्राकृत जनों में धर्म तथा ज्ञान का नितान्त अभाव था; इसलिए था कि प्राकृत जन महाराष्ट्र-क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों के राष्ट्रीय अवयव नहीं थे, केवल विदेशी मजदूरों जैसे थे। नाग तथा महाराष्ट्रिकों के सम्मिश्रण से मराठों का जन्म केवल चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व ही तो हुआ था। नये लोगों का नया महाराष्ट्र बनाने का श्रेष्ठ विचार तत्कालीन बाह्य महाराष्ट्र-क्षत्रिय तथा ब्राह्मणों के मस्तिष्क में स्वहितार्थ तथा स्वसुरक्षार्थ उपरिनिर्दिष्ट समरसता की सिद्धि के लिए आया। ज्यों-ज्यों उत्तर की ओर से अनेक राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से स्वकीय क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों का दक्षिण आना उत्तरोत्तर कम होता गया, त्यों-त्यों राज्यकर्ताओं को महाराष्ट्र के मराठा, कुणबी, शूद्र तथा अतिशूद्रों से ममतामय समर्थन एवं सहायता पाने का प्रयत्न करना अनिवार्य होता गया।

निश्चय किया गया कि समरसता चार द्वारों से प्रवेश करेगी। प्रथम द्वार भक्ति का था। असंस्कृत बुद्धि के अव्युत्पन्न मराठों में राम, कृष्ण इत्यादि देवताओं की भक्ति प्रसृत करने के उद्देश्य से शक-सम्वत् ६०० (सन् ६७८ ई०) से ब्राह्मण कवियों ने अभंग-ओवियों में काव्य-निर्माण किया। द्वितीय द्वार ऐतिह्य का था। महाभारत, भागवत तथा रामायण के भिन्न-भिन्न अंगों पर गद्य-पद्यमयी रचनाएँ प्रस्तुत कर भारतीय ऐतिह्य का ज्ञान मराठी में फैलाने का उपक्रम इसी युग में हुआ। तृतीय द्वार वेदान्त का था। शांकरीय वेदान्त

का प्रसार करने के लिए छिन्दवाड़ा के गिन्द राजा के आश्रित मुकुन्दराज ने संस्कृत तथा प्राकृत में ग्रन्थरचना इसी समय की। ज्ञानेश्वर ने पांचरात्रीय वेदान्त का गान इसी अवसर पर किया। चतुर्थ द्वार ग्राम-पुरोहितों तथा कुणबियों के लिए उपयोगी था : ग्रहज्योतिष तथा फलज्योतिष का। असंस्कृतज्ञ ग्राम-पुरोहित ग्रह-गणित कर पंचांग तैयार कर सके, इसलिए श्रीपति ने ग्रह-गणित की "रत्नमाला" मराठी में इसी युग में गूँथी और कुणबियों की जानकारी के लिए महदेव, भाडली ने संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर "मेघमाला" तथा "सम्वत्सर फल" की मराठी में इसी काल में रचना की। इस प्रकार मराठा लोगों के अनुग्रहार्थ शक-सम्वत् ६०० से १२०० तक मराठी भाषा में ग्रन्थ-रचना होती जा रही थी और मराठा राष्ट्र धीरे-धीरे साक्षर बनता जा रहा था। अचानक मुसलमानों का आक्रमण होता है और शक-सम्वत् १२४० (१३१८ ई०) में महाराष्ट्र यवनाधीन हो जाता है, और मराठी भाषा का राजाश्रय समाप्त हो जाता है।

अब तक हमने इस बात की परीक्षा की कि आपत्तियों से घिरे रहने पर भी मराठों के मन में आर्य-संस्कृति का बीज ३०० वर्षों में कितना-कुछ अंकुरित हुआ। मराठा, कुणबी, शूद्र तथा महार आर्य-धर्म से और हिन्दू रूढ़ियों से अनजाने आबद्ध हो गये, उनमें से बहुत थोड़े लोगों ने धर्म-परिवर्तन किया। परन्तु आर्य-धर्म के बाहर बसने वाले कसाई, रँगरेज आदि अन्त्यावसायी लोग जिनमें आर्य-संस्कृति का प्रसार नहीं हो पाया था वे आजाति मुसलमान बन गये। हिन्दू संस्कृति के सीमा प्रदेश के निवासी यदि मुसलमान बनते तो कोई आश्चर्य नहीं था; क्योंकि वे मूलतः हिन्दू थे ही नहीं। आर्य-संस्कृति के प्रसार का उत्साह देश में किस सीमा तक एकरूप हो चुका था, इसकी परीक्षा एक दूसरे प्रकार से आगे चलकर हुई। मुसलमानों के शासन-काल में आर्य-धर्म-प्रसार का सत्कार्य सभी जाति के सन्तों ने अनन्वित कष्ट सह कर जारी रखा। वह भी इस प्रबल वेग से कि मराठी भाषा में शक-सम्वत् १२०० (१२७८ ई०) के आगे ५०० वर्षों में महाभारत पर महाभारत और रामायण पर रामायण रची गईं। मराठा, कुणबी, शूद्र तथा अतिशूद्र समाज पर इस प्रकार की अविरत वर्षा होना अत्यन्त आवश्यक था, क्योंकि शक-सम्वत् १२०० (सन् १२७८ ई०) के पूर्व की वर्षा ने मराठा समाज को धर्मपरिवर्तन से परावृत्त अवश्य किया था परन्तु उस समाज में पर्याप्त राष्ट्रीय भावना का उदय नहीं हुआ था। अभी तक विदेशी मुसलमान शासकों के विरुद्ध अपेक्षित उत्कट द्वेष

नहीं उत्पन्न हुआ था। अभी तक पेट के लिए धर्म-विरोधियों की सेवा करते हुए मराठों को अपेक्षित लज्जा का अनुभव नहीं होता था। मूर्तियाँ नष्ट की जा चुकी थीं, स्त्रियाँ भ्रष्ट की जा चुकी थीं, सज्जनों की आबरू लुट चुकी थी, गोमाता की हत्या हो चुकी थी —पर अब तक इन अत्याचारों को खुली आँखों देखकर मराठों का कलेजा नहीं जलता था।

राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई इसी लज्जास्पद एव अधम स्थिति मे नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठों के बीच, उत्तर के ऐतरेय ब्राह्मण की प्रशस्ति प्राप्त भोज क्षत्रियों के वशज शाहजी राजा भोसला अवतीर्ण हुआ जिसने चतुराई से तथा पराक्रम से यवनो से जूझकर, अपने अकेले के साहस पर स्वराज्य की नींव डाली। आर्य-क्षत्रियो का नाम फिर एक बार त्रिभुवन मे गूँजा और अखिल आर्यों की समस्त पीढियो का उद्धार हुआ।

उत्तरदेशीय महाराष्ट्र-क्षत्रिय तथा नाग-महाराष्ट्रिकोत्पन्न मराठा-क्षत्रिय आगे चलकर एकत्र हुए और सब मिलकर मराठा कहलाये। यह इतिहास शाहजी के अनन्तर का है अतः यहाँ उसकी विस्तृत चर्चा करना अप्रासंगिक होगा। महाराष्ट्र-क्षत्रियो का सोमवश, महाराष्ट्रको का सूर्यवश तथा नागो का नाग-वंश मिलकर आज का मराठा राष्ट्र या सच कहे तो आज के मराठा लोग बने हैं। चौथा है परमार आदि का अग्निवश। श्री चिन्तामणराव वैद्य प्रतिपादित करते है कि अग्निवंश कल्पित है। फिर भी यह सत्य है कि परमार आदि दुण्डार-देशीय कुल महाराष्ट्रकों के साथ दक्षिण मे आये। उनकी सस्कृति महाराष्ट्रिकों के समान थी, अतः नागवंश के सम्मिश्रण से महाराष्ट्रिकों मे जो परिवर्तन हुआ वह परमार आदि के सम्मिश्रण से नही हुआ।

१३ | महाराष्ट्र तथा उत्तर कोंकण का उपनिवेशन

प्रान्तीय भापाभेदो का एकीकरण

मागेली, वारली, ठाकरी, कातकरी, कोली, कुणबी, पातेणी, चित्पावनी
कहाड़ी, सारस्वती, गोमान्तकी, गोकर्णी, सोन्धेकरी, मिरजी, पण्ढरपुरी,
मगलवेढी, वेदरी, नान्देड़ी, रायपुरी, मूलतानी, लाडी आदि प्रान्तीय तथा
जातीय महाराष्ट्री भापा के छोटे-मोटे पुंज आज महाराष्ट्र कहे जानेवाले प्रदेश
के सीमान्त को दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व तथा पाणिनि-काल के अनन्तर व्याप्त
कर चुके थे। उक्त सीमाप्रदेश के भीतर के विस्तृत भूभाग नागपुरी, अलजपुरी,
वहाड़ी, खानदेशी, पेठणी, नासिकी, जुनरी, पुणेरी, भिमयड़ी, बालेघाटी,
अहमदनगरी, कोल्हापुरी, मावली आदि प्रान्तीय महाराष्ट्री भापा के सैकडों पुंज
उपनिवेशनकाल में स्थिर हुए। शालिवाहन की पाँचवी शती के लगभग महा
राष्ट्रिको को तथा नागों के सम्मिश्रण से बने मराठो की भापा को मराठी का
गौरवपूर्ण नाम दिया गया। रूप-साम्य होने से अन्योन्य भिन्न प्रान्तीय भापाएँ
उक्त मराठी मे राजनीतिक, व्यापारिक, धार्मिक तथा साहित्यिक कारणो से
घुल-मिल गईं और अधिकांश में शिष्ट मराठी बन गईं। शक-सम्वत् की पाँचवी-
छठी शती तक ये भिन्नभापी दल विशृंखल प्रतीत होते थे। राजनीतिक कारणों
से समरस होकर उनका सम्पूर्ण प्रदेश पहले त्रिमहाराष्ट्रक और बाद में स्थायी
रूप से महाराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

महाराष्ट्र निर्माण करने मे जितना सहयोग महाराष्ट्रिको ने दिया उतना ही
मागेली, वारली, कोली, कातवाड़ी, लाडी, रांगडी आदि पुंजो ने दिया है। ये
पुंज यदि सीमा-प्रदेश मे न होते तो मराठी भापा के उस विस्तार और
व्यापकता का दर्शन न होता जो आज होता है; वह अधिक संकुचित तथा
मर्यादित दिखाई देती। सीमा प्रदेश की भापाओं की प्रान्तीय विशेपताएँ पहले
जमाने में साधु-सन्तों के द्वारा रचित साहित्य के प्रसार के कारण हट गयी और

आज मनोरंजनी मुद्रित पुस्तक-पठन के कारण हटती जा रही हैं। कातेने, वारली आदि आदिमों ने महाराष्ट्रीय भाषा के सीमा-प्रदेश पर स्थानक तथा दौर से संचार किये। सौ वर्ष पूर्व वर्गी कार्य ग्वालियर, बुन्देलखण्ड, मालवा, बिलासपुर, बड़ौदा, मैसूर, तंजौर, मिरज सांगली, बेलगांव, बीजापुर, हुबली आदि महाराष्ट्र-बाह्य प्रदेश पर आनुवंश राजपूत, मालव भोंसला तथा ब्राह्मण शासकों ने मध्यकाल एवं पराधीन राज में चलाया। पानीपत के युद्ध ने मराठों की महाराष्ट्र-धर्म का प्रसार करने की उत्कट इच्छा को दबा दिया और शक-संवत् १७८० (१८५८ ई०) में चारों ओर सन्नाटा छा गया। यही कार्य महानुभाव भक्ति-मार्ग ने सात सौ वर्षों में मालवा, पंजाब, काफिरिस्तान तथा सिन्ध प्रदेशों में किया। महाराष्ट्र की राष्ट्रीय भावना यदि फिर एक बार जीवित हो उठे तो वह महाराष्ट्र-धर्म अर्थात् महाराष्ट्र-भाषा का सारे भारतवर्ष में प्रसार करने का पुनर्जन्म का कार्य पूरा करने का प्रयत्न निस्सन्देह करेगी, इसके लिए भविष्यवाणी की आवश्यकता नहीं। लोकमान्य के निर्माण-धर्म की विशेषता यही है।

संस्कृतोत्पन्न नदी-ग्राम-पर्वतनाम

दमण से बम्बई तक तथा सह्याद्रि तक के प्रदेश में मागेले, वारली, कोली, ठाकुर, कातवड़ी आदि के प्रदेश की नदियाँ, पहाड़ियाँ तथा गाँवों के नाम देख जाइए; वे सब संस्कृतोत्पन्न दिखाई देते हैं। ये नाम या तो वारली आदि लोगों द्वारा उपनिवेशन-काल में दिये गये होंगे या ब्राह्मणों द्वारा दिये गये होंगे। आज वारली तथा डोंगरी[1], कोली[2] आदि के प्रदेश में ब्राह्मण तथा मराठों की बस्ती बिलकुल नहीं है; पहले कभी रही होगी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। भूले-भटके ब्राह्मण दिख जाय तो दिख जाय। अतः प्रश्न है कि पहाड़ियों और गाँवों को संस्कृत नाम किसने दिये? यहाँ कुछ नाम दिये जाते हैं :—

नदियों के नाम

१. दमणगंगा नदी	२. कालू नदी
३. वरोली नदी	४. जोगणी नदी

[1] पहाड़ियों में बसने वाले—अनु०।

[2] धीवर—अनु०।

५. गाउण्ड नदी
६. बाणगंगा नदी
७. दूध नदी
८. वलई नदी
९. गोलभरी नदी
१०. सूर्या नदी
११. घोघती नदी
१२. कबूर्की नदी
१३. वैतरणा नदी
१४. सर्वर नदी
१५. वान्दरी नदी
१६. तानसा नदी
१७. देहर्जी नदी
१८. टाँकी नदी
१९. दिण्डी नदी
२०. कामान नदी
२१. सुपरी नदी
२२. उल्हास नदी
२३. जोमदरी नदी

गाँवों के नाम

१. दमरण (दामनीयकम्)
२. उम्बरगाँव (उदुम्बरग्राम)
३. फणसे (पनसीयम्)
४. बोरीगाँव (बदरीग्राम)
५. दाभले (दर्भपल्लम्)
६. शिरगाँव (श्रीग्राम)
७. कुसुम्बें (कौशाम्बी)
८. माहुली (मधुपल्ली)
९. बोरी (भौरिकिविधम्)
१०. साकरी (शर्करीयम्)
११. काशील (काशिलम्)
१२. वाशील (वाशिलम्)
१३. आरें (अरीहणम्)
१४. सावाशी (सांकाश्यम्)
१५. वले (वल्यम्)
१६. चुलें (चुल्यम्)
१७. आनिक (आणकीयम्)
१८. साकों (साक्षेयम्)
१९. पलशी (पालीशिका)
२०. इकटे (इक्कटिकम्)
२१. जव्हार (यवसाहार: प्रेक्षादिगण)
२२. पालें (पालेयम्: सख्यादिगण)
२३. सुपारें (सौपर्यम: संकाशादिगण)
२४. नले (नल्यम्: बलादिगण)
२५. दातिवरे (दात्तामित्रीयम्)
२६. इडें-पाड़लें (इकडीयम्: उत्करादिगण)
२७. अंधेरी (अन्धकगिरि)
२८. थल (स्थल)
२९. दाण्डे (दण्डम् कृश्यादिगण)
३०. मालवणी (मल्लवनम्)
३१. चिचवली (चिंचापल्ली)
३२. माहीम (मत्स्यमत्)
३३. तारापुर (तारापुरम्)
३४. कलवें (कदलीवनम्)
३५. वाघोली (व्याघ्रपल्ली)
३६. देवनरे (देवनगरम्)
३७. घारदिवी (घारद्वीपिका)
३८. मोरवें (मयूरवहम्)

ये सब अथवा अधिकाश नाम मांगेले. वारली, कोली आदि संस्कृतोद्भव प्राकृत भाषा बोलनेवालो ने मूलतः दिये होगे, इसके अतिरिक्त कुछ और अनुमान नही किया जा सकता। सोपारे, वालकेश्वर, ठाणे, कल्याण, दमण आदि किंचित् अपभ्रष्ट अथवा पूर्णतः संस्कृत नाम सम्भवतः वारली आदि के पश्चात् आनेवाले नलो, मौर्यो, शिलाहारो, दामनीयों आदि ने दिये होगे। अधिकाश नाम वारली आदि लोगो ने ही दिये होगे। शिलालेखो तथा ताम्रपटो मे "सोपारे" का नाम "शूर्परक"[1]उल्लिखित है। पर वह "सोपारे" प्राकृत उच्चारण का संस्कृत रूप है, उससे अधिक नही। मूल नाम है "सौपर्यम्"। "सुपरि" शब्द पाणिनीय सकाशादिगण मे दर्ज किया गया है। उसी प्रकार "शेवलसुपरि०" (५-३-८४) पाणिनीय सूत्र मे भी वह शब्द ग्रथित किया गया है। "सुपरिणा निवृत्त नगरं सौपर्यम्"—सुपरि नामक किसी व्यक्ति द्वारा बसाया गया नगर। "सौपर्यम्" का अपभ्रंश "सोपरे," "सोपारे" हुआ। किस शब्द का अपभ्रंश क्या होगा, इसका सम्यक विचार न कर शिलालेख-लेखकों तथा रचयिता जड व्यक्तियो तथा अधकचरे संस्कृतज्ञो ने "सोपारे" को संस्कृत "शूर्पारक" बना दिया। संस्कृत मे "शूर्पार" कोई शब्द नही है, है "शूर्प" किन्तु "अर" या "आर" प्रत्यय "शूर्प" शब्द मे कहाँ और किस कारण जुड़ा, इसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, अधकचरे संस्कृतज्ञ भला क्यों देखने चले हैं। *प्राकृत ग्रामों के नामों का ऐसा खिचडी संस्करण अन्यत्र भी उपलब्ध है,* यथाः जूर्णनगर (जुन्नर), शीर्णनगर (सिन्नर), विराटनगर (वाई), महिकावती (माहीम) आदि।

विविध उपनिवेश

दमण, नलें, मोरे, मोरकुरण, कँरोली, अन्धेरी आदि ग्रामनामो से प्रकट होता है कि दामनीय, नल, मौर्य, कोरव्य, अन्धक आदि लोगों ने आर्यों अथवा आर्य समान व्यक्तियों को सबसे पहले कोकण के उत्तरी भाग में बसाया। उनके पूर्व वारली, कोली, ठाकर आदि कोकण में आकर स्थिर हो चुके थे। उसके बाद बहुधा आन्ध्र-भृत्यों के शासन-काल के लगभग आए मांगेले। *"कातड़ी"[1] ओढ़नेवाले "कातवड़ी" यहाँ सबके पहले से बसे हुए हैं।* कातवड़ी के अनन्तर किन्तु वारली आदि के किंचित् पूर्व नाग आये। इन सबकी कालक्रमानुसार परम्परा का आलेख तैयार किया जा सकता है। बिना काल-

[1] खाल—अनु०।

निर्देश के कोई ऐतिहासिक घटना हृत्पट्टिका पर भली भाँति प्रतिबिम्बित नहीं होगी। अतः यहाँ उन लोगों के आगमन का स्थूलमानानुसार काल दिया जा रहा है। यह न भूलें कि वह शातवाहनों तक अनुमान के आधार पर तैयार किया है, निश्चित प्रमाण के आधार पर नहीं :[1]

	लोक नाम	अनुमानानुसार काल
१. अतिप्राचीन	गुहावास, कातवडी	स्वयम्भू, शक-पूर्व २००० के पूर्व
२. मध्यप्राचीन	नाग, वारली, कोली, ठाकर	शकपूर्व २०००–१०००
३. मध्यवर्तित प्राचीन उर्फ पाणिनिकालीन	शमनीय महाराष्ट्रिक,	शकपूर्व ६०० से ३००
	शातवाहन, आन्ध्र, मागेले,	शकपूर्व ३००— शकोत्तर–२००
तथा बौद्धकालीन	नल, मौर्य	शकोत्तर २००–४००
४ प्राचीन मराठा	त्रैकूटक	शकोत्तर ३००–५००
	शिलाहार	शकोत्तर ७००–११००
	चालुक्य, राष्ट्रकूट	शकोत्तर ५००–११००
	चालुक्य, बिम्ब तथा यादव	शकोत्तर १०६०–११६३
	नागरशादि राजा	शकोत्तर ११६३–१२७०
	प्रतापबिम्ब यादव	शकोत्तर १२१६–१२५४
५. मुसलमान	दिल्ली के मुसलमान	शकोत्तर १२७०–१३६०
	अहमदाबाद के सुलतान	शकोत्तर १३६३–१४६०
६. यूरोपीय	पुर्तगाली	शकोत्तर १४२२–१४३४ –१४६०
७. नये उर्फ अर्वाचीन मराठा	मराठा	शकोत्तर १६६०–१७२५
८. यूरोपीय	अंग्रेज	शकोत्तर १७२५–१८४६

[1] यहाँ शक-सम्वत् की प्रारम्भिक तिथियाँ अनुमानित हैं अतः ईसवी सन् नहीं दिए हैं। ७८ के अन्तर सहित ईसवी की कल्पना की जा सकती है—अनु०।

शक-पूर्व पाँच-छः हजार वर्षों से आज तक कातवड़ी कोंकण मे बसे हुए है। नाग, वारली, कोली तथा ठाकर शकपूर्व दो हजार वर्षों से पाणिनि-काल तक कोंकण के जंगलो मे छिपे हुए हैं। शकपूर्व ६०० से शकोत्तर ४०० तक अर्थात् पाणिनीय तथा बौद्ध-काल के पतन तक दामनीय, महाराष्ट्रिक, आन्ध्र, मागेले, नल तथा मौर्य कोंकण में घुसे। शक-सम्वत् ४०० से शक-सम्वत् १२०० तक त्रैकूटक, शिलाहार, चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव, बिम्ब, नागरशादि राजाओं—प्राचीन मराठों ने ८७० वर्ष शासन किया। शक-सम्वत् १२७० (१३४८ ई०) से शक-सम्वत् १४६० (१५३८ ई०) तक लगभग दो सौ वर्षों तक मुसलमानो का आधिपत्य रहा। अगले दो सौ वर्षों में पुर्तगाली आक्रमण होते रहे। उसके पश्चात् नये मराठो ने साठ वर्ष स्वराज्य का उपभोग किया और इधर सवासौ वर्षों से उत्तर कोंकण अँग्रेजो के चंगुल में है। मुसलमानों के २०० वर्ष, पुर्तगालियों के २०० वर्ष और अँग्रेजों के १२५ वर्ष मिलाकर देखें तो पाएँगे कि कोंकण पाँच-सवापाँच सौ वर्षों से दासता की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है। प्राचीन और नवीन मराठों के आधिपत्य मे उत्तर कोंकण ६५० वर्ष और शातवाहन-नल-मौर्यादि के १३०० वर्ष था। कुल मिलाकर १२५० वर्ष हिन्दुओ के और ५२५ वर्ष अहिन्दुओ के अधिकार मे रहा है। कातवडी लोगो को नागो और वारलियो ने धकेल दिया, नागों को आन्ध्र, मौर्य तथा महाराष्ट्रिको ने जीत लिया और महाराष्ट्रिको के स्थान पर शिलाहार, चालुक्य, राष्ट्रकूट तथा यादव आ जमे; उनको मुसलमानों ने नीचा दिखाया और मुसलमानो को पुर्तगालियो ने उखाड़ फेका। पुर्तगालियों को मराठों ने निकाल बाहर किया और मराठो को अँग्रेजो ने दौड़ा-दौड़ा कर खत्म कर दिया। यह खेल गत ३००० वर्षों मे कोंकण मे खेला गया। प्रश्न यह है कि जब नये सत्ताधीश पूर्व-स्थापितों को हटाते गये तब कातवड़ी, नाग, महाराष्ट्रिक, प्राचीन मराठा, मुसलमान, पुर्तगाली : मूल और धर्म परिवर्तित और अर्वाचीन मराठा लोग जो कोंकण में बस चुके थे किस प्रमाण में चुपचाप नयी सत्ता के सेवक बन गये या उसका विरोध करते रहे? इस प्रश्न का स्थूल उत्तर देने का प्रयत्न इस अध्याय मे करे तो इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अप्रासंगिक न होगा।

शकपूर्व दो हजार के और कितने पूर्व कातवडी लोग कोंकण में बसे हुए है—कोई अनुमान नही निकलता। वे लोग न कभी मल्लाह थे, न धीवर; न आज हैं; यही नहीं, वे सदा समुद्र से दूर भागते रहे हैं। उन्होंने सह्याद्रि के वनों को अपना निवास-स्थान बनाया। कोई पता नही चलता कि उनके सम-

कालीनो में कौन-सी वह जाति थी जो समुद्री कहला पाती। यदि कहें कि मिस्री तथा असुर लोगों से भारत व्यापार करता था और वह शकपूर्व दो हजार वर्षों के पहले कोंकण-तट के बन्दरगाहों से करता था तो निश्चित मानिए कि दमण से लेकर मुम्बई-चेऊल तक के वर्तमानकालीन बन्दरगाहों मे से कोई बन्दरगाह उस युग मे व्यापारिक बन्दरगाह था ऐसा स्वप्न में भी नहीं कहा जा सकता। दमण, सोपारें, वसई, घोडबन्दर, ठाणें, कल्याण आदि बन्दरगाह प्राचीन काल के अनन्तर दो हजार वर्षों मे इतिहास में दिखायी पडने लगे। अतः अनुमान है कि सह्याद्रि के ढलानों पर कातवडी लोगों की बस्ती के समय, समानान्तर समुद्र-तट पर और सह्याद्रि के मैदानी जंगलों में मनुष्यों की बस्ती प्रायः नहीं रही होगी। पर सह्याद्रि के शिखरों के नीचे की गुफाओं और शिलाओं के बीच गुहाशय नामक जनों की विरल बस्ती कातवडी के ढलानों के ऊपरी भागों में अवश्य रही होगी। ढलानों पर कातवडी और गुफाओं मे गुहाशय, इस प्रकार हजारों वर्षों तक वे लोग रहते आए होंगे। गुहाशयों से कातवडी अधिक सुधरे हुए थे। वे खाल ओढते थे, गुहाशय दिगम्बर रहते थे। सह्याद्रि के शिखरों तले आज जो बौद्ध गुफाएँ उपलब्ध हैं वे गुहाशयों के मूल बेहिसाबी, स्वभावसिद्ध शिला-कोटरों तथा गुफाओं के सुधारे हुए संस्करण मात्र हैं। दिगम्बर गुहाशय तथा खाल ओढ़नेवाले कातवड़ी अनेक वर्ष एक-दूसरे के पड़ोसी रहे, पर अन्त तक जीवित रहा कातवड़ी। सह्याद्रि दोनों को विपुल अन्न दे सकता था अत. मनुष्य-वध की कोई आवश्यकता न थी। गुहाशय के निर्वंश हो जाने के पश्चात् कातवडी के पड़ोसी बने नाग, वारली, कोली तथा ठाकर। उन्हें भी वन मे और तट पर पर्याप्त अन्न प्राप्त हो जाता था। इसी कारण कातवड़ी और नागों के बीच युद्ध नहीं हुए और नाग भी बेरोकटोक उस प्रदेश में निवास करते रहे। आन्ध्र, मांगेले और महाराष्ट्रिक उसके अनन्तर आए। उन्हें भी काफी अन्न मिला और वे सुखपूर्वक निवास करते रहे। आगे चालुक्यादि प्राचीन मराठा आये और इस प्रदेश मे समा गये। कालान्तर में आनेवाले पुर्तगाली और मुसलमान भरपेट भोजन पाते रहे हैं। जो भी यहाँ आता है सुख-सन्तोषपूर्वक स्थायी रूप से बना रहता है और धीरे-धीरे यहाँ की परिस्थितियों मे बिना कठिनाई विलीन हो जाता है। इसका आशय यही हो सकता है कि कोंकण मे इतनी अधिक उद्भिज्ज एवं प्राणिज सम्पत्ति है कि हर अतिथि का वहाँ उचित प्रबन्ध हो सकता है।

पर्याप्त अन्न तथा यथेच्छ स्थान—सामाजिक परिणाम

कोंकण मे पर्याप्त अन्न तथा यथेच्छ स्थान होने से वहाँ जीवन-कलह उतना

प्रबल नहीं है, जितना यूरोप अथवा मध्य-एशिया के भूखे-कंगाल प्रदेशों में पाया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकृति का वरदहस्त केवल कोंकण पर छाया हुआ था। सारे भारत पर माता अन्नपूर्णा की पूर्ण कृपा रही है। कृपादृष्टि का परिणाम यहाँ आकर बस जानेवाली प्रत्येक जाति के स्वभाव में देखा जा सकता है।

जो चाहे यहाँ आये और थोड़ी-बहुत भड़भड़-खड़खड़ के बाद उपयुक्त तथा उपलब्ध स्थान देखकर बस जाय, इतना अवश्य देखे कि अपने कारण दूसरे को कष्ट न हो। वन्य मुगल या बुभुक्षित अंग्रेज पहले तो भूखों की भाँति मारपीट और रक्तपात करता है पर वस्तुस्थिति का ज्ञान होते ही और अनुभव पाते ही वह भी धीरे-धीरे ठण्डा पड जाता है और अन्य पड़ोसियों की भाँति सज्जन, निरुपद्रवी एवं आतिथ्यशील बन जाता है। तात्पर्य यह कि अन्न-सम्पत्ति की असीम एवं सहजलभ्य प्राप्ति हिन्दुस्तान के निवासी को मुक्तहस्त बना देती है। जब तक अपरिचित हैं तब तक अवश्य घिसघिस चलती रहती है पर उसके बाद शान्ति। तदनन्तर दोनों जातियाँ पड़ोसी बनकर परन्तु अपनी-अपनी परिधि मे रहती हैं। आत्मकेन्द्री-वृत्ति समाज में ही नहीं, परिवारों तथा व्यक्तियों में भी पाई जाती है; क्योंकि जिस प्रकार समाज को अन्न अल्पश्रम से प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार या उससे भी अल्पश्रम से परिवारो तथा व्यक्तियो को भी प्राप्त हो जाता है। अन्न की सहजलभ्यता के कारण अन्योन्यावलम्बित्व प्रायः नही रहता और सम्पूर्ण देश पृथक् एवं स्वच्छन्द-स्वतन्त्र व्यक्तियों का देश बन जाता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अत्यन्त अतिरेक कहीं देखना हो तो भारत में देखिए। यहाँ सैकड़ों ग्राम मिलेंगे जहाँ के निवासियों की प्रायः समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति ग्राम में ही हो जाती है। तेल, नमक, गुड़, सूखी मछली और कपड़ा पास के हाट से खरीद कर संग्रह कर लिया जाय तो गाँव का एक छोटा-सा परिवार सारे ससार को तुच्छ समझता है।

सरकार-संस्था के प्रति उदासीनता

इस प्रकार अन्न की विपुलता से हिन्दुस्तानी आदमी एक ओर मुक्तहस्त बनता है तो दूसरी ओर अन्न की सुलभता से दूर-दूर बना रहता है। वह फिर दूसरे की पर्वाह नहीं करता। इस देश में जो चाहे घुसे और यहाँ के निवासी स्वभाव से आत्मकेन्द्री होने के कारण उनमे एकता का अभाव हो और ऐसी परिस्थिति मे आगन्तुक विदेशी को कम-से-कम अड़चनें हो, यह बात यहाँ बार-

बार दुहराई गई है। सामने पक्वान्नों-भरी थाली छोडकर विदेशी बाह्य व्यक्ति को शत्रु मानकर जान खोने का पागलपन हिन्दुस्तान के होशियार आदमी ने बहुत कम दिखलाया। संसार का कोई भी व्यक्ति ऐसी परिस्थितियो में वही करता जो हिन्दुस्तानी आदमी करता रहा है। भारत-बाह्य विदेशियों को जान गँवाकर अन्न खोजना पडा है, भारतीयों को जान-गँवाकर हाथ का कौर भी खोना पडा है। विपुल और सुलभ अन्न हाथ उठाने ही मिल जाने से हिन्दुस्तानी आदमी पुलिस का—सरकार नामक सस्था का—उपद्रव सहन नही कर पाता था। श्वापदो या चोर-उठाईगीरो से अन्न-सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए महार और कुत्ता हो तो हिन्दुओ का गाँव चैन की नीद सोता था। पचायत महार और कुत्ता, इन तीनो की तुलना मे अधिक घपले मे डालनेवाले, भव्य अथवा भयकर 'सरकार' की हिन्दू ग्रामसंस्था को कोई आवश्यकता न थी। तीन हजार वर्षो में हिन्दुस्तान मे जो देशी-विदेशी शासक आये और चले गये, उनके विषय मे हिन्दू ग्रामस्थो की अन्तस्थ और प्रामाणिक राय यह है कि वह पेटू उठाईगीरो की टोली है। यही कारण था कि हिन्दू ग्रामवासी सरकार की अच्छाई-बुराई की ओर अपने-आप ध्यान देने को तैयार न होता था। पुरानी सरकार टूटे या नयी बने, हमारे ग्रामवासी को न हर्ष होता था, न खेद। अपरिहार्य आपत्ति से कहाँ बच सकते है इसलिए सरकार नामक चोर का कर्जा जैसे बने उतारा और साल भर आराम से रहा किये—ग्रामस्थों का सरकार के प्रति स्नेह था तो वह इतना ही था। इस भावना का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू ग्रामवासी शातवाहन, प्राचीन मराठा, मुसलमान, पुर्तगाली आदि सरकारो का जन्म और उनकी मृत्यु निर्विकल्प भाव से देखा किये, उनके घपले में अपनी ओर से नही पड़े। पुरानी सरकार के मातम और नयी सरकार की खुशियों की ऐतिहासिक तथा मानसिक विवेचना कर पाना असम्भव है। हिन्दू-ग्रामवासियों की सृष्टिसिद्ध, परिस्थिति-*सिद्ध एवं अन्नसिद्ध मनोरचना कुछ इतनी मुक्तहस्त, आत्मकेन्द्रित तथा* स्वयंपूर्ण बन चुकी थी कि वे क्या देशी और क्या विदेशी, किसी भी सरकार के बन्धन को मन से नहीं चाहते थे।

राज्य की घटनाओं के प्रति सामान्य जनों की उदासीनता

यदि सरकार नामक कृत्रिम, उठाईगीर डाकू और जुल्मी सस्था के सम्बन्ध में ग्रामवासी असीम उदासीन रहते थे तो प्रश्न उठता है कि नयी और पुरानी

सरकार के बीच होनेवाले युद्धों, टण्टे-बखेड़ों, मारपीट वगैरः में कौन भाग लेता था? भारत का राजनीतिक इतिहास उर्फ सरकारों का इतिहास आद्योपान्त युद्धों से भरा है। युद्ध कौन करता था? इन प्रश्नों का उत्तर यही हो सकता है कि जिन मुट्ठीभर मूसलचन्दों ने सरकार बनाई वही लोग पुरानी सरकार की ओर से नयी सरकार से लड़ते थे, जूझते थे, पराजित हो जाते तो रोते थे और जीत जाते तो हँसते थे। हिन्दुस्तानी सरकार-संस्था सदा अल्पसंख्यकों की रही है सार्वलौकिक रूप उसने कभी ग्रहण नहीं किया। मुगलों का विशाल साम्राज्य देखिए; वहाँ भी यही पाया जाता है कि उसका निर्माण करनेवाली इकाइयाँ राजवंश के पुरुषों की संख्या से अर्थात् पाँच-पच्चीस राजपुरुषों से कभी अधिक नहीं थी। खींच-तानकर साम्राज्य के सैनिक-असैनिक उच्च-निम्न अधिकारी मिलकर देखें फिर भी डेढ़-दो हजार से बड़ी संख्या नहीं हो पाती थी। वही डेढ़-दो हजार व्यक्ति मुगल-साम्राज्य के लिए लड़ने-जूझते, मरते और रोते थे, शेष कोटि-कोटि हिन्दुस्तान वासियों को वे सब-के-सब—मुगल, मराठा पुर्तगाली सब—एक नम्बर के चोर मालूम पड़ते थे। तात्पर्य यह कि भारत में अब तक जितनी सरकारें हो गई हैं वे सब मुट्ठी भर अल्पसंख्यकों की थीं उन अल्पसंख्यकों की सरकार उन्हीं जैसे किन्तु समबली अथवा अधिक बली मुट्ठी भर अल्पसंख्यकों की सरकार या टोली द्वारा नष्ट कर दी जाती थी, ग्रामवासी न ऊधो के लेने में न माधो के देने में?

शिवाजी का आगरा के दरबार में प्रवेश : संकेत

इस सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक उदाहरणों में से एक जाज्वल्यमान उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। उदाहरण मराठा-इतिहास से लिया गया है। शिवाजी के काल में मराठों और मुसलमानों में घनघोर युद्ध हो रहे थे ऐसे शब्दों में सामान्य इतिहास लिखे गये हैं। उन शब्दों में कहाँ तक सचाई है इसका पता लगाना चाहिए। ऐसा नहीं कह सकते कि शिवाजी को प्रत्येक मराठा का समर्थन प्राप्त था। महाराष्ट्र के समस्त मराठों में से नब्बे फी-सदी मराठे औरंगजेब के प्रजाजन थे और कुछ तो उसकी सेना में भी थे। मुसलमानों में से सैकड़ों व्यक्ति शिवाजी के प्रजाजन थे और कितने ही उसकी सेना में थे। अतः यह कहना कि शिवाजी और औरंगजेब के बीच जो युद्ध हुआ, वह मराठों और मुगलों के बीच हुआ, इतिहास पर सरासर अन्याय

करना है । युद्ध दो जातियों, समुदायों अथवा धर्मों के बीच नही था । सामान्य ग्रामवासी मुड़कर उनकी ओर देखने तक नही थे । वे उदासीन थे इसलिए उनकी सम्पत्ति लेने का, उनकी उदासीनता हटाने का अथवा उन्हे जाग्रत करने का अथवा राजनीतिक उपदेश की घुट्टियाँ पिलाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था । उन्हे सरकार बनाने की जरूरत ही महसूस नही होती थी अतः वे किसी एक दल की ओर से युद्ध के नाटक मे सैनिक का स्वाँग रचेगे इसकी आशा करना बेकार था । शिवाजी और औरंगजेब इस स्थिति को भली भाँति जानते थे । पर बातें दोनो लम्बी-चौड़ी किया करते थे । दोनों का दावा था कि हम अपने धर्म के लिए, देश के लिए, लोक-कल्याण के लिए युद्ध करते हैं, हमे शत्रु का चिह्न तक मिटा देना है । इन शब्दों का वास्तविक अर्थ यही है कि शिवाजी नामक व्यक्ति को औरंगजेब समाप्त करने का प्रयत्न कर रहा था और औरंगजेब नामक व्यक्ति की हत्या करने की फिराक में शिवाजी था । नेता और उसके हजार-पाँचसौ प्रमुख अनुयायियों का सफाया होते ही सिंहासन अपना होकर रहेगा, यह दोनों को अच्छी तरह मालूम था ।

एक-दूसरे के प्राण-हरण करने के दाँव-पेच खेले जा रहे थे कि शिवाजी के मन मे औरंगजेब को समाप्त करने और बादशाहत पर अधिकार करने का साहसिक किन्तु सर्वथा व्यवहार्य विचार उठा । औरंगजेब स्वयं कई वर्षों में दक्षिण की ओर नही आया, न उसके आने की सम्भावना ही थी । औरंगजेब को नष्ट करना है तो एक तो उसे दक्षिण मे लाना होगा या दूसरे, शिवाजी को उत्तर मे आगरा तक पहुँचना होगा । पहला मार्ग छोड़ कर शिवाजी ने दूसरा मार्ग अपनाया । उसने किसी भी स्थिति में, किसी भी कारण से आगरे जाने और आगरे मे औरंगजेब की बलि चढाकर बादशाहत पर कब्जा करने की ठानी और समस्त कार्यक्रम बड़ी सफाई से पूरा करने की योजना बनाना प्रारम्भ किया । शाइस्ताखाँ जैसे अनेक मुसलमान सरदारों को धूल फाँकने पर मजबूर करनेवाला शिवाजी, राजा जयसिंह के सामने दाँतों में तिनका लेकर, गौ बनकर नम्रता मे हाजिर हुआ । वाह री नम्रता कि वह जयसिंह के इशारों पर नाचने लगा । जयसिंह के मुँह से आदेश निकला नहीं कि शिवाजी ने उसका पालन किया । "दुर्ग दो" कहते ही शिवाजी ने दुर्ग जयसिंह को सौंप दिये । "हाथ बाँध कर मिलने आओ" सुनते ही शिवाजी बन्दा-गुलाम बनकर जयसिंह के तम्बू में उपस्थित हुआ । "मामूली पँचहजारा सरदार बनना स्वीकार करो" आदेश मिलते ही सारे संसार का वह महावीर

स्वामी क्षुद्र बादशाही सरदार बन गया और "अब आगरे चलो" कहते ही बादशाह को बाअदब कोरनिशात करने के लिए वह आगरे चल पड़ा। शिवाजी चातक की भाँति इसी क्षण की प्रतीक्षा में था—कब जयसिंह अन्तिम हुक्म देता है और कब शिवाजी उसका पालन करता है।

औरंगजेब से प्रत्यक्ष भेंट करने और ठीक उसी क्षण बादशाह और बादशाहत को धूल में मिला देने का अपूर्व अवसर शिवाजी ने विवाह-मुहूर्त की उत्सुकता से साधा। स्वयं औरंगजेब के मामा की उँगलियाँ उड़ा देने-वाले और मामा के पुत्र का वध करने वाले शिवाजी को बादशाह के सामने कोरनिशात करने जाते हुए देखकर जयसिंह को सौ चूहे खाकर हज्ज करने चली बिल्ली की याद आनी चाहिए थी। पर वैसा कुछ नहीं हुआ; उलटे जयसिंह को गर्व हुआ कि हमने एक असम्भव कार्य कर दिखाया, बादशाह का आदेश पूरा किया। शिवाजी को यही अपेक्षित था। उसने नम्रता और शालीनता का कुछ ऐसा स्वाँग रचा कि जयसिंह मानों नशे में बड़बड़ाने लगा कि हमने शिवाजी को समाप्त कर दिया। हिन्दुस्तान के कूटनीतिज्ञ जानते थे और स्वयं जयसिंह सुन चुका था कि शिवाजी दिल्ली के सिंहासन पर विराज-मान होने की इच्छा न जाने कब से अपने हृदय में सँजो रहा है। शिवाजी की आकांक्षा जग-प्रसिद्ध हो चुकी थी; यहाँ तक कि जयसिंह के प्रशस्तिकार ने शिवाजी का वर्णन "शिवप्रभृतिभूपालाः दिल्लीन्द्रपदलिप्सव" शब्दों में किया है। पर इधर जयसिंह शान बघार रहा था कि मैंने शिवाजी की हड्डी नरम कर दी और उधर औरंगजेब अपने मामा की उँगलियाँ उड़ानेवाले और मामा के पुत्र का वध करनेवाले आततायी से मिलने के लिए तैयारियाँ कर चुका था। चोट पहुँचाकर चोट सहलाने में पारंगत शिवाजी ने औरंगजेब पर जो जादू किया उसे देखकर तत्कालीन चतुर दर्शकों ने निस्सन्देह दाँतों तले उँगली दबाई होगी।

शिवाजी औरंगजेब को स्नेहालिंगन में कस लेने के उद्देश्य से पक्का बन्दोबस्त करके निकला। उसने अपने साथ प्राणों से प्यारे और साहस के पुतले हजार-पाँचसौ घुड़सवारों और सरदारों को लिया और मंजिल-दर-मंजिल दस-दस-पाँच-पाँच व्यक्तियों को मौके की जगहों में छिपा दिया और इसके पश्चात् सरजा ने आगरे के शेर की माँद में प्रवेश किया। शिवाजी का इरादा था कि पहली ही भेंट के समय कोरनिश करते वक्त बादशाह के बिलकुल पास पहुँचते ही उछलकर सिंहासन पर कूद पड़ेंगे और बादशाह को वहीं

एवं मुक्तहस्त व्यक्तियों द्वारा व्याप्त था तो समाज कहलानेवाली संस्था की क्या स्थिति थी ? हिन्दुस्तान और विशेषकर उत्तर कोंकण के व्यक्तियो के समुदायों को समाज कह सकते है या नही ? तत्कालीन भारतीयों का कोई ठोस समाज था भी या नहीं ?

इन प्रश्नो का उत्तर देने के पूर्व समाज की व्याख्या करना अनिवार्य है। किसी एक सिद्धि की साधना मे रत अन्योन्योपकारक व्यक्तियो की सहकारिता पर आधारित समवाय को समाज कहते है। इस व्यवस्था की सहायता से उत्तरी कोंकण के तत्कालीन मानव-समूहों के समाज की परीक्षा कर सकते है। तत्कालीन अर्थात् शालिवाहन शक-सम्वत् की १६ वी शती तक का काल हम विवेचनार्थ ले रहे है। उस युग मे उत्तरी कोकण मे वन्य, यहूदी, मुसलमान, ईसाई, पारसी अन्त्यज, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण, दस प्रकार के व्यक्ति स्थायी रूप से बसे हुए थे। धर्म तथा देवता की उपासना की दृष्टि से देखे तो वन्य, यहूदी, मुस्लिम, ईसाई, पारसी तथा हिन्दू, छह दल बनते है। इनमें हिन्दुओ की संख्या अधिकतम थी। ये छहों दल अन्योन्योपकारक तो नही, बल्कि अन्योन्योपकारक भी अधिक नही थे; वास्तव में अनेक मामलों में अन्योन्योदासीन थे। कहा जा सकता है कि एक मामले में ये छहो दल अन्योन्योपारक थे—दोनो जून भोजन के मामले मे छहो दल किसी न किसी रूप मे आपस में अन्न-विनिमय करते ही थे। कातकरी करौंदे, हल्की किस्म का चावल और लकड़ी बेचता था; यहूदी तेल का धन्धा करता था, मुसलमान अफ्रीका, मलाबार और अरब देशो से चावल लाने-पहुँचाने का व्यापार करता था, धर्मान्तरित ईसाई खेती करता था; और पारसी दाल-भात में मूसरचन्द की भाँति था पर वह भी किसी न किसी भाँति दो जून की खूराक पा ही जाता था।

अहिन्दुओं मे बचा एक यूरोपीय ईसाई पुर्तगाली। उसके जिम्मे एक ही काम था। शासक बनकर शोषण करना। हिन्दुओ तथा अहिन्दुओं को शासन-यन्त्र की कोई आवश्यकता नही थी; वे चोरों-पशुओं से अपनी रक्षा, महार और कुत्ते की सहायता से कर लेते थे। परन्तु पुर्तगालियो के आक्रमणों से अपनी स्थायी रक्षा करने का विचार उनमे कभी उत्पन्न ही नही हुआ—कारण, उदासीनता। इसलिए अपने आक्रमणों से हिन्दू-अहिन्दुओं की रक्षा करने के लिए पुर्तगाली बलपूर्वक शासन-यन्त्र चलाते थे—स्पष्ट शब्दो मे कहें तो हिन्दू-अहिन्दुओं के श्रम पर जीते थे। परोपजीवी पुर्तगालियों को छोड दे तो शेष सब अन्नोत्पादन में एक-दूसरे की सहायता करते थे। तात्पर्य

यह कि केवल सन्तोत्पादन की दृष्टि से कोंकण की इन सहकारी जातियों को एक समाज मान लें तो आपत्ति न होगी। अन्य दृष्टियों से—प्रजोत्पादन, विद्योत्पादन, जैसे व्यवसायों में ये दल स्वयंस्फूर्तिपूर्वक एक दूसरे की सहायता नहीं करते थे बल्कि कहें कि सहायता करने की स्थिति में भी नहीं थे तो गलत न होगा।

एकप्राण समाज निर्माण न होने के कारण—देवता, वंश, जाति

कातवड़ी, यहूदी, मुसलमान, पारसी, ईसाई तथा हिन्दू लोग आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, विद्या, धर्म अथवा संकलित शब्दों में कहें तो संस्कृति की दृष्टि से एक दूसरे से इतने विगहन थे कि इन लोगों का दो हजार वर्ष जैसे अल्प समय में एकप्राण जाति बन जाना असम्भव था। जब तक कातवड़ी सह्याद्रि के ढलान पर वस्ती करता था तब तक वह इस प्रदेश का एकमेवाद्वितीयम् सम्राट था। आगे चलकर कोली, वारली, ठाकर, मांगेले आदि अधिक सुधरे हुए लोग आये जो आचार-भिन्नता के कारण शरीर-सम्बन्ध कर कातवड़ी को अपने में विलीन नहीं कर पाये, एकदम पृथक् ही रहे। इसका अर्थ यह कि महाराष्ट्रिकादि चातुर्वर्णीयों के उत्तरी कोंकण में आने के पूर्व यहाँ अन्योन्य शरीर-सम्बन्ध-व्यावृत्त जातियाँ बन गई थीं। नाग आये तो उनमें क्षत्रिय नाग एवं अन्त्यज-नाग, दो जातियाँ थीं। फिर आये महाराष्ट्रिक जिनमें चातुर्वर्ण्य-संस्था थी और उनके अतिरिक्त बढ़ई, लुहार आदि जातियाँ भी थीं। यहूदी और पारसी लोगों की भी जातिबद्ध समाज में शरीर-सम्बन्ध-व्यावृत्त जातियाँ बन गईं। अन्त में आये मुसलमान और ईसाई। ये भी स्वभावतः जातिबद्ध समाज में जातिस्वरूप बनकर रहे। प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र जाति बन जाने से बेटी-व्यवहार अर्थात् प्रजोत्पादन के कार्य में परस्पर-सहकारिता का नितान्त अभाव रहा और कभी किसी युग में ये तमाम जातियाँ एक होकर एक-जातीय समाज बन पायेंगी, इसकी कोई सम्भावना न रही।

अवास्तविक धार्मिक कल्पनाएं

केवल धार्मिक दृष्टि से इन दलों को देखें तो विदित होता है कि कातवड़ी पिशाचपूजक थे, यहूदी, मुसलमान और ईसाई मनुष्याकार एकदेवता के, पारसी अग्निपूजक अर्थात् पंचतत्वों में से एक तत्व के उपासक थे। हिन्दू जो पशु-पक्षी-मनुष्याकार अनेक देवतापूजक तो थे ही, आदि पंचतत्वों, पिशाचों, एकदेवता, वृक्षों एवं नागों

कोई आवश्यकता नहीं थी पर राज्य-स्थापना के पश्चात् वहाँ के निवासियों की भाँति वे लोग भी आराम-तलब और उदासीन बन गये।

एकराष्ट्रत्व की आवश्यकता का अभाव

हिन्दुओं के क्षत्रियों और ब्राह्मणों में राजा, राज्य तथा राष्ट्र संज्ञाओं का घोष वेदकाल से होता आ रहा है। ब्राह्मण-क्षत्रियों को जहाँ जायें वहाँ राष्ट्र-स्थापित करने का बड़ा शौक रहा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों में राजा, राज्य, राष्ट्र, साम्राज्य, अह्राज्य, एकराष्ट्र, विराट्, गण-राट्, अधिराट् आदि राजनीतिक शब्दों का अपरिमित प्रयोग तथा राज्य-विषयक प्रार्थनाएँ देखने से विदित होता है कि राजा और राष्ट्र ब्राह्मण-क्षत्रियों की शिरा-शिरा में समा चुके थे। ब्राह्मण-क्षत्रिय भी उत्तरी कोंकण की विपुलान्न वायु में साँस लेकर अन्य लोगों की भाँति राज्य-संस्था के प्रति उदासीन हो गये। उनकी उदासीनता इस सीमा तक बढ़ चुकी थी कि अफ्रीका के अर्द्ध-वन्य हब्शियों ने और मध्य एशिया के उठाईगीर मुगलों ने जब बुभुक्षित की भाँति राज्य-यन्त्र छीन लिया तो भरपेट भोजन कर चुकने के बाद सन्तोष की डकार लेनेवाले क्षत्रिय-ब्राह्मणों ने उनकी ओर मुड़कर भी न देखा। वही बात मुसलमानों ने पुर्तगालियों के सामने की। आगे चलकर पुर्तगाली और उनके धर्म-परिवर्तित मित्रों की बारी आई तो मित्रों ने चितपावन ब्राह्मणों के सामने पहली झपट में ही हथियार रख दिये। परन्तु बुभुक्षित पर असली जाति के पुर्तगाली चिपटे रहे जैसे गुड़ से चींटा टूट जाता है पर चिपटा रहता है। अन्न-सम्पन्न उत्तरी कोंकण में राजा, राज्य और राष्ट्र तथा शासन-यन्त्र के प्रति लोग क्यों उदासीन रहे हैं और किस सीमा तक रहे हैं, उसका इतिहास और लेखा-जोखा इस प्रकार है—उत्तरी कोंकण की विशेषता सारे भारत पर लागू होती है। राष्ट्र, राष्ट्र, राष्ट्र की वेद-घोषणा करनेवाले अन्नतृप्त ब्राह्मण-क्षत्रिय जहाँ राष्ट्रविमुख एवं समाज-संन्यस्त होने में जीवन की सफलता मानने लगे हों वहाँ अनावश्यक शासन-यन्त्र को संचालित करने का सिरदर्द भूखे-कंगाल पुर्तगाली यूरोपीयों तथा अरब, अफ़ग़ान, मुगल आदि एशियाइयों के अतिरिक्त कौन मोल लेता? अन्न-सम्पन्न देश की धरती पर राष्ट्र और एक-राष्ट्र जैसे विचारों के बीज अंकुरित नहीं होते। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन लोगों को राष्ट्र की जरूरत नहीं थी, उन्हें समाज की भी आवश्यकता नहीं थी।

असन्तुष्ट अल्पसंख्यक वर्गों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ

यद्यपि सामान्यतः सर्व-साधारण जनों को जबरदस्त और रोबीली या सज्जनता और शिष्टता से काम करनेवाली किसी भी प्रकार की सरकार की, शासन-यन्त्र की या राष्ट्रीयता की तनिक भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी, तथापि भारत में सतत् एक अल्पसंख्यक वर्ग रहा है जो राष्ट्रीयता और शासन-यन्त्र को अपने अधिकार में रखने की उत्कट इच्छा करता रहा है। वह अल्पसंख्यक वर्ग उन लोगों का था जिनसे सत्ता छीनी जा चुकी थी या उन देशी अथवा विदेशी बुभुक्षितों का था जो प्रचलित शासकों से सत्ता छीनने की फ़िराक़ में रहते थे। पूर्वस्थापित शासन के पराजित एवं असन्तुष्ट व्यक्तियों और नये सिरे से शासन पर अधिकार पाने के इच्छुक नये बुभुक्षितों ने गत तीन हज़ार वर्षों में भारतीय राजनीति का अखण्ड आलेखन किया है। प्रत्येक बार यही बुभुक्षित लोग अन्न-सन्तृप्त होकर अल्पावधि में मुक्तहस्त, आत्मकेन्द्रित तथा उदासीन हो जाते थे। भारत-बाह्य तथा भारतान्तर्गत बुभुक्षितों एवं असन्तुष्ट जनों का यहाँ नितान्त अभाव होता तो राजनीति नामक वस्तु खोजकर भी न मिलती। जिन-जिन व्यक्तियों या जातियों ने अन्नप्राप्ति के लिए शासन का भार उठाया वे सब-के-सब अन्न-सन्तृप्त होकर भारमुक्त होने के लिए लालायित रहते दिखायी देते हैं। सारे यौवन भर राजसिंहासन सुशोभित करनेवाला राजा जनक प्रौढ़ायु में वेदान्त का प्रवचन करने लगता है। यौवन की पहली स्फूर्ति में रक्तपात और छल-कपट से शासक बननेवाले चन्द्रगुप्त का पुत्र अशोक भरे यौवन में अहिंसा की शपथ लेता है। खून से धरती सींचनेवाला औरंगज़ेब कुरान की नकल कर और रमजान के महीने में रोज़ा रखकर पापमुक्त होने का प्रयत्न करता दिखायी देता है। सारे हिन्दुस्तान भर का पाला जीतनेवाले बाजीराव प्रथम का नाती बाजीराव द्वितीय शासन-कार्य की थकावट भूलने के लिए सन्ध्या-पूजन में विश्राम खोजने चल देता है, और पूर्वायु में राजनीति के प्रेम में डूबा हुआ महादजी शिन्दे उत्तरायु में उपाशा होकर अभंगों में विलाप करता है। इन सब उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दुस्तान में राजनीति और उससे सम्बन्धित मारपीट, और शासन-यन्त्र की वास्तविक आवश्यकता नहीं थी। कृत्रिम शासन-यन्त्र निर्माण करते हुए और मारपीट में उलझे हुए कुछ अधभूखे अल्पसंख्यक हिन्दुस्तान में दिखायी पड़ते थे, परन्तु शेष जनता इस जंगलीपन और धमाचौकड़ी का तिरस्कार करती थी। एक वाक्य में वर्णन करें तो कहना होगा कि भारत

समाज-विमुख तथा राष्ट्र-पराङ्मुख दिखायी पड़ते हैं। इसीलिए हिन्दू-मुसलमानों की राष्ट्र-पराङ्मुखता के कारण वंश, जाति, धर्म और भाषा की भिन्नता-अभिन्नता में नहीं मिल सकते। पराङ्मुखता का प्रमुख और एकमात्र कारण है—सुलभ एवं विपुल अन्न-सम्पत्ति। अन्न-सम्पत्ति तभी अपर्याप्त होगी जब आज की अपेक्षा हिन्दुस्तान की जनसंख्या तिगुनी-चौगुनी हो जायगी या जनसंख्या के रहन-सहन का मान दसगुना बढ़ जायगा या बाहर के शासक अन्न-शोषण कर उसे एकदम दुर्लभ बना देंगे। इस आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषय पर आद्योपान्त एवं विस्तारपूर्वक विचार करने के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण करना पड़ेगा। बखर की टुटपुँजिया स्थल में उसका निर्वाह नहीं किया जा सकता।

उत्तरी कोंकण की राष्ट्र-पराङ्मुखता

उत्तरी कोंकण की जनता की राष्ट्र-पराङ्मुखता तथा समाज-पराङ्मुखता के विषय में बखर और बिम्बाख्यान में से तीन प्रसंग उद्धृत करता हूँ:—

(१) शक-सम्वत् १३७० (सन् १४४८ ई०) में केशवाचार्य तथा नायकोजीराव ने माल्हजापुर में जो लोक-समूह एकत्र किया था वह तुर्कों को भगा देने के उद्देश्य से नहीं बल्कि उस महाराष्ट्र-धर्म का प्रसार करने के उद्देश्य से किया था जिसे लोग भूलते जा रहे थे। अतः वह राजनीति की चाल नहीं थी; वह आचार-विषयक शिक्षा देने का प्रयत्न था।

(२) लोग अपनी सुविधा के लिए सोच लेते हैं कि यदि तुर्कों ने उत्तरी कोंकण में बलपूर्वक अधिकार कर लिया था तो वहां की जनता को मुक्त होने के लिए शक्ति लगानी चाहिए थी; परन्तु वास्तविकता यह है कि तुर्कों का द्वेष तो रहा एक ओर, हमारी विभिन्न जातियां और व्यक्ति क्षुद्र मानापमान के क्षुद्र झगड़ों का निर्णय अनजान तुर्क अधिकारियों से बड़े स्नेह के साथ कराने में अपना जीवन धन्य मानते थे। इसका अर्थ यह हो सकता है कि शासक कोई भी हो, लोग दोष नहीं करते थे; इसलिए नहीं करते थे कि उसकी कोई आवश्यकता नहीं अनुभव करते थे। अधिक हुआ तो यही कहकर चुप हो जाते थे कि आग से बचे तो कढ़ाई में गिरे। सिपाही, कारकुन, पटवारी और सूबेदार जैसे छोटे-मोटे सरकारी कर्मचारियों को लोग मन-ही-मन लफंगा, चोर, भिखारी कह लेते और लकड़ी, घास या चारा महारों के हाथों तुच्छता से फिकवा देते। इससे प्रबल प्रतिकार करने का विचार ग्राम तथा देशवासियों के स्वप्न तक में नहीं आता था।

(३) मेरे पास लिखित बिम्बाख्यान में से एक उद्धरण देता हूँ जो दिखलाता है कि शासकों और सामान्य जनों के बीच सहानुभूति तथा स्नेह-भाव का कैसा अभाव था। यह सोचकर कि आपत्ति के समय सामान्य जनता कोई सहायता न कर पायेगी अतः केवल टेंट की राजमुद्रा काम आयेगी, बिम्बदेव जाधव ने अगणित द्रव्य जगह-जगह गाड़ रखा था। यह कथा बिम्बाख्यान में "द्रव्यचिकित्साखलि" नामक समाप्ति के अध्याय[1] में इस प्रकार वर्णन की गई है :

॥ श्री गणेशायनमः ॥
॥ अथ द्रव्यचिकित्सा ॥

प्रतापपुर के महल में राजा ने खजाने को छिपा रखने की पूरी-पूरी तैयारी की ॥१॥ वहाँ···सुरंग खोदी और पूर्व दिशा की ओर एक स्थान निश्चित कर अगणित द्रव्य इस प्रकार छिपा दिया कि किसी को पता न चल पाये ॥२॥ जगह का चिह्न यों बनाया कि पथरीली दीवार में एक जगह अपेक्षाकृत बड़े पत्थर रखे। उसके उत्तर में आँगन था ॥३॥ ···पूर्ण धातुमय जानो। स्थान-स्थान पर···समझ लो ॥४॥ इस प्रकार असीम सम्पत्ति गाड़ दी। रानी के कारण चिह्न बतलाया है। आप सुन लीजिए कि वहाँ द्रव्य है ॥५॥ आगाशी की पहाड़ी पर एक बहुत सुन्दर शिलाखण्ड है।···ओखली उसके नीचे है ॥६॥ नीचे चार लक्ष मुहरें राजा ने स्वयं अपने हाथों रखी हैं, मन्त्री को आदेश देकर रखी हैं ॥७॥ यजुर्वेदी विश्वनाथ नाईक को राजा ने दफ्तरदार बनाया है। उसे सब स्थान मालूम हैं। उसी के अनुसार लिखा है ॥८॥ एक बात और बतलाता हूँ कि आगाशी के पश्चिम में तट के पास बासुन्दर नामक···एक पात्र है ॥९॥ दक्षिण की ओर जान लो। मिट्टी की पक्की ईंटों के बीच नहीं रखा है क्योंकि फिर ले जाना है ॥१०॥ ऊपर पहाड़ है। वहाँ बन्दर बहुत हैं। उसका नाम सेतिन है। उसके मस्तक पर ॥११॥ लोहे की एक······है। उसमें दो करोड़ मुहरें भरकर रखी हैं। रखवाली के लिए रखा है जनार्दन भास्कर को ॥१२॥ इस प्रकार गुप्त धन स्थान-स्थान पर विपुल मात्रा में रखा हुआ है। उसकी सूची बनाकर तावीज में रख दी है ॥१३॥ सद्गुरु कहता है कि इसे प्रकट न किया जाय। इसलिए अन्य स्थान गुप्त ही रखे हैं

---

[1] अध्याय की रचना ओवी छन्द में की गई है और पद्यात्मक है। यहाँ उसका अविकल गद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया है—अनु०।

।।१४।। मोरोसि (?) विशाल पर्वत है जहाँ असंख्य शिलाएँ हैं। एक में गोल छेद है, बड़ा अपूर्व है ।।१५।। उस पर चिह्न है। पाँवों का चिन्ह है। छोटे-बड़े, लिखने का अर्थ एक ही है ।।१६।। उस शिला के दक्षिण भाग में एक अच्छी कढाई मे चार लाख मुहरे रखी हैं। ।।१७।। साढ़े तीन पंक्तियों को, पूर्व की ओर पहचान बनी है। उसे पूरा पढने पर समझ में आता है ।।१८।। भयंकर शिलाओ वाले मिरे के पास की पहाड़ी पर राजा ने पाँच कुण्ड बनवाये हैं ।।१६।। कासिया के पीछे पूर्व दिशा में जो कुण्ड है उसका पानी बहुत मीठा है ।।२०।। वहाँ सम्पत्ति छिपा रखी है राजा ने अपनी इच्छा से, पराक्रम दिखलाने के लिए ।।२१।। वरसावें बोरभाट है। वहाँ कोष के लिए स्थान बनाया गया है। असंख्य मुद्राएँ वहाँ राजा ने रखी है ।।२२।। वहाँ खुला मैदान है जहाँ एक शिला है। उस पर उल्टे अक्षरों मे लिखा है ।।२३।। अक्षर तो उल्टे हैं ही। उस पर चन्द्रसूर्य का चिह्न है। एक स्त्री है और एक गन्धर्व ।।२४।। इस प्रकार बन्दोवस्त किया है। राजा ने रक्षक रखे हैं। स्वयं माहीम की ओर चले आये ।।२५।। महलो को बड़ा बनाया। तीन कुण्ड बनवाये। उनमें ताले लगवाये ।।२६।। उस स्थान पर भी सारा खजाना भर रखा है। नाना प्रकार की मुहरें, असंख्य हीरे-जवाहरात हैं ।।२७।। ऐसा पक्का प्रबन्ध कर राजा को सन्तोष है। बिम्बदेव का शासन कुशलता से किया जाता है ।।२८।। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर राजा बिम्बदेव ने अगणित मुद्राएँ छिपा रखी हैं ।।२६।।

।।साखलि ।।१।।

उन्तीस ओवियों की स्याही तक न सूख पाई थी कि उसके लेखक ने उल्टा छापा बनाने के लिए उस पर कागज रखकर दबाया। इस कारण कई अक्षर बिगड़ गये हैं, स्याही फैलकर धब्बे पड गये हैं। फिर भी लगभग सब अक्षर पढ़े जा सकते हैं। दस-बीस अक्षर बिलकुल नहीं समझ में आते; वहाँ जगह छोड़ दी है। ओवियों मे उल्लिखित स्थानो में द्रव्यप्राप्ति की बहुत सम्भावना तो नही है। परन्तु खोदने पर बिम्बदेवकालीन प्राचीन अवशेष मिल सकते हैं।

भारतीयों की स्वभावतः राजनीति-निवृत्ति

अब तक जो विवेचन किया गया उसका आशय यह है कि भारत में बहुत प्राचीन काल से दो स्वभाव के व्यक्ति बने हैं। शासन के सूत्र अपने अधिकार में

रखकर पेट भरनेवाले वाह
सज्जनता से काल व्यतीत
जितना पुराना इतिहा
पड़ते हैं। द्वितीय
थे। 'विश्' का अर्थ
करनेवाले लोग। "विश्
वाले क्षत्रियों से अधिक उन्न
राजनीतिक अधिकार पाने को अधि
क्षत्रियों से भेट होने के पूर्व तक वे
नहीं थे। क्षत्रिय-ब्राह्मण अत्यन्त पुरातनकाल
थे क्योंकि धरती पर वे जहाँ निवास करते रह
अभाव था। चारों वेदों में अन्न दो, प्रजा दो, राजा दो,
प्रार्थनाएँ विपुलता से पाई जाती हैं। यूरोपीयों की आवश्यक
अस् अवर डेली ब्रेड" (रोज की रोटी दे भगवान!) से मि
प्रार्थनाएँ ब्राह्मण-क्षत्रियों मरभुक्खों की है। राजा और प्रजा, ये
भारतवर्ष मे ब्राह्मण-क्षत्रियो द्वारा लाई गईं।

प्रत्येक पिता अपनी प्रजा का अर्थात् अपनी सन्तानों का "राजा" होता था। "राजा" वह जो रक्षा करे। मूल "राज्" धातु का या सच कहें तो शब्द का अर्थ "रक्षा करना" था। जो सन्तान की रक्षा, पालन-पोषण करे वह राजा है। "राजा" शब्द की तरह शब्द है "पितृ"। "पितृ" वह जो पालन-पोषण, रक्षा करे। राजा और उससे उत्पन्न प्रजा मिलकर राष्ट्र बनता था। पेट से उत्पन्न सन्तान ही प्रजा कहलाती थी। प्रजा को व्यक्तिगत दृष्टि से राष्ट्रीय कहा जाता था। "राज्" रक्षा करना को ऐश्वर्यवान् होना, शासन करना आदि अर्थ कालान्तर में लक्षणा से मिले। मूल "राजन्" पितृ का समानार्थी था। 'प्रजा' केवल उदरज सन्ततिवाचक था। "सब्जेक्ट" याने "दबाया गया" के अर्थ मे प्राचीन काल मे "प्रजा" का प्रयोग किया जाता था। जब विशों से भेट हुई तब "सब्जेक्ट" दास अर्थ अस्तित्व में आया। तब तक राजा और प्रजा के अतिरिक्त दास नहीं थे। मूल आर्यों के राष्ट्र मे राजा था और थी उदरज प्रजा। आर्यों से "अर्य" मिले। "अरेः इदं अर्यम्"। अर्य = शत्रु अथवा विश् जिन्हें आर्यों ने "दास" नाम दिया था। दास का अर्थ है देनेवाला। "दा" का "सिप्" किंवा "सन्" पूर्वक "दास" बन गया है। दास वह जो कर देता हो। "विश्" दास राजा को कर देता था। सन्तति-रूपिणी प्रजा कर नहीं देती थी। प्रजा

जब एक विशेष आयु करती तो वह "राजा" उपाधि प्राप्त करती। विश् दास न कभी ।जा कहलाते न प्रजा। वे केवल कर देनेवाले थे, जित थे। प्रत्येक पितृ राजन । अतः अनेक पितृ मिलकर जो गण होता उसके सब पितृ अपने को व्यक्ति ।: "राजन्" कहते थे। दल के अनेक राजा मिलकर गणराज्य स्थापित करते थे।

गण के नेता को गणराज, गणपति अथवा गणनायक कहा जाता था। गणराजा सारी सत्ता छीन नेता था तो उसे "एकराज्" या संक्षेप में "राज" कहते थे। राज् तथा गणनायक शब्द प्राचीन इतिहास की दृष्टि से अत्य- महत्वपूर्ण है। रोमन राजार्थक "रेक्स" शब्द "राज्" धातु से सिप् प्र ा सत्पूर्वक बना है। राज्+स=राक्स=रेक्स। गणनायक=कोणअग=Konig=King अपभ्रंशपूर्वक किंग, कोनिग राजार्थक इंग्लिश या जर्मन शब्द बने है। कोनिग या किंग् का मूल अर्थ "हेड ऑफ् दि होर्ड" (घुमक्कड़ों का प्रमुख) या "लीडर ऑफ् दि होर्ड्" (घुमक्कड़ों का नेता) है। इन व्युत्पत्तियों से प्रतीत होता है कि "राज्" शब्द जिस काल में वैदिक आर्यों में अधिपति, ईश्वर अर्थवाचक बना, उस काल में वैदिक आर्य तथा रोमनों के पूर्वज एक-दूसरे के पड़ोसी रहे होंगे। उसी प्रकार जिस काल मे गणराज, गणनायक शब्द गणराज्य-संस्था के अनुषंग से वैदिक आर्यों में प्रचलित हुए उस काल मे जर्मनादि लोगो के पूर्वज वैदिक आर्यों के पड़ोसी रहे होंगे। यदि रोमन और जर्मन वैदिक आर्यों के पड़ोसी थे और आर्य-भाषाएँ बोलते थे अतः वे आर्य-वंशी थे, ऐसा नहीं समझना चाहिए। जर्मन, सॅक्सन, रोमन आदि लोग वंश से आर्य नहीं थे, वे राक्षस्, दानव, यातु आदि अनार्य-वंशों के आर्य-भाषी जन थे।

इस प्राचीन गणराज्य-संस्था को लेकर जिस देश का नाम कालान्तर में भारतवर्ष पड़ा, उस पर आर्यों ने आक्रमण किया। महाराज्य इन्हीं आक्रामकों ने एकराज्य, वैराज्य, साम्राज्य, महाराज्य आदि नाना प्रकार के राजनीतिक प्रयोग किये। प्रयोग करके जब वे थक गये तो मुक्तहस्त, आत्मकेन्द्रित, संन्यस्त, वेदान्ती समाज-पराङ्मुख तथा राष्ट्र-पराङ्मुख बनकर रह गये। सुदास आदि ऋग्वैदिक राजाओं से लेकर बाजीराव जैसे चित्पावन ब्राह्मण राजा तक वही क्रम किंचित् अन्तर के साथ चला आ रहा है। इस देश में प्रवृत्ति-संतृप्त, संन्यास-प्रवण तथा व्यक्ति-स्वतन्त्र लोगों के स्तर पर स्तर पाँच हजार वर्षों से क्रमानुक्रमानुसार बनते गये उनसे कोई राजनीतिक, देव-धार्मिक, व्यापारिक, भागिक, राज-मारक अथवा राज्य-साधक सामुदायिक कार्य स्वयंस्फूर्ति से अथवा

महाराष्ट्र तथा उत्तर कोकण का

परस्फूर्ति से आज तक नही
लिए सत्ता पर अधिकार
संख्यक थे जो समय-

अब तक हमने
अन्न-सम्पत्ति है, छहो
सकनेवाली जलवायु है, अ
के साधनों की सुलभ अनुकूलता
विना संन्यस्त, व्यक्तिनिष्ठ, समाज
अन्न के लिए दसों दिशाओं मे भटकनेवाले
बलात्कार, दंगो और युद्धो मे दग मध्य-एशिया
वन्य लोगों के प्रति तिरस्कार व्यक्त कर, अभी चो
सुसस्कृत कहनेवाले युरोपीयो से वे मुक्तहस्त, सन्यस्त, व्य
पराङ्मुख लोग पूछते है कि तुम यदि सरकार बनाकर कर उग
सज्जनता से, शान्तिपूर्वक इस देश मे अन्य जानो की भाँति चुपचाप अ
रहोगे तो क्या बिगड़ जायगा ? एक समाज बनाकर, शासन-यन्त्र निर्मा
कर, राष्ट्रों की स्थापना कर, शास्त्रो की रचना कर, शस्त्रास्त्रों का निर्माण
कर, एकतायुक्त बनकर तुम जो स्वदेश के लाखों मजदूरो और गरीबों को भूखा
मारते हो और विदेशी का अन्न लूटकर आखिर तीन हाथ की देह को ही पालते
हो तो कौनसा महान कार्य करते हो ?

जिस प्रकार हमारे देश मे सरकार नामक सस्था की हमे अनिवार्यता नहीं प्रतीत होती उसी प्रकार तुम्हारे यहाँ के नब्बे फीसदी लोग समाज मे अन्तर्बाह्य धमा-चौकडी मचानेवाली सरकार नामक संस्था को मन से नही चाहते । कुछ उठाईगीर अल्पसंख्यकों द्वारा चैन की बंसी बजाने के इरादे से रची गई और सारे संसार को पीडा पहुँचानेवाली कृत्रिम तथा अनावश्यक संस्था को, आओ हम-तुम मिलकर धरती मे गाड़ दे । कोंकण की भाँति सारी पृथ्वी पर एक-एक फर्लांग के फासले पर एक-एक कुटुम्ब को जमीन-जायदाद सौंपकर सबसे पहले जुल्म और पाप के जन्म-स्थान-शहरों को मिटा दें । जो जिस देश मे जाकर रहना चाहे वह वहाँ जाकर आराम से रहे । भय है तो चोर-डाकुओं का, पृथ्वी पर निवास करनेवाले अर्द्ध-वन्य जंगलियों या बड़े जमीदारो, विशाल महाजनों का, पेशेवर कूटनीतिज्ञो का । फर्लांग-फर्लांग पर मकान होने से चोर-डाकुओ का भय नही रह सकता, दक्षिणी कोंकण में यही अनुभव होता है । वही अनुभव सारे संसार को होगा और चोर-डाकुओं से

जब एक विशेष आयु हार और कुत्तों की सरकार बनाने की भी आवश्यकता
विश् दास न कभी न्यजनों का एक विशाल समुदाय अफ्रीका के मध्य में है
प्रत्येक पितृ राजन एशिया मे है। आज ऐसे लोगों का अभाव है जो उन अर्द्ध-
अपने को व्यक्ति केल दें क्योंकि उनके जैसी वन्यावस्था और बुभुक्षितावस्था कहीं
स्थापित करते हैं। इसलिए उन समुदायों के अपनी जन्मभूमि में स्थायी रूप से
गए के की पूरी सम्भावना है। उनसे रक्षा करने के लिए सीमा प्रदेश
गणराजा रखनेवाली सरकार की आज कोई जरूरत नही। ऐसी स्थिति में
"राज्" रण करनेवाली सरकार को निवृत्त कर देने में क्या बुराई है ? बड़े-
अत्यन्त मीदारों, विशाल महाजनो और पेशेवर कूटनीतिज्ञों ने सारी पृथ्वी मुगल
अर्थात् अर्द्धवन्य लोगों की भाँति पादाक्रान्त करने और अपनी द्रव्य-तृष्णा को
सन्तुष्ट करने के लिए जुल्मी और घातकी सरकारें रची हैं। क्या आज
परोपघातक तथा स्वार्थिक व्यवसाय बन्द करने का अवसर नही आ गया ?
शक-सम्वत् की सोलहवी और सत्रहवी शती के भारतवर्ष तथा उत्तरी कोंकण
के उदासीन एवं निवृत्त जनो का इतिहास कुछ पूछता है; कुछ बतलाता है तो
निस्सन्देह ये प्रश्न और उत्तर यही है।

१४ | मराठी राज्य का हेतु

शिवाजी के जीवन का रहस्योद्‌घाटन

पन्द्रहवी और सोलहवी शती में और सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध मे महाराष्ट्र अत्यन्त विपदग्रस्त हो चुका था। उस काल का वर्णन करते हुए समर्थ रामदास ने कहा है :—

तीर्थ-क्षेत्र नष्ट हुए। ब्राह्मण-स्थल भ्रष्ट हुए।
सकल जन ग्रस्त हुए। धर्म डूबा ॥

जब यवनो ने हिन्दू धर्म का उच्छेद किया तब "दैव, धर्म, गौ, ब्राह्मण के संरक्षण के लिए" शिवाजी राजा ने अवतार लिया और यवनों की सर्वोच्छेदक गति का प्रतिरोध किया। इसी महान् कार्य को लक्ष्य कर समर्थ रामदास ने शिवाजी को लिखा कि "आप ने जन्म लिया इसलिए महाराष्ट्र-धर्म अंशतः जीवित रह पाया" और सप्रेम प्रार्थना की कि आप धर्म-स्थापना से प्राप्त कीर्ति की उत्तरोत्तर रक्षा के लिए क्या करें? "अमर्याद विश्वासघातियों का संहार करें, न्याय-सीमा का उल्लघन न करें; अच्छे और पक्के किले बनवायें, तुरंग, शस्त्र और घुड़सवार एकत्र करें, और सर्वत्र महाराष्ट्र-धर्म की वृद्धि करें।" महाराष्ट्र-धर्म की वृद्धि के लिए अन्य उपाय क्या करें? "बहुत-से लोगों को एकत्र करें, उनमें एक-विचार की भावना भरें; मेहनत के साथ म्लेच्छों पर टूट पड़ें"। यह कार्य समाप्त होने पर "जितना प्राप्त कर लें उसकी रक्षा करें, आगे और भी प्राप्त करें, सर्वत्र महाराष्ट्र-राज्य बनायें।" समर्थ के शब्दों से विदित होगा कि सत्रहवीं शती के पूर्वार्द्ध में महाराष्ट्र के विचारशील व्यक्तियो के मन मे एक कल्पना नीड़ बना चुकी थी। वह कल्पना महाराष्ट्र-धर्म की स्थापना की थी। उसे सफल बनाने का कठिन कार्य शिवाजी ने सम्पन्न किया। शिवाजी के जीवन का रहस्य यही था।

यह रहस्य ध्यान में रखकर शिवाजी और उनके अनुयायियों के कृतित्व का विचार करें तो प्रतीत होगा कि विदेशी इतिहासकारों की दृष्टि मे शिवाजी के सहायक महाराष्ट्र और कर्नाटक में जो अकारण दौड़ते हुए दिखायी देते हैं

वे व्यर्थ की धुड़दौड़ में व्यस्त नहीं थे; बल्कि अपने मन में एक विशिष्ट नीति निश्चित कर अनुशासन-बद्ध मुहिम पर थे। यवनों ने शिवाजी को डाकू और उसके अनुयायियों को छापामार कहा है। विदेशी इतिहासकारों को वाच्यार्थ में वाक्य ग्रहण करने की आदत पड़ चुकी थी; उसे वे छोड़ दें तो देवता-धर्म-स्वराज्य की स्थापना करनेवाले विश्व के महापुरुषों की मालिका में इस पुण्य-श्लोक एवं महाप्रतापी पुरुष को निश्चय ही अग्रस्थान देना होगा।

महाराष्ट्र-धर्म क्या है? क्या वह ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म, यहूदी-धर्म की भाँति कोई धर्म है? नहीं, वह ऐसा नहीं है। महाराष्ट्र-धर्म हिन्दू धर्म की भाँति है? नहीं, वह ऐसा नहीं है। महाराष्ट्र-धर्म हिन्दू धर्म ही है न? नहीं, महाराष्ट्र-धर्म केवल हिन्दू-धर्म से व्यापक है। तत्कालीन महाराष्ट्र में प्रचलित धर्म और शेष भारत में स्वीकृत धर्म में बहुत अन्तर था। भारत में सर्वत्र यवनों का शासन था और उसके आधिपत्य में रहकर महाराष्ट्रेतर प्रदेशों में प्रजा अपने हिन्दू धर्म का अर्थात् व्रत, उद्यापन, उपासना, पूजा आदि धर्म का पालन, यवनों की ओर से रुकावटें पैदा होने की स्थिति में भी चुपचाप कर रही थी।

महाराष्ट्र की जनता उतनी सहनशील नहीं थी। बीजापुर, अहमदनगर, खानदेश, जुन्नर, कोंकण आदि प्रदेशों में शासन करनेवाले मूर्तिभंजक यवनों ने एक ओर तो मराठों को परेशान कर दिया था और दूसरी ओर मराठों के प्रमुख सरदारों और कूटनीतिज्ञों को बड़े-बड़े सम्मानित पदों पर अलंकृत किया था। इसी कारण तत्कालीन मराठों में यवनों के प्रति द्वेष और उनको मिटा देने की सामर्थ्य; दोनों भाव एक ही समय उत्पन्न हुए। महाराष्ट्र में दामाजी-पन्त[१] के समय से धर्म भ्रष्ट करनेवाले, गौओं का वध करनेवाले और ब्राह्मणों को पीड़ा पहुँचानेवाले यवनों के प्रति क्रोध की आग मन्द-मन्द जल रही थी; शिवाजी के अवतीर्ण होने पर वह धधक उठी। यवनों से देश को मुक्त करना उस काल में महाराष्ट्र के हिन्दू धर्म का एक कर्तव्य बन चुका था। पर मराठों का उद्देश्य उतना ही नहीं था; वे मुख्यतः धर्म की संस्थापना कर गो-ब्राह्मणों का प्रतिपालन करना चाहते थे। इस उद्देश्य की सिद्धि केवल

---

१ वर्तमान पण्ढरपुर के पास मंगलवेढ़ा का स्थानीय अधिकारी। उत्कट विट्ठल-भक्त। अकाल में ब्राह्मणों को अनाज देने के अपराध में बीदर के सुलतान ने दामाजीपन्त को पकड़ लिया; जनश्रुति है कि स्वयं विट्ठल ने एक अन्त्यज का रूप धारण कर अनाज गुदामों में भरवाया और रसीद सुलतान के पास भेज दी। समय लगभग १५०० ई०—अनु०।

यवनों का समूल नाश कर नहीं हो सकती थी, उसके लिए स्वराज्य की स्थापना करना अनिवार्य था। अतः स्वराज्य की स्थापना करना महाराष्ट्र के हिन्दू धर्म का एक प्रमुख कर्तव्य बन चुका था।

शिवाजी ने बहुत पहले विचार कर लिया था कि स्वराज्य की स्थापना के लिए दो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने पड़ेंगे। एक तो अखिल मराठों का एकीकरण और दूसरा, उनका धुरीधरण अर्थात् नेतृत्व स्वीकार करना। किसी भी युग में "बहुत-से लोगों को एकत्र कर बिना एक विचार उनमें भरे" स्वराज्य-स्थापना की तैयारी नहीं की जा सकती। इतना करके कार्य पूरा हो भी नहीं सकता, एक विचार धारण करनेवाले लोगों का धुरीणत्व स्वीकार करने और इष्ट हेतु की परिपूर्ति के लिए महापुरुषों को प्रस्तुत होना पड़ता है। "बहुत से लोगों को एकत्र करने और उन्हें एक विचार से भर देने" का कार्य शिवाजी ने सन्तों से कराया इसी वृत्ति को ध्यान में रख कर समर्थ रामदास ने कहा है :—

ब्राह्मण-एकत्र करो। भक्त का सम्मान करो॥
सन्तों की खोज करो। विश्व में॥

एक समान विचार से प्रेरित व्यक्तियों और उनके समाजों का नेतृत्व शिवाजी और उसके कूटनीतिज्ञ सहायकों ने स्वीकार किया; स्वराज्य की स्थापना का अतिमानवीय कार्य कर दिखाया। महाराष्ट्रेतर प्रदेशों में महाराष्ट्रीय हिन्दू धर्म का तत्कालीन अर्थ था—हिन्दू धर्म + धर्मसंस्थापना + गो-ब्राह्मण-प्रतिपाल + स्वराज्य-स्थापना + एकीकरण + धुरीधरण। समर्थ रामदास ने इसी अर्थ के लिए "महाराष्ट्र-धर्म" शब्द खोज निकाला और प्रसार के हित शिवाजी महाराज और उसके अनुयायियों ने अपरम्पार तन-धन व्यय किया। महाराष्ट्रेतर प्रदेशों के हिन्दू धर्म को सहिष्णु और महाराष्ट्र के हिन्दू धर्म को जयिष्णु कहें तो दोनों धर्मों का भेद स्पष्टता से प्रकट होगा। दामाजीपन्त के युग का निस्तब्ध विठोबा सहिष्णु हिन्दू धर्म की मूर्ति है; समर्थ रामदास का उड्डायमान हनुमान जयिष्णु हिन्दू धर्म की पताका है। सारांश, १६४६ ई० से १७९६ ई० तक मराठे स्वराज्य की कल्पना को मूर्त रूप देने में व्यस्त थे, ठीक डेढ़ सौ वर्षों तक उसी कल्पना को आधार मानकर बढ़ रहे थे। महाराष्ट्र-धर्म की कल्पना मराठों के डेढ़ सौ वर्षों की प्रत्येक हलचल का प्राणभूत तत्व है। नीचे बतलाया गया है कि उक्त कल्पना का भिन्न-भिन्न-काल में किस प्रकार विकास होता गया।

स्वराज्य की साधना

(अ) महाराष्ट्र-धर्म का मुख्य अंग था स्वराज्य की स्थापना। इसी की

सिद्धि में शिवाजी व्यस्त था। दुर्भाग्यवश शिवाजी की मुद्रा से अंकित लेख आज तक एकाध ही उपलब्ध है। काव्येतिहास संग्रह का पत्र क्र० ४११ शिवाजी ने १६५६ ई० मे लिखा है जिससे अंशतः ज्ञात होता है कि अधिकार पाने के लिए वह अन्य राज्यो के देसाई[1]-देशपाण्डेयों[2] को किस प्रकार लालच दिखाकर अपनी ओर कर लेता था। पूरा पत्र उद्धृत किया जा रहा है—

"सन्धिपत्र राजश्री सेमसावन्त तथा लखमसावन्त देसाई बहादुर कुडाल प्रदेश,- के दीवान पीताम्बर शेणवई के प्रति लिखित। सुन्हू सन तिस्सा खमसैन अलफ[3]

प्रदेशाधिकारी का अधिकार माना जाता है। जो धन प्राप्त होगा उसका अर्धांश हुजूर[4] के कोष में जमा किया जाए। शेष धन की सहायता से तीन हजार पदातियों की सेना तैयार की जाय और जब निमंत्रित किया जाय तब आप सेना-सहित आकर सेवा करें। स्वयं हुजूर का आगमन होगा तो निमन्त्रण भेजा जायगा, तब आना होगा।...धारा १

फोण्डे का किला हुजूर ने अधिकार में कर लिया है, वहाँ के लोगों को हर स्थिति मे सहायता पहुँचाये। बिदनूर आदि प्रदेशो में वसूली के सिलसिले मे सरकार दल जाय तब उसकी सहायता करे।...धारा २

स्वराज्य-साधना के लिए राजदूतो के निकट (तथा मध्य) रहकर तुर्की की सहायता प्राप्त करें।......... धारा ३

प्रदेश के जाम-खर्च की छानबीन के लिए हुजूर की ओर से जो लोग भेजे जायँगे उनका खर्च सरकारी कोष से चलायें।...धारा ४

प्रदेशाधिकारी की अधिकारान्तर्गत जागीरें तथा बहादुर की उपाधि. अजरूए मईमत जारी रहेंगी। प्रदेशान्तर्गत किले, गढ़ियाँ और कोठियाँ आपको सौंप दी गई हैं। उन पर अधिकार रख उनकी रक्षा करें। वहाँ सरकारी कारकुन आये तो उन्हे रहने दे।...धारा ५

---

१ परगने का अधिकारी—अनु०।
२ कानूनगो के पद का अधिकारी—अनु०।
३ तदनुसार अरबी सन् १०५६ तथा ईसा वा सन् १६५१—अनु०।
४ शिवाजी के—अनु०।

शक-सम्वत् १५८० विलम्बीनामसम्वत्सरे फाल्गुन वदी ७ तिथि को कुल पाँच धाराग्रोंवाला तहनामा लिख दिया है। मुहरबन्द किया।"

यह सन्धिपत्र १६५६ ई० के मार्च में लिखा गया जिसका उल्लेख ग्राण्ट डफ् ने सन १६५६ ई० की घटनाओं के अन्तर्गत किया है। इसमें स्वराज्य-साधना का उल्लेख किया गया है। शिवाजी ने मुधोल के घोरपड़े को एक विस्तृत पत्र भेजा था जिसमें यही उद्देश्य प्रदर्शित किया था। वह पत्र मेरे पास सुरक्षित है।

(आ) शिवाजी ने मुगलशासित प्रदेशों से स्वराज्य,[1] गनीमाई[2], सरदेशमुखी और चौथाई वसूल करने की परिपाटी आरम्भ की। इसमें स्वराज्य-साधना का बहुत-कुछ इतिहास गर्भित है। शिवाजी दिखाना चाहते थे कि वह मुगल शासन के अन्तर्गत सरदेशमुख है। मुगलों के कुछ प्रदेश पहले मराठों के अधिकार में थे और मुगल मराठों को "गनीम" (हि० शत्रु—छापामार—अनु०) कहा करते थे। इसी कारण उनसे "गनीमाई" की कौड़ी-कौड़ी वसूल करना और जो तिरस्कारसूचक शब्द मराठों के लिए प्रयुक्त होता था उसका बदला लेना आदि अर्थ इस शब्द में निहित है।

(क) अष्टप्रधानघटित राज्य-व्यवस्था का अन्तर्भाव महाराष्ट्र-धर्म में होता है। राष्ट्र की कल्पना में राष्ट्रभाषा का समावेश भी है। शिवाजी के अवतीर्ण होने तक दक्षिण में मुसलमानों के प्रभाव से जावली, शृंगारपुर आदि मराठी राजाओं के दरबार में और स्वयं शिवाजी के आक्रमणों से लेकर उसके अभिषेक-काल तक शिवाजी के दरबार में निरुपाय होने के कारण फारसी और "मुसलमान" भाषा के शब्दों का अधिकता से प्रयोग होता था। सम्भव था कि विदेशी भाषा के प्रचार-प्रसार के कारण स्वराज्य-स्वराष्ट्र की विशुद्ध कल्पना मराठों के मन में अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध हो जाती, अतः शिवाजी ने फारसी शब्दों के स्थान पर संस्कृत तथा "महाराष्ट्र" शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ किया।

इस प्रकार शिवाजी की राजनीति स्वराज्य-स्थापना तथा महाराष्ट्र-धर्म की वृद्धि में निहित थी। समर्थ रामदास ने सम्भाजी को भी महाराष्ट्र-धर्म का प्रसार करने का उपदेश दिया है। राजाराम और उसके समकालीन सेनापतियों तथा दरबारियों ने भी यही उद्देश्य अपने सम्मुख रखा और प्रशंसनीय कार्य

---

[1] स्वराज्य के नाम पर वसूली—अनु०।

[2] लूट के सिलसिले में धन वसूल करने की पद्धति—अनु०।

किया। आगे चल कर शाहू महाराज ने सन् १७०७ ई० से १७१४ ई० तक जो प्रदेश उसे तारावाई से मिला उसका उचित प्रवन्ध कर सन् १७१४ ई० में वालाजी विश्वनाथ को स्वराज्य-साधना के हित निम्नलिखित कार्यावली सहित सौंप दिया—

१. बड़े स्वामी (शिवाजी) के समयानुसार रायगढ तथा अन्य किलों पर अधिकार करना, कोठियों पर कब्जा करना।
२. खटाव, अकलूज, कासेगाँव, मगलवेढे, मिरज पेड़गाँव तथा जुन्नर के किलों सहित चौल किलेसहित, सांगोलें, नाफरें, चाकरा, बेलगाँव, कल्याण तथा भिवण्डी सहित किले।
३. त्र्यम्बकेश्वर माँग लेना।
४. प्रत्येक स्थान पर जो नज़राना मिले उसका चौथा भाग लेना।
५. चांदा पर कान्होजी भोंसले का अधिकार है उसे स्वराज्य में मिलाना।
६. छः सूबों के अतिरिक्त गुजरात मालवा मे जितनी दूर तक बन पड़े, अधिकार करना।

नवाब बहलोलखाँ की दौलत पर फतेसिंग बाबा का नाम चढाना।

७. मातुःश्री (येसूबाई) तथा मदनसिंग वाले और दुर्गाबाई, सेवकों सहित माँग लेना।
८. इसके पूर्व जो-जो लिख दिया है उसकी बाकायदा सनदें तैयार करना।
९. कोंकण प्रदेश—मय राजापुर के—में चौथ, सरदेशमुखी, स्वराज्य तथा अन्य जो भी प्राप्त होने की सम्भावना हो, उसका स्वतन्त्र फर्मान तैयार कराना।
१०. सरदेशमुखी के नाम हर प्रदेश मे एक गाँव नियत करना और अधिकार प्राप्त करना।
११. चन्द्री प्रदेश मे अधिकार प्राप्त करना।
१२. जयसिंग पालकर से नौकाएँ प्राप्त करना।

उक्त सूची के कार्यों की पूर्ति के लिए वालाजी विश्वनाथ सन् १७१८ ई० मे हुसैनअली को साथ लेकर दिल्ली गया। सन् १७१९ ई० की फरवरी और मार्च में उसने सैयद-बन्धुओं से सूची के अनुसार स्वराज्य-सम्बन्धी सनदें तैयार कराई जिन्हें लेकर वह सातारा लौट आया। दुर्भाग्यवश शीघ्र ही १७१९ ई० के अक्तूबर में उसकी मृत्यु हो गयी। ग्राण्ट डफ् वालाजी विश्वनाथ की मृत्यु का काल सन् १७२० ई० का अक्तूबर मानता है जो मुझे कई कारणों से अग्राह्य प्रतीत होता है। आगे सन् १७२० ई० में बाजीराव पेशवा हुआ।

शाहू ने वही सूची जो बालाजी विश्वनाथ को दी थी, बाजीराव बल्लाल को दी (भारतवर्ष के पत्र तथा सूचियां ४०)[1]। कारण यह कि बालाजी

[1] भारतवर्ष में प्रकाशित पत्र और सूची का ४०वां पत्र तथा काव्येतिहास-संग्रह में प्रकाशित शाहू प्रथम के जीवन-चरित के ४० वें पृष्ठ पर प्रकाशित सूची अक्षरशः समान है। भेद यदि हो तो इतना ही कि चरितवाली सूची शुद्ध छपी है और भारतवर्ष वाली सूची में असंख्य अशुद्धियां हैं। तुलना के लिए भारतवर्ष वाली सूची अविकल दे रहा हूं :

"सिद्धि के उद्देश्य से शाहू महाराज ने जो सूची बाजीराव बल्लाल के पास भेजी वह इस प्रकार है :—

॥ श्री ॥

सूची सिद्ध करे

स्व० बड़े महाराज की भांति रायगढ़ इ० पर अधिकार प्राप्त करे। कोठियां प्राप्त करें : १. खटाव २. अकलूज ३. कासेगांव ४. सांगाले ५. मगलवेढ़ ६. नाझरे ७. मिरज ८. चाकण ९. पेड़गांव १०. बालेगढ ११ जुन्नर सहित किले १२. कल्याण-भिवण्डी सहित किले १३. चेऊल सहित किले

प्रत्येक रियासत में तालुका बनाया है उसकी चौथाई वसूल करे।

नवाब "बाकीखां" की दौलत पर फतेसिंगबाबा का नाम चढ़ाये। कान्होजी भोसले द्वारा अधिकार किया गया चांदा का राज्य स्वराज्य में मिला ले। चन्द्री-प्रदेश को मिला लें। मातुःश्री तथा मर्दानसिंग आदि तथा दुर्गाबाई, जानकीबाई तथा सेवक लोगों को लाएँ। पुरानी बातों की सनदें तैयार कराएँ। कोंकण प्रदेश—सय राजपुरी के—की चौथ, सरदेश मुखी, स्वराज्य तथा अन्य वसूली का फरमान अलग से तैयार कराएँ। सरदेशमुखी के इनाम रूप में "कसगांव" लिखवाएँ। जैसिंगपालकर के यहाँ से नौकाएँ मांग लें। त्रिम्बक मांग लें। सबकी रक्षा करते हुए मालवा में अधिकाधिक प्रदेश पर अधिकार करें।

इस प्रकार यत्नपूर्वक सम्पन्न करें। जानकारी के लिए अधिक क्या लिखें। मुहरबन्द किया।"

इस एक पत्र में मोडी (मराठी की लघु-लिपि—अनु०) पढ़ने की लगभग १६-१७ अशुद्धियाँ हैं। भारतवर्ष के सम्पादक ने काव्येतिहास-संग्रह वाली

विश्वनाथ दिल्ली से जो फरमान लेकर आया उसका पालन कराने को वह जीवित न रहा। अतः बाजीराव को पेशवाई पर अधिष्ठित कराते समय शाहू ने सूची ज्यों-की-त्यों इसलिए दी कि अधूरा काम पूरा हो। बाजीराव के शासन-काल के प्रारम्भिक दस-ग्यारह वर्ष सूची में अंकित कार्यों की परिपूर्ति करने में व्यतीत हुए। सन् १७३१ ई० के लगभग बाजीराव ने समस्त कार्य सम्पन्न कर लिया। यहाँ तक अर्थात् सन् १७३१ ई० तक मराठों के स्वराज्य-साधना के प्रयत्नों का अंश आता है। इसके पश्चात् मराठों की राजनीति ने दूसरा रूप धारण किया। वह रूप हिन्दू-पद-बादशाही की स्थापना का था।

हिन्दू-पद-बादशाही की स्थापना

प्रसिद्ध है कि हिन्दू-पद-बादशाही की स्थापना की भूमिका शाहू के सामने स्वयं बाजीराव ने प्रस्तुत की। सन् १७३१ से १७४० ई० तक बाजीराव ने जो प्रयत्न किये, सब इसी उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं। दक्षिण में तुंगभद्रा, उत्तर में यमुना, पश्चिम में समुद्र-तट तथा पूर्व में निजामुलमुल्क का प्रदेश तथा पूर्वी समुद्र, विस्तृत हिन्दू-पद-बादशाही की सीमाएँ बनीं। इतना कर चुकने के बाद बाजीराव बल्लाल ने अपना अवतार-कार्य समाप्त किया। बाजीराव के पश्चात् राज्य की धुरी बालाजी विश्वनाथ ने उठाई। सन् १७४० से १७५० ई० तक बाजीराव द्वारा जीते गये प्रदेश का प्रबन्ध करने में बालाजी व्यस्त रहा; परन्तु कभी-कभी काशी, प्रयाग, कटक, गढ़मण्डल, बहादुरभेण्डा आदि प्रदेशों की ओर उसकी दृष्टि अवश्य लगी रही। पर इसलिए कि रघोजी भोंसले को हराया जाए और दक्षिण में पूर्वापर से चलते आ रहे अधिकारों को पुनः प्रस्थापित किया जाए। सन् १७५० ई० तक मराठों का आधिपत्य सातारा के छत्रपति करते थे। बाजीराव बल्लाल और बालाजी विश्वनाथ ने छत्रपति के नाम से हिन्दू-पद-बादशाही की स्थापना एवं प्रसार करने का प्रयत्न किया। बाजीराव

सूची पढ़ने का कष्ट किया होता तो भूलें न हो पातीं। "भारतवर्ष" मासिक-पुस्तिका में मोड़ी-पठन की अन्यत्र भी अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं। अनेक टिप्पणियाँ इतिहास भूलकर लिखी गई हैं। उक्त पत्र के साथ भारतवर्षकार ने टिप्पणी दी है जिसमें आश्चर्य एवं आशंका प्रकट की गई है कि सूची शाहू ने बाजीराव बल्लाल को भेजी थी या नहीं। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होगा कि शाहू ने सूची बाजीराव बल्लाल के पास ही भेजी थी।

बल्लाल शाहू की अपेक्षा कई गुना अधिक कूटनीतिज्ञ एव पराक्रमी व्यक्ति था। फिर भी उसने शाहू का आधिपत्य कम करने की बात नही सोची। बालाजी बाजीराव के पेशवा बनते ही शाहू और उसके वशज-छत्रपतियों की प्रभुता घटाने के प्रयत्न किये गये। शाहू के जीवन-काल मे बालाजी दिखाता रहा कि वह छत्रपति का अनन्य सेवक है पर उसका देहान्त होने के पश्चात् रामराजा गद्दी पर आया तब बालाजी ने स्वेच्छापूर्वक किन्तु अत्यन्त चतुराई से छत्रपति की अवहेलना की। बालाजी की सच्ची वीरता और उसके वायव्य किन्तु विशाल उद्देश्य शाहू की मृत्यु के बाद ही अर्थात् सन् १७५० ई० से मूर्त्त रूप धारण करने लगे। उसी वर्ष बालाजी मराठों का वास्तविक नेता बना और सातारा के छत्रपति का आधिपत्य अस्त हो गया। उसी वर्ष से सन् १७६१ ई० तक सारे भरतखण्ड को महाराष्ट्रमय बनाने का उपक्रम बालाजी ने आरम्भ किया। सारांश, सन् १७५० ई० से ब्राह्मण-पद-बादशाही का प्रारम्भ होकर हिन्दू-पद-बादशाही विस्मृत होती गई।

ब्राह्मण-पद-बादशाही में रूपान्तर

आगामी विवेचन में बतलाया गया है कि सन् १७५० से १७६१ ई० तक बालाजी ने प्रायः समस्त भारत मे मराठों का साम्राज्य किस प्रकार प्रस्थापित किया और महाराष्ट्र में सातारा के छत्रपति तथा उसके राज्य-मण्डल का अधिकार कम करके अपनी प्रभुता की किस प्रकार वृद्धि की।

सन् १७५० ई० से हिन्दू-पद-बादशाही के बदले ब्राह्मण-पद-बादशाही का नाम नया-नया सुनाई पड़ने लगा। इसी वर्ष से सातारा के महाराज का बड़प्पन बिलकुल ठण्डा पड़ने लगा और पेशवा मराठा-मण्डल के प्रमुख बन गये। यह क्रान्ति किस प्रकार हुई, इसका वर्णन नीचे किया गया है।

शाहू की मृत्यु के बाद सन् १७५० ई० की जनवरी से बालाजी ने सारे भारत को दक्षिण समेत महाराष्ट्रमय बनाने का प्रयत्न किया और सदाशिव चिमणाजी तो रूमोशाम की सरदेशमुखी वसूल करने की डींग हाँकने लगा। उक्त बारह वर्षों में बालाजी बाजीराव की नीति का पृथक्करण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(अ) भारत की पश्चिमोत्तर दिशा मे उत्तरी राजपूताना, अन्तर्वेद, रहेलखण्ड, मुलतान, लाहौर, ठट्टा और भाखड़ा आदि प्रदेशों पर अधिकार करना। (लेखांक १)

(आ) भारत के पूर्व में काशी, प्रयाग, अयोध्या, बंगाल तक सेनाएँ लेकर आक्रमण करना। (काव्येतिहास-संग्रह, पत्र और सूचियाँ क्र. ३६२, ३७३, ३८७, ३८८)

(इ) दक्षिण में पूर्व की ओर सलावतजंग के प्रदेश पर अधिकार जमाना। कर्नाटक में श्रीरंगपट्टण जब तक हिन्दू राजा के अधिकार में रहे तब तक राजा को अपना माण्डलिक बनाना और मुसलमानों के हाथ में जाने पर जीतने का प्रयत्न करना।

(ई) कोंकण में सूरत, जंजीरा इत्यादि प्रदेश जब्त करना।

(उ) महाराष्ट्र में सातारा और कोल्हापुर की गद्दियों का एकीकरण करना।

(ऊ) सरदारों का प्रबन्ध करना।

इस प्रकार बालाजी बाजीराव ने राजनीति को छः दिशाओं में विभाजित किया। जिनमें से (अ), (आ), (इ), (ई) तथा (ऊ) दिशाओं की जानकारी इस पुस्तक में, काव्येतिहास-संग्रह तथा ऐतिहासिक लेख-संग्रह में प्रकाशित पत्रों में आ चुकी है। उनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन महाराष्ट्रीय कूटनीतिज्ञों ने किन्हीं विशेष उद्देश्यों से कार्य आरम्भ किया था और उसकी पूर्ति के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न किये जा रहे थे।

दिल्ली के बादशाह ने सन् १७५० ई० में पश्चिमोत्तर प्रदेश मराठों को दे दिया अत. सन् १७६१ ई० तक उस प्रदेश में शासन-व्यवस्था करना आवश्यक ही था। ···मराठों ने सन १७५० ई० में बादशाह को आश्वासन दिया था कि वे अब्दाली को ठीक कर देंगे। तभी निश्चय हो चुका था कि एक-न-एक दिन अब्दाली और मराठों के बीच घमासान लड़ाई होकर रहेगी। सन् १७५८ ई० में रघुनाथराव ने लाहौर पर अधिकार कर लिया। इससे अब्दाली आग-बबूला हो गया और ग्राण्ट डफ् का विश्वास है कि इसी कारण मराठों को पानीपत में मुँह की खानी पड़ी। यह तर्क अधिक विश्वसनीय नहीं है। यदि ध्यान में रखें कि मराठों ने सन् १७५० ई० में अब्दाली को नामशेष करने का उत्तरदायित्व उठाया था तो पता चलेगा कि रघुनाथराव को अकारण दोषी मानना व्यर्थ है। पूर्व में काशी और बंगाल हस्तगत करने का प्रयत्न बालाजी सन् १७४२ ई० से कर ही रहा था। सन् १७४७ ई० में वह स्वयं काशी में जाकर रहा। सन् १७५२ ई० की मई में जयाप्पा उत्तर की ओर चला तो बालाजी ने उस पर काशी का काम पूरा करने की जिम्मेदारी सौंपी

थी। कुम्भेर के घेरे के बाद जयाप्पा काशी की ओर बढ़ने ही वाला था कि उसे नागौर की ओर जाना पड़ा और काशी का काम स्थगित करना पड़ा। फिर भी वह विजयसिंह को हटाकर काशी जाने का इच्छुक था। लेखांक ३१ में सन् १७५४ ई० के मार्च में जयाप्पा ने बाबूराव महादेव को लिखा है—"आपके दल में सम्मिलित होने के बाद श्री का काम पूरा करने से बड़ा काम नहीं।" सन् १७५४ ई० के अगस्त में जयाप्पा पुनः लिखता है "उनका यथायोग्य पारिपत्य कर श्रीक्षेत्र मे शासन-व्यवस्था करने की बात हृदय में घर किये हुए है।" सन् १७५५ ई० में जयाप्पा की मृत्यु हुई। उसके बाद सन् १७५६ ई० में बालाजी ने दत्ताजी को काशी, प्रयाग और बंगाल पर अधिकार करने का आदेश दिया, अब्दाली-काण्ड के कारण आदेश की पूर्ति न हो पाई और श्री एकबार जो मराठों के हाथ से छूटी तो फिर नहीं लौटी। सन् १७५१, १७५२, १७५७, १७६० ई० में सलाबतजंग पर पूना की ओर से और सन् १७५३,१७५४ और १७५५ ई० में खानदेश, इलिचपुर और येलगन्दल आदि प्रदेशों की ओर मे आक्रमण किया और उससे "प्रायः समस्त दक्षिण को सन् १७६० ई० में मुक्त कराया" (लेखांक १६६)। सन् १७५१ ई० में चार लाख, सन् १७५२ ई० मे पचास लाख, सन् १७५७ ई० में पच्चीस लाख और सन् १७६० ई० में पचास लाख, सन् १७५७ ई० में साढ़े इकसठ लाख आमदनी-वाले प्रदेश बालाजी ने सलाबतजंग से छीन लिये। इसके अतिरिक्त सन् १७५५-५६ ई० मे पन्द्रह लाख आमदनी का प्रदेश परसुराम महादेव के मार्फत पाया (लेखांक १६५)। जानोजी भोसले भी पाईनगगा के इस ओर घोड़ा दौड़ाता चला आ रहा था। सारांश, सन् १७६० ई० मे सलाबतजंग के पास केवल तेलंगाना का भाग बच रहा; शेष सारा प्रदेश मराठों ने अपने राज्य में मिला लिया।

सन् १७५६ ई० तक पेशवाओं ने बहादुरभेण्डा, बिदनूर, होलीहोन्नूर, सावनूर, सोन्धे आदि स्थानों के उपद्रवी सरदारों को पादाक्रान्त कर मैसूर राज्य नष्टप्राय कर दिया। आगे चलकर मैसूर पर हैदरअली ने अधिकार जमाया। सदाशिवराव भाऊ का विचार था कि मैसूर को भारतीय मानचित्र पर से हटा दिया जाय, परन्तु अब्दाली की अड़चन पैदा होने से वह काम पूरा न हो पाया। कोंकण में हब्शियों से कासें, उन्देरी इत्यादि स्थान और तुलाजी का विजयदुर्ग आदि किले बालाजी ने छीनकर प्रायः कोंकण प्रदेश को मुक्त कराया। इस प्रकार सन् १७६० ई० तक लाहौर, मुलतान, ठट्टा, भाखड़ा,

अन्तर्वेद, रुहेलखण्ड, कटक, नागपुर, मालवा, गुजरात, काठियावाड़, खानदेश, औरंगाबाद, बीजापुर, कोंकण और कोपल के किले तक समस्त प्रदेश मराठों की पताका के नीचे आ गया। इसका श्रेय बालाजीराव की राजनीति को दिया जाना चाहिए। महाराष्ट्र-धर्म प्रसार का कार्य अभी रुका नहीं था कि इतने में अब्दाली का आक्रमण हुआ और मराठे विद्यमान राज्य की रक्षा में जुट गये। बाद की कथा सन् १७६१ ई० के पश्चात् आती है अतः उसका यहाँ वर्णन करना अप्रासंगिक होगा। यहाँ हम इतना ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि मराठों के प्रयत्नों में एक प्रकार की योजनाबद्धता थी (भारतवर्ष के पत्र, सूची इ० क्र. ८ ; अनुच्छेद क्र.३/८/ ८/११)। यहाँ तक मराठों के उन प्रयत्नों का विवरण दिया जो उन्होंने महाराष्ट्र-धर्म तथा ब्राह्मण-पद-बादशाही की स्थापना के लिए किए। आगे वर्णन किया गया है कि सातारा के छत्रपति का प्रवन्ध करने मे मराठों की नीति का कैसा स्वरूप था।

पेशवाओं की छत्रपति-विषयक नीति

बालाजी की राजनीति का रहस्य यह था कि वह महाराष्ट्र-धर्म अर्थात् संस्था का प्रसार एवं ब्राह्मण-पद-बादशाही स्थापित करना चाहता था, इसी लिए वह महाराष्ट्र के भीतर और बाहर भी अत्यन्त प्रयत्नशील था। ऊपर दिखाया जा चुका है कि महाराष्ट्र के बाहर बालाजी ने क्या कार्य किया। यहाँ बतलाया जायगा कि उसने महाराष्ट्र के भीतर क्या प्रयत्न किये। बालाजी विश्वनाथ से लेकर बालाजी बाजीराव तक सब पेशवाओं का उद्देश्य अपने महत्व की वृद्धि करना रहा है। धनाजी जाधव की मृत्यु के बाद चन्द्रसेन जाधव शाहू का सेनापति बना। बालाजी विश्वनाथ ने पहले उसे मारकर भगा दिया, फिर एक ओर बहिरोपन्त पिंगले को अपने मार्ग से हटाया और दूसरी ओर स्वयं पेशवा का अधिकार अर्थात् मराठों की धुरीणता प्राप्त की। बाजीराव के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे श्रीपतराव प्रतिनिधि, त्रिम्बकराव दाभाड़े और रघोजी भोसले। प्रतिनिधि और दाभाड़े का महत्व सन् १७३१ ई० तक समाप्तप्राय हो गया और आगे पूरे नौ वर्षों तक उसने मराठों का अनन्य सामान्य नेतृत्व किया। रघोजी को तब भी माना जाता था, ता० १६ जनवरी १७४४ ई० को बालाजी बाजीराव ने उससे स्नेह स्थापित कर अपना मित्र बना लिया।

सन् १७५० ई० में उधर शाहू दिवंगत हुआ, बालाजी के छोटे-मोटे प्रतिद्वन्द्वी सिर उठाने लगे। यहाँ तक कि उसके मित्र भी उसके विरुद्ध हो

गये। सन् १७५० ई० से १७५३ ई० के तीन वर्ष ताराबाई, जगजीवनराव प्रतिनिधि, यमाजी शिवदेव, बाबूराव बरामतीकर, दमाजी गायकवाड़ और दाभाडे को इस प्रकार दबाते हुए बीते कि साँप मरे पर लाठी न टूटे। इसी बीच सदाशिव चिमणाजी और रामचन्द्रबाबा शेणवई की भी प्रतिद्वन्द्विता की पिशाचिनी ने धर दबोचा। स्वय रामराजा भी उसके प्रति उदासीन हो गया। सदाशिव चमणाजी और शेणवई की चतुरता से प्रसन्न कर बालाजी ने सारा क्रोध रामराजा पर उतारा। सातारा के छत्रपति के लिए बालाजी बाजीराव के हृदय मे अधिक स्नेह पहले भी न था। स्वयं शाहू के जीवित रहते समय वह मनमौजीपन से व्यवहार करता ही था। इससे यह न समझना चाहिए कि बालाजी बाजीराव ने मनमौजीपन की परम्परा निर्माण की। सन् १७४० ई० में जब चिमाजी अप्पा कोंकण मे था तब शाहू ने कुछ घुड़सवार गोलकुण्डा की ओर भेज देने का आदेश उसे दिया था। चिमाजी के अस्वीकार करने पर दोनों में काफी संघर्ष हुआ था (भारतवर्ष, पत्र तथा सूचियाँ क्र० ३८)।

एकच्छत्र मराठी राज्य स्थापित करने की इच्छा

बालाजी बाजीराव सन् १७४० ई० में पेशवाओं की गद्दी पर बैठा। वह गद्दी उसे सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं हुई थी। रघोजी भोसले ने बाबूजी नाईक बारामतीवाले को पेशवाई देने का समर्थन किया था परन्तु महादोबा पुरन्दरे और गोविन्दराव चिटणीस के प्रयत्नों से बालाजी ज्यों-त्यों पेशवा बन पाया। उस समय जो मानसिक कष्ट बालाजी को हुआ उसका बदला अन्तस्थ रीति से लिया गया। "इह्दि्दे आरबैन" रौद्र नाम सम्वत्सर अर्थात् सन् १७४० ई० में कोल्हापुर के सम्भाजी महाराज सातारा आये थे तब बालाजी बाजीराव ने उनसे एक गुप्त सन्धि की जिसका एक अनुच्छेद निम्नानुसार है—"शाहू महाराज की जीवात्मा है तब तक बाहर से उनके सेवक; भीतर से आप के। शाहू महाराज के कैलासवास (हि : मृत्यु होने पर—अनु०) करने पर दोनों राज्यों पर आपकी (सत्ता) और हम सेवक आपके। (काव्येतिहास-संग्रह; पत्र तथा सूचियाँ इ० ४२८, ४२६)। इस प्रकार शाहू से बदला ले चुकने के बाद बालाजी ने रघोजी को ठीक करने की सोची। सन् १७४३ ई० में रघोजी को पराजित कर उसे सातारा में लाकर सन् १७४४ ई० में शाहू से रघोजी के लिए हिन्दुस्तान के प्रदेशों का विभाजन कराया (भारतवर्ष; ४६/४७/४८/ ४६)। रघोजी का गर्व-हरण करने के उपरान्त बालाजी ने अपनी दृष्टि

बाबूजी नाईक की ओर उन्मुख की। बाबूजी नाईक सोन्धे, बिदनूर, सावनूर आदि रियासतों में घुसकर सरदेशमुखी जमा करता था। सावनूर के पठान तथा अन्य रियासतों के राजाओं को भीतर से फुसलाकर नाईक की पूरी हानि कराने की कार्यवाही भी बालाजी बाजीराव ने की। (काव्येतिहास-संग्रह ; सूची इ० ६७/६८/७७/७८) इस प्रकार उसने शाहू, रघोजी और बाबूजी नाईक को परेशान किया। इसके अतिरिक्त बालाजी ने शाहू का ऋण चुकाने में विलम्ब करना आरम्भ किया। उसने शाहू की रानियों से कर्ज लिया था उसका भुगतान करने में आनाकानी करने लगा। स्वाभाविक था कि शाहू को बालाजी पर क्रोध होता, अतः सन् १७४७ ई० में शाहू ने बालाजी को पेशवाई के अधिकार से बहिष्कृत करने का विचार तक कर लिया। भारतवर्ष का पत्र क्र० ४५ इसी घटना का संकेत देता है।[१] इससे स्पष्ट होता है कि शाहू बालाजी को निवृत्त करने का इरादा रखता था। इसी समय शाहू के पागल हो जाने के चिह्न दिखाई पड़ने लगे और दो वर्ष बाद ता० १५ दिसम्बर सन् १७४९ ई० को उसकी मृत्यु हो गई। शाहू की मृत्यु के तीन मास पूर्व से बालाजी सातारा में जमा रहा और अपनी दृष्टि में उपयुक्त उत्तराधिकारी की खोज में निमग्न रहा। सातारा की गद्दी के सम्बन्ध में दो व्यक्ति अपने को अधिकारी कहते थे :

---

१ इस पत्र के सिलसिले में भारतवर्षकार जिस नाईक नामक व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हैं वह बाबूजी नाईक बारामतीवाला है। सदाशिवराव भाऊ ने अक्तूबर सन् १७४६ से मई १७४७ तक सावनूर और बहादुरभेण्डा पर आक्रमण किया (काव्येतिहास-संग्रह ; पत्र-सूचियाँ क्र० ६८)। वे उस समय सोन्धे-बिदनूर के पास थे, अतः बालाजी का अनुमान था कि गोवावाले भयभीत होंगे और सावन्त के पुर्तगालियो की शह नहीं रहेगी (पत्र-सूचियाँ आदि क्र. ७७/७८)। उसका यह भी विचार था कि यदि सावनूर का नवाब सोन्धे आये तो सदाशिवराव भाऊ को शह मिलेगी और गोवावालों की शह कच्ची पड़ जायगी। इसी सम्बन्ध में विचार-विनिमय करने के उद्देश्य से बालाजी सातारा आया था। यह पत्र उसी समय लिखा गया था। शाहू ने बालाजी की स्वामिभक्ति की परीक्षा करने के विचार से उसे विदा करने अर्थात् पथभ्रष्ट करने का स्वाँग रचा, ऐसा 'शाहूमहाराज' की बखर में लिखा है; वास्तव में शाहू ने स्वाँग नहीं रचा था जो कुछ किया स्वेच्छा से किया था—यह एकदम स्पष्ट है।

(१) ताराबाई का पोता रामराजा तथा (२) कोल्हापुर का सम्भाजी। बालाजी सन् १७४० ई० में सम्भाजी का समर्थक था पर उसे शाहू पसन्द नहीं करता था। राजाराम के ज्येष्ठ पुत्र शिवाजी का पुत्र रामराजा जीवित है, ऐसा शाहू को पता चल गया था। अतः शाहू का साग्रह विचार था कि रामराजा को गोद लिया जाय। इस समय बालाजी को शाहू ने एक पत्र भेजा था वह नीचे दिया जा रहा है—

"राजमान्य राजश्री बालाजी पण्डित प्रधान के प्रति आज्ञा—

आप सेनाओं पर अधिकार रखिए। आज्ञा की थी; उनके दैव में नहीं है। महाराज रुग्ण हुए है। नहीं; स्वास्थ्य-लाभ नहीं हो पा रहा है। फिर भी आगे वंशज नियुक्त करेंगे। कोल्हापुर का न करें। चिटणीस को आदेश दिया है, तदनुसार करें। जो भी उत्तराधिकारी नियुक्त किया जायगा उसकी आज्ञा मानें। राज-मण्डल जारी रखें। चिटणीस स्वामी के विश्वासपात्र है। उनके विचारानुसार राज्य की रक्षा करें। जो उत्तराधिकारी होगा उसे आ ······न करें। वही सौभाग्यकारी दिवस होगा।"[१]

इस पत्र से यह नही कहा जा सकता कि शाहू बालाजी पर पूरा भरोसा रखता था। रघोजी भोंसले और दाभाड़े को बुलाया गया पर वे नही आ

---

[१] यह पत्र काव्येतिहास-संग्रह में प्रकाशित हुआ था। मैंने विरामचिह्नादि प्रयुक्त कर यहाँ दिया है। मूल पत्र में, नाहीं, वरे होत नाहीं," में नाही के स्थान पर "काही" (हि० : कुछ। आशय . कुछ ठीक नहीं हो पा रहे है—अनु०), वश के स्थान पर' 'वंश" तथा "आ···न करें" के स्थान पर "आप दूर न करें" आदि संशोधन सुझाना चाहता हूँ। काव्येतिहास-संग्रह में मूल पत्र की सही नकल प्रकाशित नहीं की गई। वैसा होता तो "कारण, झाले, वंश" के स्थान पर "मूलांत, जाले, वंस" आदि लिखा पाया जाता। अगली पत्र उपलब्ध होने पर निम्न शंकाओं का निवारण होगा—(१) पत्र शाहू के हस्ताक्षर में है अथवा नहीं। (२) कागज और स्याही से पता चलेगा कि पत्र बनावटी है या असली। (३) मूल पत्र में प्रयुक्त प्रत्येक अक्षर भली-भाँति पढ़ा जा सकेगा। "चिटणीस की बखर" में वर्णित घटनाओं के आधार पर पत्र असली माना जा सकता है; प्रश्न यही है कि यदि बखर-लेखक के पूर्वज के हाथ में शाहू ने चिट्ठी सौंपी है तो वह किस सीमा तक असली हो सकती है।

सके। अतः शाहू को विश्वास हो गया कि "सेनाओं पर अधिकार रखना" उनके भाग्य में नहीं बदा है। उनमें सामर्थ्य होती, बुद्धि होती तो वे महाराज की आज्ञानुसार कब के आ जाते। वे नहीं आये तो (१) सेनाओं का अधिकार बालाजी को देने के अतिरिक्त शाहू कुछ न कर सकता था। बालाजी का रुझान सम्भाजी राजा की ओर था, अतः (२) उसे बिलकुल न आने दिया जाय यह शाहू ने स्पष्ट लिखा है। (३) जो वंशज है उसी को मान्यता दी जाय अर्थात् राजाराम के पुत्र शिवाजी, उसके पुत्र रामराजा को गद्दी पर बिठाया जाय। शाहू की तृतीय आज्ञा यही थी। (४) सरदारों का प्रबन्ध पहले की भाँति किया जाय। यह चौथी आज्ञा थी। सेनाओं पर अधिकार करने की इच्छा से बालाजी ने अपने मन के विरुद्ध शेष आज्ञाओं का पालन किया पर समय आने पर रामराजा तथा सरदारों की अवहेलना भी की; यही नहीं, दस वर्ष तक कोल्हापुर के सम्भाजी राजा से बड़े स्नेह से व्यवहार किया। सन् १७६१ ई० में रामराजा के जीवनकाल में नया छत्रपति गद्दी पर बिठाने का प्रस्ताव रखा (लेखांक २८६)।

काव्येतिहास-संग्रह के पत्र क्र० ३३५ से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि सम्भाजी राजा पर बालाजी की कैसी ममता थी। सन् १७६० ई० के दिसम्बर में सम्भाजी की मृत्यु हुई। उपर्युक्त पत्र सन् १७६१ ई० की नवीं जून को लिखा गया है जिसमें जीजाबाई ने स्पष्टतया लिखा तथा अन्य प्रकार से सूचित किया है कि बालाजी सम्भाजी से स्नेह करता था। बालाजी का द्विविध उद्देश्य यह था कि कोल्हापुर और सातारा की गद्दी मिलाकर एक कर दी जाय और सारी सत्ता अपने हाथ में रखी जाय। एकता की बात शाहू राजा के मस्तिष्क में प्रवेश नहीं कर पाई, इसीलिए उसने बालाजी को आदेश दिया कि "कोल्हापुर का न करे।" बालाजी का अनुमान था कि एकता हो जाती है तो मराठों का एकच्छत्र राज्य स्थापित हो जाता है। शाहू के हठ एवं अज्ञान के कारण बालाजी को कई वर्षों तक मौन धारण करना पड़ा और शाहू की आज्ञाओं को उस समय तो शिरसा पालन करना ही पड़ा। शाहू की आज्ञाओं का पालन करने से बालाजी की प्रचण्ड हानि हुई; दोनों राज्यों की एकता का अवसर तो छूट ही गया; अपनी सत्ता रखने के लिए उसे तीस वर्षों तक अविरत प्रयत्न करना पड़ा सो अलग। रामराजा के गद्दी पर आने से ताराबाई को अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ। सन् १७०० ई० में राजाराम की मृत्यु के बाद इस स्त्री ने तत्कालीन सरदारों के और शाहू के विरुद्ध कार्रवाइयाँ कर सबसे बुराई मोल ली थी। शाहू सन् १७०७ ई० में मुगलों द्वारा मुक्त किया गया;

तब से लेकर सन् १७१२ ई० तक ताराबाई शाहू से लड़ती ही रही। सन् १७३० ई० में शाहू ने ताराबाई को कैद कर सातारा में रखा। सन् १७४६ ई० तक वह कारावद्ध थी। आगे चलकर शाहू ने उसके पोते रामराजा को छत्रपति की गद्दी पर बिठाना निश्चित किया, तभी से उसका महत्व बढ़ा और स्त्री स्वभावानुसार उसने बालाजी से प्रतिद्वन्द्विता की, दादोबा प्रतिनिधि और यमाजी शिवदेव को प्रोत्साहन दिया, बाबूजी नाईक को बढ़ावा दिया; सलाबत-जंग के दीवान रामदासपन्त से राजनीतिपूर्वक व्यवहार किया। यहाँ तक कि रामदासपन्त के भाई को पेशवा बनाने का विचार किया, महादोबा पुरन्दरे को फुसलाया (काव्येतिहास-संग्रह, पत्र तथा सूचियाँ क्र० ३५६); और उसके मार्फत रामचंद्र बाबा सेणवई तथा सदाशिव चिमणाजी और बालाजी के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न कराया। यमाजी को ताराबाई ने सातारा में बुलाया, उमाबाई दाभाड़े को श्रेष्ठता प्रदान की; शिन्दे-होलकर के बीच बुद्धिभेद उपजाने का प्रयत्न किया और रघोजी को मुगलों से सन्धि करने पर उकसाया।

सन् १७५० से सन् १७५३ ई० तक मराठों की राजनीति में यही उथलपुथल होती रही। राजाराम ताराबाई की मुट्ठी में था और उदासीन होकर बालाजी के प्रयत्नों को तटस्थ बना देख रहा था। राजाराम की उदासीनता उद्देश्यपूर्ण नहीं थी; वह स्वभावतः कृतित्वहीन था अतः उदासीनता के अतिरिक्त चारा न था। अन्य लोगों की भाँति बालाजी का भी मत था कि रामराजा [illegible] है। कोई उसके प्रति आदर नहीं रखता था। वोड़ग होने से ताराबाई मन-ही-मन उससे जलती थी; कृतित्वशून्य होने से सरदार लोग उसकी परवाह नहीं करते थे और प्रतिद्वन्द्वी होने के नाते कोल्हापुर वाले उससे ईर्ष्या करते थे। इस प्रकार रामराजा को चाहने वाला कोई न था। शाहूराजा की इच्छापूर्ति के लिए बालाजी उसे पानगाँव से लाया और गद्दी पर बिठाया। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बालाजी मन-ही-मन कोई चाल चलकर [illegible] था फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उसे महत्वपूर्ण स्थान के [illegible] बालाजी ने तीन वर्ष तक रामराजा की राजमुद्रा नहीं चलने दी। प्रमाण के लिए ता० १० जनवरी सन् १७५० ई० के (लेखांक २१), ता० १० अप्रैल सन् १७५१ ई० के (पत्र-सूचियाँ आदि क्र० ३७४) तथा ता० १४ अक्तूबर सन् १७५२ ई० के (पत्र-सूचियाँ आदि क्र० ३९५) पत्रों पर शाहू की राजमुद्रा अंकित है। इससे स्पष्ट होता है कि शाहू की इच्छानुसार बालाजी ने रामराजा को छत्रपति मान लिया था, पर तीन वर्षों तक उसकी राजमुद्रा चलाने में आनाकानी करता रहा।

इससे अनुमान होता है कि वह सम्भाजी को सातारा लाने का प्रयत्न कर रहा था। ऐसा न होता तो रामराजा की *मुख्य रानी क्यों नहीं बनाई गई?* इसी प्रकार विदेशियों से भी कई सनदों में अभिलेख पर सातारा के छत्रपति का उल्लेख सन् १७५० ई० से १७६१ ई० तक कहीं प्राप्त नहीं होता। वहाँ देखिए बालाजी बाजीराव का नाम झलक रहा है (लेखांक १/६५/१२८/१३०/१४५)। सन् १७५३ ई० से सन् १७५४ ई० तक बालाजी ने ताराबाई की कुड़कुड़ाहट बड़ी सफाई से बन्द कर अन्त में रामराजा को कठपुतली की भाँति नचाना प्रारम्भ कर दिया।

ब्राह्मण-पद-पादशाही की सारे भारत में असफलता

सातारा के छत्रपति का महत्त्व समूल नष्ट कर चुकने के पश्चात बालाजी के लिए एक काम और शेष था। वह था कोल्हापुर और सातारा की गद्दी मिलाकर मराठों का एकछत्र राज्य स्थापित करना। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सन् १७४० ई० में कोल्हापुर के सम्भाजी से गुप्त सन्धि की। सन् १७५० ई० में अवसर उपस्थित था पर शाहू के हठ के सामने कुछ भी न किया जा सका। फिर भी कभी-न-कभी अवसर अवश्य मिलेगा, इस विचार से उसने सम्भाजी से पूर्ववत स्नेह अवश्य रखा (का०; पत्र-सूचियाँ आदि क० ३३५) क्योंकि सम्भाजी भी वृद्ध हो चुका था और कहा नहीं जा सकता था कि किस क्षण वह उठ जाएगा। ऐसा होते ही सम्भाजी के उत्तराधिकारी के रूप में रामराजा को कोल्हापुर की गद्दी पर बिठाकर कोल्हापुर और सातारा का एकीकरण करने का विचार बालाजी धारण किये हुए था। परन्तु जिस हठ और अज्ञान का सन् १७४६ ई० में शाहू शिकार हुआ उसी का शिकार सन् १७६० ई० में सम्भाजी हुआ। सम्भाजी ने खानवटकर भोसले-कुल के लड़के को गोद लेना निश्चित किया। सन् १७६२ ई० में जीजाबाई ने उसी लड़के को गोद लिया। सम्भाजी के कार्य से बालाजी को दूसरी बार असफलता मिली। पर बालाजी हताश नहीं हुआ। उसने यहाँ तक विचार किया कि जीजाबाई जिस लड़के को गोद लेना चाहती है उसे रामराजा की गोद में बिठाकर रामराजा को स्वयमेव निवृत्त होने को कहा जाय (लेखांक २८६ तथा चिटणीस की बखर)। खानवटकर भोसले-कुल के लड़के को नया राजा बनाने का उद्देश्य यही हो सकता था कि आगे चलकर किसी एक गद्दी का उत्तराधिकारी न हो तो उत्तराधिकारी-युक्त गद्दी के वंशज को दूसरी गद्दी पर बिठाया जा सके और इस प्रकार दोनों राज्य एक हो जायें। पानीपत के युद्ध के बाद नया राजा

तक जो जो कार्य किया वह एक सुसगत नीति से सम्बन्ध था। महाराष्ट्र-धर्म का प्रसार करना प्रमुख उद्देश्य था। यह नही कि तत्कालीन विचारकों के मन में उद्देश्य का सन्दिग्ध एव अस्पष्ट चित्र रहा हो। महाराष्ट्र-धर्म की कल्पना और उसकी सिद्धि के हित किये गये उपायों का सविवरण लेख तत्कालीन कूटनीतिज्ञो, विचारशील व्यक्तियों के हृदय मे लिखा जा चुका था। हिन्दू धर्म की प्रस्थापना, गौ-ब्राह्मणो की रक्षा, स्वराज्य की स्थापना, मराठो का एकीकरण तथा नेतृत्व—महाराष्ट्र-धर्म के उक्त प्रमुख अंग जिस प्रकार शिवाजी के यौवन-काल मे उसे और उसके अनुयायियों को कार्य-प्रवृत्त कर रहे थे उसी प्रकार वे खर्डी की लड़ाई के बाद नाना फडणीस द्वारा निजाम से की गई सन्धि में निहित हैं। इस सन्धि-पत्र में धर्म, गौ-ब्राह्मण तथा स्वराज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में अनुच्छेद है। अतः सन् १६४६ से सन् १७६६ ई० तक महाराष्ट्र-धर्म का प्रसार हो रहा था और भिन्न-भिन्न जातियाँ मराठों का नेतृत्व कर रही थीं। सबसे पहले स्वराज्य की विशुद्ध कल्पना उदित हुई। उसको मूर्त्त रूप देने के लिए शिवाजी, राजाराम, शाहू और अनुषंग से बालाजी विश्वनाथ ने मराठों का नेतृत्व किया। इन्ही चार महापुरुषो के प्रयत्नों से वह समस्त प्रदेश मराठो के अधिकार मे आया है जिसे "स्वराज्य" कहा गया है। स्वराज्य प्राप्त होने के उपरान्त जब मराठों का वर्धिष्णु पराक्रम स्वराज्यान्तर्गत प्रदेशो मे नही समा पाया तो वह स्वराज्य की सीमाओ के बाहर फैलने लगा। इसी समय सार्वभौमता का विचार अनिवार्यतः करना पड़ा जिसे सबसे पहले बाजीराव ने शाहू के सामने शब्दबद्ध किया। हिन्दू-पद-बादशाही की प्रस्तावना इस प्रकार लिखी गई। वह वस्तुतः लिखी गई बाजीराव द्वारा पर शाहूराजा की अनुमति से लिखी गई, अतः मै उसे हिन्दू-पद-बादशाही कहता हूँ।

शाहू की मृत्यु के बाद—वास्तव मे मृत्यु के पूर्व—सातारा के छत्रपति का तेज फीका पड गया और पेशवा प्रमुख माने जाने लगे। इसी उद्देश्य से मैंने कहा है कि बालाजी बाजीराव के उत्तरार्द्ध से ब्राह्मण-पद बादशाही का प्रारम्भ होता है। ब्राह्मण-पद-बादशाही वस्तुतः हिन्दू-पद-बादशाही ही है। सन् १७५० ई० तक इसी बादशाही की प्रस्तावना भोसले कुल की महिमा से प्रारम्भ होती थी, अब उसमे पेशवाओ को भी स्थान मिला। पहली को भोसले कुल-बादशाही अथवा मराठी-पद-बादशाही और दूसरी को भट-कुल-बादशाही अथवा ब्राह्मण-पद-बादशाही कहा जा सकता है। नाम आप जो चाहे दे सकते हैं, पर वास्तविकता का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है।

मराठे महाराष्ट्र-धर्म तथा महाराष्ट्र-राज्य के प्रसार-आन्दोलन में प्रयत्नशील थे। कालान्तर में कभी महाराष्ट्र के मराठों ने, तो कभी महाराष्ट्र के ब्राह्मणों ने नेतृत्व किया। उद्देश्य दोनों का समान था। दोनों ने मिलकर एक कार्य आरम्भ कर दिया था और दोनों समान रूप से यशापयश स्वीकार करते थे। सन् १६४६ ई० से सन् १६८० ई० तक शिवाजी के नेतृत्व में मराठे उत्तरोत्तर यशस्वी होते गये। सन् १६८१ से सन् १७०७ ई० तक मराठों को औरंगजेब से जूझना पड़ा। शिवाजी के काल में प्राप्त की गई सम्पत्ति और उसके पश्चात् आनेवाली विपत्ति को दोनों ने बाँट लिया। इस मरणप्राय संकट से मुक्त होकर मराठों को पेशवाओं का नेतृत्व स्वीकार कर समुद्रवलयांकित पृथ्वी की सार्वभौमता प्राप्त करने का मुहूर्त सन् १७६० ई० के लगभग मिला, परन्तु सन् १७६१ ई० में अब्दाली से मुठभेड़ हुई और मराठों की ऐसी हार हुई जैसी पहले कभी न हुई थी।

इसी संकट से मुक्त होकर थोड़े ही समय में मराठों ने अपनी पूर्वकालीन सत्ता प्रायः स्थापित की, पर बात जो बिगड़ चुकी थी, बनी नहीं। सदाशिव-राव भाऊ और बालाजी बाजीराव की उत्कट इच्छा थी कि सन् १७३० ई० में सारे हिन्दुस्तान में अर्थात् उत्तर में मुलतान, लाहौर, ठट्टा, भाखड़ा, रुहेलखण्ड, अन्तर्वेद, पूर्व में काशी, प्रयाग, अयोध्या तथा बंगाल, दक्षिण में श्रीरंगपट्टण, तंजौर तथा रामेश्वर और आगे तेलंगाना तथा पूर्वी समुद्र-तट तक सभी प्रदेशों पर मराठों की पताका फहराये। सन् १७६१ ई० के पश्चात् मुलतान लाहौर, ठट्टा, भाखड़ा, प्रयाग, अयोध्या, बंगाल, श्रीरंगपट्टण, रामेश्वर, तेलंगाना तथा पूर्वी समुद्र-तट तक प्रदेश जो गया सो कभी हाथ में नहीं आया। सन् १७६० ई० तक मराठे कदम बढ़ाते हुए चल रहे थे, पर सन् १७६१ ई० में यमुना और तुंगभद्रा के बीच में रुक जाना पड़ा। यही रुकावट पानीपत की पराजय की भयंकरता का आभास कराती है।

१५ | मराठों का ऐतिहासिक कार्य एवं पराजय

स्वधर्मरक्षक स्वराज्य-स्थापना का उद्देश्य

मराठों ने हिन्दुस्तान में क्या कार्य किया ? इस प्रश्न का उत्तर गत अध्याय में दिया जा चुका है। आगामी विवेचन में विस्तृत निर्देश करेंगे। मराठों ने हिन्दुस्तान में प्रमुखतः महाराष्ट्र-धर्म के प्रसार का कार्य किया। उस हिन्दू धर्म का नहीं जिसे समर्थ रामदास ने महाराष्ट्र-धर्म कहा है। महाराष्ट्र-धर्म में स्वराज्य-स्थापना तथा गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालन का भी अन्तर्भाव होता है। हिन्दू धर्म, स्वराज्य तथा गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन करना है तो राष्ट्र में एकता होनी चाहिए और एकता का नेतृत्व करने के लिए कार्यकर्त्ताओं को आगे आना चाहिए। तत्कालीन मराठे ये बातें भली-भाँति समझते थे; इसका यह अर्थ नहीं कि मराठों के अतिरिक्त किसी अन्य भारतीय ने इस पर विचार ही न किया हो। हिन्दू धर्म की स्थापना तथा गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालन की आवश्यकता का विचार सिक्खों और अकबर के काल में या उसमें भी पूर्व बुन्देलों के ध्यान में आ चुका था। इसके प्रमाणार्थ आधार प्रस्तुत किया जा सकता है। पर इतिहास इस तथ्य का साक्षी नहीं कि उक्त कल्पना को मूर्त्त रूप देने के लिए जिस स्फूर्ति, निश्चय, एकता तथा नेतृत्व जैसे गुणों की आवश्यकता होती है वे इन लोगों में थी ही। सौभाग्यवश उन दिनों इन गुणों के अधिकारी मात्र मराठे थे ; इसी कारण स्वराज्य की स्थापना का महान् कार्य उनके हाथों सम्पन्न हुआ और हिन्दू धर्म तथा गौ-ब्राह्मण का प्रतिपालन हुआ।

महाराष्ट्र-धर्म की विशुद्ध कल्पना महाराष्ट्र में सन् १६४६ से १७०७ ई० तक सतत् घर कर चुकी थी। तब तक औरंगजेब ने हिन्दू धर्म, स्वराज्य तथा गौ-ब्राह्मण का बुरी तरह शोषण किया था। पर आगे चलकर वह बन्द हुआ; स्वराज्य की स्थापना की गई और गौ-ब्राह्मण तथा हिन्दू धर्म की दीनता का सदा के लिए अन्त हुआ। सन् १७२० ई० के लगभग महाराष्ट्र में महाराष्ट्र

धर्म की पूर्णरूपेण स्थापना हुई और जहाँ तक महाराष्ट्र का प्रश्न था, वहाँ तक हिन्दू धर्म तथा गो-ब्राह्मणों के लिए किसी प्रकार का खतरा न रहा। सारांश यह कि स्वराज्य-स्थापना ने महाराष्ट्रीय जनता को सुख के दिन दिखलाये; पर अब तक महाराष्ट्र के बाहर निवास करनेवाली जनता सुख में भाग नहीं ले पाई थी। सच देखा जाय तो औरंगजेब के शासन-काल में यवनों का पतन होना प्रारम्भ हो चुका था अतः मराठों की भाँति हिन्दुस्तान के अन्य प्रदेशों के निवासियों को सुसंगठित होकर विद्रोह करना चाहिए था, स्वराज्य स्थापित कर हिन्दू धर्म तथा गौ-ब्राह्मण का पालन करना चाहिए था। परन्तु वह पराक्रम उनके द्वारा नही हो पाया और इसलिए नहीं हो पाया कि स्वराज्य-स्थापना के लिए एकता तथा नेतृत्वादि उदात्त गुणों का उनमें अभाव था। शिवाजी के प्रोत्साहन से बुन्देलखण्ड में छत्रसाल ने कुछ काल तक यवनों के विरुद्ध संघर्ष किया था, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु मराठों की भाँति अड़े रहने की दृढ़ता बुन्देलों में नहीं थी, इसलिए स्वराज्य का बीज बुन्देलखण्ड में महाराष्ट्र की तरह अंकुरित न हो पाया। महाराष्ट्रेतर प्रदेशों की स्थिति इस प्रकार की थी। स्वयं उन प्रदेशों के निवासियों में अपने धर्म की रक्षा और स्वराज्य की स्थापना की सामर्थ्य नहीं थी। यही कारण था कि मराठों ने समस्त भारत को यवनों के चंगुल से मुक्त करके उसे अपने अधिकार में लाने तथा हिन्दू धर्म एवं गौ-ब्राह्मण का प्रतिपालन करने का निश्चय किया था। सन् १७२० ई० के बाद मराठों की सत्ता ने सारे देश में हाथ-पैर फैलाना प्रारम्भ किया, उसका प्रमुख कारण यही था। सन् १६४६ ई० से सन् १७६६ ई० तक लिखे गये किसी सन्धिपत्र को देखिए; प्रायः ऐसा नहीं पाया जाता कि जिसमें स्वराज्य एवं स्वधर्म का उल्लेख न हो।

समर्थ रामदास द्वारा उत्पन्न किया गया स्वधर्म-प्रेम

मराठों की सत्ता सारे भारत में फैली तो उसके मूल में यही विचार कार्य-रत था। इसी विचार से प्रोत्साहित होकर मराठों ने यवनों से सन् १७६० ई० के आसपास सारे भारत को मुक्त कराया। मुक्त किये गये प्रदेश में अपना अधिकार जमाने के लिए जिन उपायों की योजना सन् १७२० से १७६० ई० के बीच होनी चाहिए थी, नहीं हुई। स्वयं महाराष्ट्र में सन् १६४० से १७०७ ई० तक जिन उपायों की योजना की गई उनका उपयोग महाराष्ट्रेतर प्रदेशों में नहीं किया गया। स्वराज्य-स्थापना की कल्पना का उदय महाराष्ट्र के मानस में होते ही उन्होंने कथा, पुराण-वाचन, यात्राएं, मेले आदि संस्थाओं

की सहायता से देश की जनता के हृदय में यवनों के प्रति घृणा तथा स्वदेश के प्रति स्नेह उत्पन्न कराने का प्रयत्न किया। महाराष्ट्र में जनमत तैयार हुआ और एकता का स्वप्न साकार हुआ। सन् १६४६ ई० में शिवाजी ने स्वराज्य का शिलान्यास किया, उस समय एक नयी विपत्ति के बादल मँडराने लगे थे। शिवाजी के सेवक-समुदाय में अर्थात् कूटनीतिज्ञ सहायकों एवं सेनानायकों में एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न होने के चिह्न दिखाई पड़ने लगे और स्वामिहित तथा देशहित की साधना में रुकावटें आने लगीं। (समर्थ का सेवाधर्म : दासबोध)। समर्थ रामदास जैसे महान् सन्त ने आगे बढ़कर स्वामिद्रोह तथा देशद्रोहरूपी रोगों का उत्पादन किया (सेवाधर्म : दासबोध)। समर्थ के दासबोध ने जीवन की इतिकर्तव्यता, स्वामिद्रोह तथा देशद्रोह से होने वाली अपनी हानि आदि विषयों की चर्चा कर "कुचर" सेवकों को ठिकाने पर लाने; "सुचर" सेवकों की भक्ति को दृढ़ करने; जनता को सन्मार्ग पर ले जाने और राजा को नीतिपूर्वक कार्य करने की शिक्षा दी। महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना का जितना श्रेय मराठों की वीरता एवं एकता को देते हैं, उतना ही, अथवा उससे भी अधिक समर्थ रामदास के उपदेशों को देना होगा। राष्ट्र की जनता का मार्ग-दर्शन करने के लिए महात्माओं की सतत् आवश्यकता होती है।

समर्थ रामदास सन् १६८१ ई० में परलोकवासी हुए। पर अगले पच्चीस-तीस वर्षों तक समर्थ का उपदेश महाराष्ट्र-वासियों के कानों में गूँजता रहा। उसी गूँज के नशे में मराठों ने सन् १७२० ई० तक स्वराज्य स्थापित कर दिखाया। आगे बाजीराव बल्लाल तथा बालाजी बाजीराव ने हिन्दू-पद-बादशाही की स्थापना करने के उद्देश्य से प्रायः समस्त देश पादाक्रान्त किया। तत्कालीन नेताओं पर तिहरा उत्तरादायित्व था। शिवाजी तथा रामदास के जीवन-काल में (१) सामान्य जनों की मानसिक तैयारी कराना और (२) सेवकों में ईर्ष्या को न जमने देना इतना ही कार्य था; अब (अ) सातारा के महाराज के सूत्र की रक्षा करना, (आ) राज-मण्डल तथा अन्य सरदारों को मनाना तथा (इ) विजित प्रदेश के निवासियों को अपने अनुकूल बनाना यह वह तिहरा उत्तरदायित्व था जिसका भार बाजीराव बल्लाल तथा बालाजी बाजीराव पर था। पहला भार अर्थात् शाहू महाराज के सूत्र की रक्षा करना, बहुत उत्कृष्ट रीति से वहन किया गया। इस कार्य में धावडशी के भार्गवराम बोवा ने पेशवाओं की बहुत सहायता की। भार्गवराम का शाहू पर अच्छा प्रभाव था, साथ ही बाजीराव बल्लाल और बालाजी बाजीराव के प्रति पुत्रों

जैसा स्नेह था। इसी कारण शाहू को बिना नाराज किये पेशवाओं का काम पूरा करना धावड़शीवाले स्वामी को सम्भव हुआ।

पेशवाओं के प्रति अन्य प्रदेशों में आत्मीयता का अभाव

शाहू महाराज को प्रसन्न करने की भाँति अन्य सरदारों को मनाने और विजित प्रदेशों की जनता को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न पेशवाओं ने किया था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कायगाँववाले वासुदेव दीक्षित टोका तथा काशी में रहकर सलाबतजंग के राज्य में तथा काशी के पण्डितों में पेशवाओं की लोकप्रियता बढ़ाने का प्रयत्न अवश्य कर रहे थे; पर मराठों के प्रगतिशील समाज में एकता उत्पन्न करने के लिए अथक प्रयत्नशील महापुरुषों की आवश्यकता थी। कन्नड़, तेलंग, द्रविड़, गुर्जर, बुन्देलों, अब्राह्मणों, पूर्वी जनों तथा सिक्खों के हृदय में महाराष्ट्र-धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए पेशवाओं ने न संस्थाएँ बनाईं, न महापुरुषों का सहयोग ही लिया। इसी कारण खड्ग की शक्ति पर और कूटनीतिज्ञों की युक्ति पर निर्भर होकर पेशवाओं को अपनी सत्ता स्थिर रखनी पड़ती थी। विजित प्रदेशों में लोग पेशवाओं को मुसलमानों की भाँति विदेशी समझते थे और अन्य शत्रु के आक्रमण करने पर पेशवाओं के चंगुल से मुक्त होने को तैयार रहते थे।

पानीपत के युद्ध ने पहली बार मराठों को दिखला दिया और भयानकता के साथ दिखला दिया कि उनकी सत्ता कितनी अस्थिर है। हिन्दुस्तान का एक-एक व्यक्ति मराठों का विरोध करने लगा। यह सही है कि लोगों के रोष का पता तब तक नहीं चला जब तक पानीपत-युद्ध की अन्तिम लड़ाई नहीं लड़ी जा चुकी थी। यह भी सही है कि सदाशिवराम भाऊ विजय पाता तो कभी पता ही न चल पाता। इसके साथ यह भी सही है कि यह जानते हुए भी कि पराजित होने पर सब लोग उन्हें निगलने के लिए घेर लेंगे, पेशवाओं ने क्रोध-सन्तप्त व्यक्तियों को शान्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। विजित व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर नये मार्ग पर ले जाने का पेशवाओं ने कभी योजनाबद्ध प्रयत्न नहीं किया, यह उनका दोष है, किन्तु इसके अतिरिक्त एक अन्य बड़ा दोष उनमें था जिसकी तुलना में यह दोष तुच्छ प्रतीत होगा। मल्हारराव होलकर, गोविन्दपन्त बुन्देला जैसे कपटी, "कुचर" तथा विश्वासघाती सरदारों को होश में लाने की कोई योजना पेशवाओं ने नहीं बनाई। इन सरदारों की स्वामिभक्ति बनी रहती तो विजित प्रदेशों पर बलपूर्वक शासन

करते हुए वे अपनी सत्ता स्थिर कर पाते। प्रारम्भ मे कदाचित छोटे-मोटे विद्रोह होते; पर वे घर के भेदियों को न कुचलने के कारण अपना नाश होने की अपेक्षा कहीं अधिक स्वागतार्ह होते। इसी सम्बन्ध में रघुनाथराव दादा ने लेखाक २ मे एक मार्मिक वाक्य लिखा है। वह लिखता है—"स्वजन-विरोध तथा परराज्य के कलह का बीज आरम्भ से बोया जा चुका है।" साराश, शिवाजी की भाँति बालाजी बाजीराव तथा सदाशिव चिमणाजी को स्वजन-विरोधी विद्रोह कुचल देना चाहिए था। सरदारो को केवल डरा-धमका कर या मीठे आश्वासन देकर नहीं मनाया जा सकता था। उसके लिए समर्थ रामदास जैसे तटस्थ व्यक्ति की आवश्यकता थी जो समय पड़ने पर सरदारों को फटकार सकता, स्वामिभक्ति की शिक्षा दे पाता और हिन्दू-पद-बादशाही का मार्गदर्शन कर पाता।

सन्देह है कि सन् १७५० से १७६१ ई० के बीच रामदास-जैसे महापुरुषों की चीख-पुकार का कोई उपयोग हो भी पाता अथवा नही। शिवाजी के काल मे रामदास ने एक मर्यादित प्रदेश मे उपदेश देने का कार्य किया, अतः सब लोग उन्हें सुन पाये। महाराष्ट्र-राज्य की सीमाएँ समुद्र छूने लगी थी; मराठों के सरदार भारत के दूर-दूर के प्रदेशों में वर्षों निवास करने लगे थे अतः स्थानीय राग-द्वेष को अधिक महत्व देने लगे थे। दस-दस पाँच-पाँच वर्षों मे कभी अवसर हुआ तो पेशवाओ से उनकी भेंट हो पाती थी। ऐसी स्थिति मे सैकड़ों रामदासों की आवश्यकता थी जो पेशवाओं की ओर से शब्दो की मार देते। महाराष्ट्र-राज्य मे एक भी रामदास दुर्भाग्यवश नही था, सैकडों रामदासो की बात करना ही बेकार है। साराश, स्वीकार करना होगा कि सरदारो की उच्छृंखलता रोकने-योग्य साधनो का पेशवाओं के पास अभाव था। उसी प्रकार विजित जनता के मन जीतने का भी तो कोई साधन नहीं था। सत्रहवी शती की भाँति अठारहवी शती मे कथा-पुराण-वाचन, यात्रा, मेले जारी थे; पर सत्रहवी शती की पुराण-चर्चा की जिन्दादिली समाप्त हो चुकी थी। इस प्रकार सरदारो और सामान्य जनो को अपनी ओर आकर्षित करने-योग्य सामग्री—ग्रन्थ, व्याख्यान आदि—पेशवाओं ने तैयार नही की। इसी कारण हिन्दुस्तान के मराठे सरदार तथा तद्देशीय रियासती जनता तथा शासक पानीपत-युद्ध के पहले और बाद मे मराठो का विरोध करने को उठ खड़े हुए, इसमे तनिक सन्देह नही। ग्रन्थो, धार्मिक व्याख्यानो, साधु-सन्तो और यात्रा-मेलों का जनता के मनों को सुसंस्कृत बनाने के लिए कितना और कैसा उपयोग किया जा सकता है, इसका जैसा मार्मिक ज्ञान शिवाजी को था वैसा बालाजी

बाजीराव और सदाशिव चिमणाजी को नहीं था। शिवाजी और बालाजी में यही सबसे बड़ा अन्तर था। साम्राज्य प्राप्त करने के लिए तोपें और सैनिक चाहिए, साम्राज्य टिका रखने के लिए व्याख्यात तथा विचारक महापुरुष चाहिए।

असफलता का कारण : पिछड़ी हुई संस्कृति

उपर्युक्त तत्व पेशवाओं के ध्यान में क्यों नहीं आया, इसकी खोज करने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। यदि विचार करें कि उस समय महाराष्ट्र में शिक्षा तथा विद्याध्ययन की क्या स्थिति थी, तो अनुमान किया जा सकता है। स्थूलतः तीन विभाग किये जा सकते हैं : (१) वैदिक, (२) शास्त्रीय (३) व्यावहारिक।

वैदिक ब्राह्मण दश ग्रन्थों का पठन करते थे; षट्शास्त्रों का जिम्मा शास्त्री-पण्डितों ने लिया था; ब्राह्मण-वैश्यादि अन्य लोग वही ज्ञान-सम्पादन करते जो उनके व्यवहार में आता था। वैदिक तथा शास्त्री-पण्डितों को राजाश्रय प्राप्त था तथा व्यावहारिक शिक्षा की पाठशालाओं के शिक्षकों को लोकाश्रय प्राप्त था। व्यावहारिक शिक्षा में खुश-खत, सम्रार चोपड़ी, बराबर्दी गणित, मराठों और मुसलमानों की बखर तथा तवारीख, विक्रमबत्तीसी, बेतालपच्चीसी, शुकबहत्तरी, लटकचालीसा, महाभारत, भागवत एवं रामायण आदि "इतिहास ग्रन्थों" के आख्यानों के मराठी अनुवाद, रामरक्षादि स्तोत्र, जमा-खर्च का हिसाब, भूमापन, पत्र-लेखन के नमूने, मराठी-कविता आदि का अन्तर्भाव होता था। पुरुषों की भाँति उच्चकुल की स्त्रियाँ पढ़-लिख लेती थीं। व्यावहारिक शिक्षा बहुधा सभी ब्राह्मण, वैश्य तथा उच्चकुल के मराठे पाते थे। गृहस्थ, ब्राह्मण एवं मराठों के व्यवसायानुसार तीन श्रेणियाँ की जा सकती हैं : (१) अपनी खेती करनेवाले, (२) कारकुन की नौकरी करनेवाले, (३) सेना में काम करनेवाले। तीनों प्रकार के शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों को व्यवहार-शिक्षा के अतिरिक्त यदि अधिक ज्ञान प्राप्त हो पाता था तो वह केवल अनुभव पर आधारित था। कारकुनों और सैनिकों को भारत के भूगोल का केवल उतना ही ज्ञान था जितना वे स्वयं घूम चुके थे; अन्य देशों के भूगोल की बात करना ही बेकार है। निपाणी के पास भोज के कुलकर्णी के यहाँ मुझे अठारहवीं शती में तैयार किया गया पृथ्वी का एक मानचित्र मिला है। उसमें सप्त-समुद्रात्मक पृथ्वी को शेष नाग मस्तक पर धारण किए हुए है; चीन, इंगलैण्ड, रावण की लंका आदि देशों की स्थूल दिशाएँ सही-सही दिखलाई गई हैं।

हिन्दुस्तान चतुष्कोणाकृति बनाया गया है; तासगांव[1] हिन्दुस्तान के मध्य में बनाया गया है। सामान्य जनों के भूगोल-ज्ञान का वह उत्कृष्ट उदाहरण है।

स्वयं पेशवा और उसके सरदारों का भूगोल-ज्ञान सामान्य जनों में कहीं अधिक विस्तृत तथा व्यवस्थित था। फिरंगी, फ्रांसीसी, डच, डिंगमार (डेन), आपलन्दोर, दुर्रानी, तुरानी, अरब, गिलचा, हब्शी, श्यामल, तुर्क, यवन, ईरानी, सिद्दी, अंग्रेज मोरस, अफ्रीकी आदि अठारह टोपीवालों के देश तथा हिन्दुस्तान के राजाओं के छप्पन देश पेशवा तथा उनके निकटस्थ व्यक्तियों को अनेक नामों से और अपने अनुभव के आधार पर ज्ञात थे। देश-देश के दूत पेशवा के दरबार में ठाठ-बाट से रहते थे। (काव्येतिहास-संग्रह; पत्र तथा सूचियाँ इ०, क्र० १३४)। सम्भव है पेशवा उनसे अपने देश की जानकारी लेते रहे हों। पेशवाओं के पास भारत के विभिन्न प्रदेशों के मानचित्र भी थे। युद्धों के बाद सन्धियाँ होती थी इसलिए मानचित्रों की आवश्यकता होती थी, यह बात सर्वश्रुत है। महाराष्ट्र में बखर लिखने-पढ़ने का बहुत प्रचार रहा है इसलिए कहा जा सकता है कि मराठों तथा यवनों के इतिहास का ज्ञान महाराष्ट्र में प्रायः सर्वत्र था। पानीपत की बखर के लेखक रघुनाथ यादव ने पृष्ठ १६ पर स्वयं अब्दाली के मुख से कहलवाया है कि मराठों की सर्वव्यापिनी सत्ता का किस प्रकार प्रसार हुआ और मराठे सारे हिन्दुस्तान को हिन्दूमय बना देने की उत्कट इच्छा कर रहे थे। इससे प्रतीत होता है कि रघुनाथ यादव को इतिहास-भूगोल का अधकचरा ज्ञान नहीं था। रूमो-शाम अर्थात् कस्तुन्तुनिया में सन् १७३० से १७५४ ई० तक शासन करनेवाले सुल्तान महमूद का नाम रघुनाथ यादव जानता था (रघुनाथ यादव कृत "पानीपत की बखर"; पृ० १६ टिप्पणी)। इसमें सन्देह नहीं कि बालाजी बाजीराव तथा सदाशिव चिमणाजी को भूगोल और इतिहास की कामचलाऊ जानकारी थी; परन्तु यूरोप के तत्कालीन दरबारों में अर्थात् पन्द्रहवें लुई, फ्रेडरिक महान्, द्वितीय जॉर्ज आदि के दरबारों तथा राज्यों में इतिहास-भूगोल का जो ज्ञान लोगों को था उसकी तुलना में हमारे पेशवाओं के दरबार का ज्ञान एकदम क्षुद्र था। कपिल, कणाद आदि पुराणकालीन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रणीत शास्त्रों के अतिरिक्त यूरोप में भली भाँति ज्ञात अन्य शास्त्रों के बारे में हमारे यहाँ के विद्वानों ने सुना तक न था। पाठशालाएँ, विद्यापीठ, विद्वत्सभाएँ, अजायबघर, वाद-विवाद

[1] जो वर्तमान बम्बई राज्य के एक जिले दक्षिण सातारा में है और बम्बई नगर में लगभग २८० (रेलवे) मील है—अनु०।

सभाएँ, संशोधन-संस्थाएँ, पृथ्वी पर्यटन-विद्यासभाएँ आदि पेशवाओं के राज्य में कभी नहीं रहीं, यही नहीं, वे यह भी नहीं जानते थे कि उनका अन्यत्र अस्तित्व है भी अथवा नहीं। सारांश में, अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में मराठों की संस्कृति यूरोप के उन्नत राष्ट्रों की संस्कृति से हीन कोटि की थी। किन बातों में हीन थी, इसका अंशत विवरण ऊपर दे चुके हैं। यहाँ एक-दो प्रमुख बातों का उल्लेख किया गया है।

मराठों एवं यूरोपीयों की संस्कृति की तुलना

अठारहवीं शताब्दी के पश्चिमी यूरोप की संस्कृति से महाराष्ट्रीय संस्कृति की तुलना करें तो सैकड़ों भेद दृष्टि में आते हैं, उनमें से कुछ भेदों का उल्लेख कर रहे हैं।

(१) मराठों को मुद्रण-कला का ज्ञान नहीं था और न उन्होंने उसे प्राप्त करने का कोई प्रयत्न ही किया। ता० ११ मई १४९८ ई० को वास्कोदिगामा ने हिन्दुस्तान का पता लगाया। तब से लेकर सन् १७६० ई० तक फिरंगियों और मराठों में कई स्थानों में मुठभेड़ हुई। गोमन्तक (गोवा), सावन्तवाड़ी, वसई (हि० : बसीन—शुद्ध रूप "वसई" है—अनु०), कोची, दाभुल, दीव, दमण आदि स्थानों पर मराठों ने फिरंगियों से दो-दो हाथ किये। वलन्देज (डच) तथा डिंगमार (डेन) आदि मराठों से परिचित थे। भुसाबुसी आदि फ्रेंच लोगों से मराठे कई बार लड़ चुके थे। बम्बई, सूरत, बाणकोट, विजयदुर्ग, राजापुरी, दाभोल में अंग्रेजों को देखा जा चुका था। बम्बई के परभू, शेणवई, पारसी, भाटे तथा वालुकेश्वर के छबे, भातखण्डे आदि ब्राह्मण पुजारियों और बैरागियों का अंग्रेजों से सतत सम्बन्ध रहा है। इनमें से कितने ही लोग अंग्रेजी पढ़-लिख बोल सकते थे। निस्सन्देह उन लोगों ने मुद्रित पुस्तकें अवश्य देखी होंगी। आज भी नाना फड़णीस के कागज-पत्रों में मुद्रित अंग्रेजी मानचित्र हैं। मोरोबादादा[1] की पुस्तकों की सूची में पता चलता है कि उनके पास एक अंग्रेजी पुस्तक थी। आश्चर्य की बात है कि यूरोप के सारे देशों के लोग पेशवाओं के द्वार पर खड़े थे, फिर भी पेशवाओं ने मुद्रण-कला के बारे में कुछ भी ग्रहण क्यों नहीं किया? मराठों के फैलते साम्राज्य में उचित विचारों तथा कल्पनाओं का प्रचार करने के लिए इसी कला का आश्रय लेना चाहिए था। घोरपड़े, शिन्दे, होलकर,

---

[1] नाना फड़णीस का चचेरा भाई (१७४०—१८०३ ई०)—अनु०।

भोसले, कोल्हापुरकर, सावन्त, आंग्रे आदि सरदारों के यहाँ फिरंगी, "फरांसिस" और अंग्रेजी लोग पेशवाई के अन्त तक और उसके बाद भी नौकर थे; फिर भी यदि मराठों ने उस कला मे प्रवीणता प्राप्त नही की तो निर्विवाद कहना होगा कि उनकी ग्रहण-शक्ति अत्यन्त क्षीण थी।

(२) जो लोग मुद्रण-कला जैसी उपयोगी कला की ओर ध्यान नही दे पाये उनका इतिहास-भूगोल विषयक ज्ञान क्षुद्र हो तो कोई आश्चर्य नही।

(३) जिन वस्तुओ की मराठों को प्रत्येक क्षण आवश्यकता थी उन्हे या उनमे से कुछ वस्तुओं को पाने या अपने यहाँ तैयार करने की मराठो ने न इच्छा की, न प्रयत्न किया। धुलप और आंग्रे सरदारों को लोहचुम्बक तथा जहाज बनानेवाले कारखानो की बराबर जरूरत रही। दोनों वस्तुएँ अंग्रेजों के जहाजों और बम्बई मे देखी जा चुकी थी। पर दुख के साथ कहना पड़ता है कि उन्हे स्वय तैयार करने की उत्कट इच्छा न सरदारों को हुई, न पूना के कूटनीतिज्ञों को हुई। इन बातो मे मराठे हमेशा पीछे रहे।

१६ | मराठा राज्य का विकास

मराठों की तत्कालीन राजनीति के दो रूप थे। अन्तस्थ व्यवस्था का प्रबन्ध तथा सारे भरतखण्ड में हिन्दू-पद-बादशाही की स्थापना। प्रथम रूप का विकास देखना अत्यन्त मनोरंजक होगा।

शाहजी की पूर्वायु में एक छोटी-सी जागीर को शिवाजी ने, सन् १६४६ ई० में बीजापुर की बादशाहत से अलग कर स्वतन्त्र राज्य की श्रेणी में ला बिठाया। बीजापुर के आधिपत्य से मुक्त होकर वह मावल प्रदेशीय टुकड़ा धीरे-धीरे फैलता गया और सन् १६७४ ई० में उसने सह्याद्रि के पश्चिम में बागलाण से फोण्डा तक बीस से तीस मील के बीच का प्रदेश प्रसारित कर लिया। इसी प्रकार को "स्वराज्य-स्थापना" कहा जाता है। उस समय राज्य के दो अंग थे---राजा तथा अष्टप्रधान। शिवाजी का महाराष्ट्र वंश-परम्परागत तथा अष्टप्रधानात्मक एकसत्तात्मक राज्य था। शिवाजी के बाद सत्ताईस वर्षों में शाहू के छत्रपति बनने पर एकसत्तात्मक राज्य में माण्डलिक अथवा सरंजामी सरदार उत्पन्न हुए। बालाजी विश्वनाथ के शासन-काल में नियम बनाया गया कि सरंजामी सरदार अपने-अपने प्रदेश की फौजी, गैर-फौजी तथा दीवानी व्यवस्था करते हुए छत्रपति को नज़राना दें। यहाँ सरंजामी सरदारों का वर्ग तैयार हुआ, उधर शिवाजी के स्वराज्य के बाहर मराठों की सत्ता फैलने लगी।

औरंगज़ेब की मृत्यु के समय स्वतन्त्रता-युद्ध का निर्णय मराठों के अनुकूल हुआ और मराठों की शक्ति स्वराज्य में समा न पाने के कारण बाहर हाथ-पाँव फैलाने लगी। मुगलों की पराजय के साथ मराठों की प्रगति होना पराकाष्ठा का प्रयत्न कर स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रों को प्राप्त वरदान की भाँति है। मुगलों के प्रदेशों में मराठों की प्रगति विचित्र रूप में हुई। राजाराम महाराज के जिंजी-निवास तथा उनकी मृत्यु के पश्चात् खण्डेराव दाभाड़े, कण्ठाजी कदम बाण्डे, कान्होजी भोसले, चिमणाजी दामोदर, कान्होजी आंग्रे आदि सभी सरदार मुगलों के प्रदेशों के तथा मुगलों द्वारा जीते गये स्वराज्या-

न्तर्गत प्रदेशों के स्वतन्त्र शासक थे। गद्दी पर बैठते समय और उसके बाद भी अपने दल को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से शाहू ने प्राय: सभी सरदारों को सरंजामी बनाने पर स्वराज्य के अष्टप्रधानों तथा अन्य सेनानायकों को भी सरंजामी सरदार बनाना अनिवार्य हो गया। स्वराज्य के विश्वासघाती जाधव, निम्बालकर आदि को निजामुल्मुल्क ने सरंजामी सरदार बनाया था। अत: उसी कोटि का लालच अपने सरदारों को दिखाने के अतिरिक्त शाहू कर ही क्या सकता था? सरदारों को सरंजामी बनाकर अष्टप्रधानों की छाती पर मूँग दलने के लिए शाहू ने एक प्रधान अथवा पेशवा की नियुक्ति भी की।

यहीं से पेशवा की प्रमुखता और अष्टप्रधानों की गौणता आरम्भ होती है। शाहू ने पेशवा को इसलिए प्रमुख बनाया कि अष्टप्रधानों में ताराबाई से सहानुभूति रखने वाले सरदार थे। इस प्रकार मराठों की शासन-पद्धति में सरंजामी सरदार-शाही ने प्रवेश किया और धीरे-धीरे अष्टप्रधान-पद्धति को निकाल कर बाहर किया गया। बालाजी विश्वनाथ के जीवन-काल में प्रचलित शासन-पद्धति को *वंश-परम्परागत, एक प्रधानघटित, माण्डलिक संस्थोपवर्ती,* संयुक्त सैनिक एकसत्तात्मक शासन-पद्धति कह सकते हैं। सारांश, शाहू तथा बालाजी विश्वनाथ के युग में महाराष्ट्र राज्य-पद्धति संयुक्त साम्राज्य का रूप धारण करती जा रही थी। सच कहें तो धारण कर चुकी थी। महाराष्ट्र का संयुक्त साम्राज्य किसी आधुनिक राष्ट्र के संयुक्त साम्राज्य के समान था। इंगलैण्ड तथा इंगलैण्ड के उपनिवेशों का जिस प्रकार एकीकरण होता हुआ आज हम देखते हैं वही महाराष्ट्र तथा महाराष्ट्र के बाहर के सरंजामी सरदारों की रियासतों के बीच होता जा रहा था। भेद इतना ही था कि इंगलैण्ड में जहाँ एक सत्ता *प्रतिनिधि-निक्षिप्त, बहुप्रधान-घटित तथा वंश-परम्परागत* है वहाँ तत्कालीन महाराष्ट्र में एकप्रधान-घटित अथवा प्रमुख प्रधान-घटित वंश-परम्परायुक्त सत्ता थी। संयुक्त राज्य, कनाडा, ट्रांसवाल आदि ने जिस प्रकार इंगलैण्ड के विरुद्ध कार्रवाइयाँ कीं उसी प्रकार आंग्रे, दाभाड़े आदि सरदारों ने महाराष्ट्र के विरुद्ध की हैं। जिस प्रकार आज के ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ उपनिवेशी राज्यों का गठबन्धन इंगलैण्ड से कर देना चाहते हैं उसी प्रकार शाहू और बालाजी विश्वनाथ ने नये सरदारों का अपने से गठबन्धन कर लिया। सरदारों की रियासतों और विजित प्रदेशों की सरदेशमुखी, "बाबती"[१], "साहोत्रा"[२]

---

१ विशेष वस्तु पर लगाया गया कर—अनु०।
२ एक-षष्ठमांश लाभ प्राप्त करने का अधिकार—अनु०।

आदि का सरदारों और छत्रपति के बीच विभाजन कुछ इस प्रकार किया गया कि सरदार सतत प्रमुख सत्ता का स्पर्श अनुभव करते रहें और उनकी प्रत्येक गतिविधि पर प्रमुख सत्ता की तीक्ष्ण दृष्टि रह सके। बालाजी विश्वनाथ द्वारा आविष्कृत इसी पद्धति को ग्राण्ट डफ् "ब्राह्मणों की मक्कारी" कहकर उस पर दोषारोपण करता है (डफ् : अध्याय १२)। जब कोई राष्ट्र संयुक्त-सम्थान की स्थिति में पहुंच जाता है तो संयोगान्तर्गत संस्थानों को प्रमुख सत्ता में एकीकृत करना कितना लाभदायक तथा अनिवार्य होता है इसका ग्राण्ट डफ् को कोई अनुभव नहीं था इसलिए वह कूटनीतिपूर्ण नियम को "ब्राह्मणों की मक्कारी" कहकर बदनाम करता है; संयुक्त साम्राज्य का भार वहन करने वाले ग्राण्ट डफ् के नाती-पोतों को बालाजी विश्वनाथ का चातुर्य निस्सन्देह प्रशंसनीय प्रतीत होगा। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानाडे महोदय ने बालाजी विश्वनाथ की सरंजामशाही का गुणगान श्रेष्ठ शब्दों में किया है। तत्कालीन परिस्थिति का अवलोकन करने से उसका औचित्य और भी स्पष्ट हो जाता है। रानाडे महोदय का कथन था कि हिन्दुस्तान के ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने शिवाजी द्वारा रचित अष्टप्रधान-घटित शासन-पद्धति का अनुकरण किया है। मराठों के साम्राज्य के हितार्थ बालाजी विश्वनाथ ने जिस सरंजामी शासन-पद्धति का आविष्कार किया वह ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों की ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशों का गठबन्धन करने की योजना से भिन्न नहीं है।

बालाजी विश्वनाथ की सरंजामशाही के कुछ सिद्धान्त इस प्रकार थे —

(१) अपने अधिकारान्तर्गत प्रदेशों में प्रत्येक सरदार फौजी और गैर-फौजी अधिकार चलायेगा।

(२) प्रदेशों की वार्षिक आमदनी का हिसाब सरकार के सरदारों से प्रमाणित कर सरकार-दाखिल करेगा।

(३) छत्रपति के आदेशानुसार सरदार युद्ध के लिए प्रस्थान करेगा।

(४) सरकार की अनुमति के अभाव में विदेशियों से सन्धि नहीं करेगा।

(५) निश्चित किया गया कर (राजस्व) प्रतिवर्ष सरकार को देगा।

(६) सरंजामी सरदारी वंश-परम्परागत नहीं है। सरकार चाहे जिसे सरंजामी सरदार नियुक्त करेगी।

(७) छत्रपति-द्वारा पुरस्कृत उपाधियों का उपयोग करेगा।

(८) प्रजा से वसूल किए गये कर की रकम में से राज्य के लिए रकम निकालेगा।

(९) वसूली की मदे सरकार देश-देश (क्षेत्र-क्षेत्र—अनु०) की विशेषता के आधार पर निश्चित करेगा।

(१०) आने-जाने वाले माल पर महसूल वसूल करेगा।

इसी पद्धति के आधार पर बालाजी विश्वनाथ के शासन-काल में दाभाडे, आंग्रे, बाण्डे, भोसले आदि सरदारों से इकरार किया गया था। अनुच्छेदों के विरुद्ध कार्य करने वाले सरदार को दण्ड देना छत्रपति का अधिकार था।

महाराष्ट्र के सिंहासन पर शाहू के विराजमान होने से जिस प्रकार सरंजामशाही का प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार औरंगजेब की मृत्यु से मराठों की संयुक्त सत्ता की अथवा मराठा साम्राज्य की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। औरंगजेब तथा उसकी फौजों की पराजय के पश्चात् उसके साम्राज्य का मराठों ने किस प्रकार उपयोग किया, इसका इतिहास कम मनोरंजक नहीं है। सन् १७०७ ई० में दिल्ली के बादशाह के माण्डलिक के रूप में शाहू ने महाराष्ट्र-प्रवेश किया उसके पूर्व जाधव, दाभाड़े, आंग्रे, भोसले आदि सरदारों ने औरंगजेब के साम्राज्य के निकटस्थ बरार, खानदेश, गुजरात, कोंकण, मिरज आदि प्रदेशों पर अधिकार जमाकर चौथ और सरदेशमुखी वसूल करना प्रारम्भ कर दिया था। शिवाजी के स्वराज्य के बाहर स्थित मुगल-प्रदेशों पर अधिकार करना मराठों के साम्राज्य का स्वराज्य के बाहर प्रसार करना था। स्वराज्य के बाहर बहादुरी से जीने वाले सरदारों को अपनी ओर आकर्षित कर मराठों का साम्राज्य फैलाने का व्रत शाहू ने लिया था। पर लिया अत्यन्त चातुर्य से। सन् १७१८ ई० में सैयद-बन्धुओं की सहायता करने के लिए बालाजी विश्वनाथ दिल्ली गया तब शाहू ने सैयद-बन्धुओं से स्वीकार करा लिया कि बादशाह दक्षिण के छह सूबों की सनद के साथ खानदेश, बरार, गुजरात, कोंकण और बीजापुर प्रदेशों का वह भाग जो मराठों द्वारा जीत लिया गया था, भेंट में देंगे। निजामुलमुल्क को दुर्बल बनाने के उद्देश्य से सैयदों ने मराठों की शर्तें मंजूर करने में लाभ देखा; क्योंकि ऐसा करने पर सैयदों का विश्वास था कि गुजरात, बरार, बंगाल, मालवा, औरंगाबाद, बीजापुर, कोंकण—आशय यह कि जहाँ-जहाँ सैयदों के शत्रु होंगे वहाँ उन्हें मराठे बिना कुचले न छोड़ेंगे। इधर मराठों को भी खुलेआम यह कहने का अधिकार मिल गया कि हम दिल्ली के बादशाह के हुक्म से ही तत्प्रान्तीय मुसलमान

सूबेदारों से युद्ध कर रहे हैं। स्वयं दिल्ली के बादशाह द्वारा नियुक्त मुसलमान-सरदार अपने-आप दिल्लीपति के शत्रु घोषित हुए और मराठे आज्ञाधारक सेवक कहलाये। निजामुल्मुल्क से, सरबुलन्दखाँ से जंजीरावालों से, दया बहादुर आदि सूबेदारों से मराठों ने जो युद्ध किया वह दिल्लीपति के सेवक बनकर किया। सारांश, मराठों का साम्राज्य दिल्लीपति की सेवा करते-करते फैलता गया।

१७ | मराठाशाही का संस्थापक : शाहजी

जयराम[१] का कथन है कि वह स्वराज्य की स्थापना कर स्वधर्म, स्वदेश, स्वभाषा तथा स्वजनों का लालन-पालन-संरक्षण में ही अपने जीवन की सफलता मानता था। आज तक कहा जाता था कि स्वराज्य, स्वधर्म, स्वभाषा आदि की रक्षा करने का विचार सर्वप्रथम शिवाजी के काल में उत्पन्न हुआ। आज तक माना जाता था कि बादशाह की नौकरी और चाकरी करके रोटी कमाने के अतिरिक्त शाहजी ने कुछ नहीं किया। आज तक समझा जाता था कि संस्कृत-प्राकृत भाषाओं को शिवाजी ने प्रथमाश्रय दिया। आज तक यह भी विश्वास था कि मराठों की प्रसुप्त मानवता को शिवाजी ने सबसे पहले जाग्रत किया—पर ये कल्पनाएँ जयराम की प्रत्यक्ष साक्षी के तथा कालानुक्रमिक राजनीतिक चरित्रों के सामने टिकनेवाली नहीं हैं। स्वराज्य-स्थापना का स्वप्न—चाहे वह धुँधला हो और अल्प हो—सबसे पहले जिसने देखा वह व्यक्ति था शाहजी भोसले।

स्वराज्य-स्थापना के अनेक प्रयत्न

स्वतन्त्र स्वराज्य-स्थापना का प्रकट प्रयत्न शाहजी ने श० स० १५५१ (सन् १६२९ ई०) में लोदी-विद्रोह के समय किया था; परन्तु शाहजहाँ और आदिलशाह के संयुक्त प्रतिरोध के सम्मुख वह चिरजीवी न बन पाया। इसके पश्चात् दूसरा प्रयत्न श० स० १५५५ (सन् १६३३ ई०) में निजामशाही पुनरुज्जीवित कर तथा स्वयं उसकी पेशवाई कर विशेष विपरीत स्थिति न दिखलाते हुए राजनीतिक घटनाओं के प्रवाह में स्वयं राज-सिंहासन पर अधिकार करने में निहित था। वह प्रयत्न भी शाहजहाँ के प्रबल विरोध और

---

[१] सन् १५९९-१६७२ ई० कृष्णाप्पास्वामी के शिष्य। अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों के रचयिता—अनु०।

मुहम्मद आदिलशाह की नम्रता के कारण सफल न हो पाया। स्वराज्य-स्थापना का दूसरा प्रयत्न भी असफल होने के बाद शाहजी ने दस वर्षों तक कड़ी मेहनत की, जोड-तोड की और कर्नाटक में स्वराज्य की स्थापना कर दिखलाई। इस बार न शाहजहाँ जैसे प्रबल शत्रु का प्रतिबन्ध था न शिवाजी-सम्भाजी के शस्त्रप्रहारों से क्षीण बने आदिलशाह में प्रतिकार करने की शक्ति थी। किन्तु कर्नाटक के स्वराज्य एवं भीमगढ के स्वराज्य में बहुत अन्तर था। कर्नाटक का स्वराज्य बाह्य कर्नाटक-वासियों पर बाह्य मराठों का शासन था और भीमगढ़ का स्वराज्य मराठों का स्वजन मराठों पर शासन था। कर्नाटक के स्वराज्य का कलंक यही था। पर परिस्थितियों के सामने किया ही क्या जा सकता है ? शाहजी के कन्नड़-स्वराज्य की एक विशेषता यह थी कि वह आदिलशाही से टूटकर, संघर्ष कर विभक्त नहीं हुआ था। वह स्वतन्त्र भी था, परतन्त्र भी था, पर शाहजी परिस्थितियों पर विजय पाने की इच्छा रखता था और तत्कालीन परिस्थितियाँ इससे अधिक श्रेष्ठ फल देने को राजी नहीं थीं। यह और बात थी कि धीरे-धीरे अपने आप वांछित फल मिल जाता। आगे चलकर वही हुआ। राज्याक्रमण के उक्त दोनों प्रकार यद्यपि अल्प संघर्ष की अपेक्षा करते हैं फिर भी कर्त्ता को गौण बनाकर कठिनाइयाँ उपस्थित करने में नहीं चूकते। निर्बल राजा की पेशवाई या सेनानायकत्व और स्वामिद्रोह का आरोप किया जा सकता है और उन्हें चुपचाप सहना पड़ता है। मूल स्वामी का माण्डलिकत्व स्वीकार कर अवसर पड़ने पर विद्रोह कर स्वराज्य-स्थापना करना स्वामिद्रोह के अन्तर्गत ही आता है। कर्नाटक में स्वराज्य-स्थापना करने पर किस कलंक को धारण करना पड़ेगा इसका शाहजी को पूरा-पूरा पता था।

शिवाजी की सफलता में शाहजी का अंश

इसी उद्देश्य से कि विश्वासघात का जरा-सा धब्बा भी न लग पाये, चौथी बार शाहजी ने स्वयं बंगलौर में रह कर दादाजी कोण्डदेव, जीजाबाई तथा शिवाजी के द्वारा पूना प्रदेश में स्वराज्य-स्थापना का प्रयत्न कराया। आदिलशाही और मुगलशाही से अलग रहकर यह प्रयोग जान-बूझकर कराया गया। इसलिए कराया गया कि स्वामिद्रोह अथवा कपट का आरोप प्रतिद्वन्द्वियों को न करते बने। पूना प्रदेश का स्वराज्य स्वजनों का स्वजनों के हितार्थ होने से चिरजीवी, ठोस तथा मनमोहक एवं आदरणीय बना। पर चौथी बार किये गये प्रयत्न का सारा श्रेय शिवाजी को मिला। मूल-

विचार तथा योजना शाहजी की थी अतः शाहजी को भी इसका श्रेय देना अनिवार्य है। पिंगले अत्रे, दादाजी, पानसम्बल, रोझेकर जेधे, बान्दल आदि सरदार शाहजी के थे, जागीर शाहजी की थी; तोपें हाथी-घोड़े, एक-एक दुर्ग पर और अन्य स्थानों पर एकत्र की गई युद्धोपयोगी 'सामग्री शाहजी की थी। उसी की नींव पर शिवाजी ने स्वराज्य के प्रासाद का निर्माण किया। शिवाजी की वह स्थिति थोड़े ही थी कि आसमान से टपके और लगे दौड़ने। शिवाजी सर्वप्रथम अपने पिता के कन्धे पर बैठे और फिर उच्च सिंहासन पर आसीन हुआ। निम्बालकर, मोहिते, जाधव, महाडीक, गायकवाड़ आदि उच्च मराठी कुलों से शाहजी का वंश-परम्परागत सम्बन्ध था, इसी कारण शिवाजी को छियानवे-कुल[1] के विख्यात मराठा सरदारों का सहयोग प्राप्त हुआ। तात्पर्य, दरबारी कूटनीतिज्ञों, फौजी सरदारों, युद्ध-सामग्री तथा छियानवे-कुल के जेधे आदि सरदारों की सहायता और शाहजी के नाम का बड़प्पन और नेतृत्व शिवाजी ने शाहजी से विरासत में पाया। इसके अतिरिक्त समय-समय पर कठिनाई पड़ने पर शिवाजी को शाहजी से सहायता मिलती रही थी सो अलग। शक-सम्वत् १५८३ (सन् १६६१ ई०) में शिवाजी और आदिलशाह की सन्धि का श्रेय स्वयं शाहजी को देना होगा। इस विवेचन का सारांश यह है कि स्वराज्य-स्थापना की सरस्वती शाहजी के प्रारम्भ-काल से लेकर अन्त तक उसके जीवन में शक-सम्वत् १५५१ (सन् १६२९ ई०) से शक-सम्वत् १५८३ (सन् १६६१ ई०) तक बराबर प्रवाहित होती रही। शक-सम्वत् १५५१ (सन् १६२९ ई०) का स्वराज्य-स्थापना का प्रकट प्रयत्न बारह महीनों में ठण्डा पड़ गया। शक-सम्वत् १५५५ (सन् १६३३ ई०) का दूसरा प्रच्छन्न प्रयत्न शाहजहाँ द्वारा विफल कर दिया गया। शक-सम्वत् १५७० (सन् १६४८ ई०) का कर्नाटक में माण्डलिक राज्य-स्थापना का तृतीय प्रयत्न अधिकांश में सफल रहा, परन्तु शिवाजी द्वारा प्रारम्भ किये गये शक-सम्वत् १५७२ (सन् १६५० ई०) के पूना के आसपास स्वतन्त्र स्वराज्य-स्थापना के प्रयत्न में कल्पनातीत सफलता मिली।

दल, सेना तथा अस्त्र-शस्त्रों का एकत्रीकरण : तत्वमीमांसा

उद्देश्य तथा सिद्धि का विवेचन कर चुकने के बाद शाहजी द्वारा सम्पन्न उन साधनों के निर्माण तथा रक्षा पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा जिनके चक्रों पर उद्देश्य तथा सिद्धि का रथ आगे बढ़ता है और जिनके अभाव

[1] सर्वोच्च कुल के मराठों की शाखा—अनु०।

पर तीन सौ वर्षों में नाना उपायों के पश्चात् देखा जा सकता है कि यवनों का बाल बाँका तक न किया जा सका। अतः सुविधानुसार सन्तोष कर लिया जाता था कि बीज बो चुके हैं, योग्य समय आने पर वह अंकुरित होगा; फलेगा, फूलेगा। यह भविष्यवादी विचारधारा सन्देह नहीं उठाने देती; सफलता भविष्य में प्राप्त होती है और भविष्य अन्तहीन है, इस कारण तीन सौ वर्ष बीत गये, आशा कभी निराश न हुई। शाहजी ऐसा आशावादी नहीं था।

वह भली भाँति जानता था कि यवनों का शासन विदेशी विधर्मी अल्पसंख्यकों का शासन है जो हिन्दुओं के अस्त्र-शस्त्रों की तुलना में श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रों के बल और बड़प्पन पर जारी है; चाहे विदेशी अल्पसंख्यक शासकों में आपसी युद्ध चले या ऐश-आराम की प्रवृत्ति से निर्बलता बढ़े; यवनों को तब तक पराजित नहीं किया जा सकता जब तक अपने पास उनसे श्रेष्ठ या कम-से-कम उनकी बराबरी के अस्त्र-शस्त्र नहीं हों। वह स्वानुभव से यह भी जानता था कि हिन्दुस्तान में और महाराष्ट्र में कई ऐसी युयुत्सु जातियाँ हैं जो क्या विधर्मी और क्या स्वधर्मी, किसी भी मालिक की फौजी नौकरी करते हुए केवल अपना पेट भरने के लिए अपने प्राण गँवाने और दूसरों के हरण करने को कटिबद्ध हैं। वह यह भी देख चुका था कि महाराष्ट्र के एक ही गाँव के, एक ही कुल के और घराने के सगे-सम्बन्धियों में से कुछ ऐसे लोग मराठा सरदार की फौज में हैं, तो कुछ मुसलमान सरदारों या बादशाह की फौज में नौकरी करते हैं और दोनों में से एक भी युद्ध के समय न अपनी न स्वामी के देश की, राष्ट्र की, धर्म की, हेतु की अथवा किसी और वस्तु की पूछताछ करता है, न उसकी इष्टानिष्टता, प्रिय-अप्रियता अथवा श्रेष्ठ-कनिष्ठता का विचार करता है। भोसले कुल को ही लीजिए; शाहजी और उसका पिता दोनों निज़ाम के सेवक थे, उनके चचेरे भाई-बन्द मुगलों के दास थे और उनके वंश के लोग आदिलशाही और बेरीदशाही की सेनाओं में थे। इस स्थिति में उसने अपने स्वतन्त्र दल, अपनी स्वतन्त्र सेना और अपने श्रेष्ठतर अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण का सबसे पहले विचार किया।

दल-निर्माण करना हो तो दल के व्यक्तियों में एक सामान्य आकांक्षा का असन्दिग्ध अस्तित्व होना ही चाहिए। उत्तम प्रकृति के पुरुष के लिए धर्म, जाति, देवता तथा देश ये चार आकांक्षाएँ हैं जो उसे प्रभावित करती हैं। उस काल के मराठों में दुर्भाग्यवश इनमें से एक भी आकांक्षा का अस्तित्व नहीं था। उन द्विपाद-पशुतुल्य अधमों में समानता का बन्धन यदि था तो एक ही था। वह यह कि उन द्विपादों के उदर-भरण की उचित व्यवस्था कर उनसे अपने अधिकार के बैलों या गदहों की भाँति कड़ी मेहनत करा लेना और अपनी

मुराद पूरी होने पर ममता से उनकी पीठ थपथपा देना। तात्पर्य यह कि पेट पालनेवाला स्वामी उन प्रथम संस्कृति के लोगों के ममता-बन्धन का विषय था। वह पीठ पर लदा हो तो मराठे लड़ते थे, वह मर जाता या भाग जाता था तो पेट के मद में वे भी भाग जाते थे। युद्ध में स्वामी की मृत्यु के बाद हिन्दुस्तानी सिपाही क्यों पलायन करता है इसका सच्चा रहस्य अनेक विदेशी इतिहासकारों को विदित नहीं है इसीलिए वे उन्हें कायर कहते हैं; परन्तु यह कथन अवास्तविक है। हिन्दुस्तानी सिपाही मौत से नहीं डरता; वह पशु डरता है पेट से। एक स्वामी के धराशायी होने पर वह पलायन करता है तो पेट की खातिर अन्य स्वामी खोजने के लिए। शाहजी इन लोगों के मैदान छोड़कर भाग जाने के कारणों से भली भाँति परिचित था।

शाहजी को इन लोगों को अपने पास रखने की अर्थात् अपनी फौज में मनसबदार बनाकर रखने की खुले-आम अनुमति थी। फौज बनाकर अपना दल निर्माण करने के काम में मनसबदारी-प्रथा शाहजी के लिए उपकारी सिद्ध हुई। वह स्वयं मनसबदार न होता और अपनी जागीर के गांव का पाटील या देशमुख ही होता और फौज बनाने का प्रयत्न करता तो उसकी गणना विद्रोही गुण्डों में की जाती जिसके लिए वह तत्काल दण्डित भी किया जाता। अत्याचारी विदेशी राजा का नाश करना हो तो उसकी नौकरी करना, उसका विश्वासभाजन बनना और उपयुक्त अवसर पर उसे धकेल कर गद्दी हथिया लेना, पराजित जाति की दृष्टि से सदा श्रेयस्कर, सुरक्षित एवं न्यायोचित माना गया है। शाहजी के पिता ने इसी मार्ग को चुनकर पुत्र को मार्ग-दर्शन किया ही था। तात्पर्य यह कि निज़ामशाही मनसबदार की हैसियत से वह बेखटके सेना तैयार कर सकता था। शाहजी की फ़ौज ही आगे चलकर उसका दल बन गयी। साधनों में से दल तथा सेना पर पिता की मृत्यु के उपरान्त अधिकार कर लेने पर शाहजी ने अपने मीठे व्यवहार से फ़ौज के लोगों को कुछ इस प्रकार अपनाया कि बखरकार का कथन है कि फ़ौज के सिपाही और उनके छोटे अधिकारी कहने लगे कि नौकरी करनी हो तो राजा शाहजी की ही करो। शाहजी हमारा स्वामी नहीं; माता-पिता है। फौजों में अपने प्रति प्रगाढ़ ममता उत्पन्न करा चुकने के बाद शाहजी ने पाया कि केवल ममता से सारा काम नहीं बनता और न केवल मीठा व्यवहार सिपाही को अधिक कर्तृत्वशील बनाता है। ममता अधिक-से-अधिक ईमानदार बनायेगी; पर कर्तृत्वशीलता ईमानदारी से कम नहीं। अतः शाहजी ने एक ऐसे साधन की पूर्ति की जो सेना की कर्तृत्वशीलता और ईमानदारी, दोनों की वृद्धि करे। वह साधन था श्रेष्ठतर अस्त्र-शस्त्रों का एकत्रीकरण।

अस्त्रशस्त्र उत्कृष्ट हो और शत्रु से श्रेष्ठतर हो, यह शिक्षा अपने काल का इतिहास शाहजी को दे चुका था। किसी राष्ट्र की संस्कृति की श्रेष्ठता अथवा कनिष्ठता का मापदण्ड उसके अस्त्र-शस्त्र हैं। अधिक क्या, अस्त्र-शस्त्र कुल संस्कृति का बोध कराते है। जैसी संस्कृति किसी राष्ट्र की होगी वैसे उसके शस्त्रास्त्र होंगे। पशु-पक्षियों के शस्त्रास्त्र डंक, दाँत, नाखून, खुर, मूँड़, दुम या पंख आदि अवयव हैं। उनसे उच्च कोटि का है बन्दर जो पत्थरों, डालियों जैसे सहज उपलब्ध बाह्य साधनों का क्वचित् उपयोग कर लेता है। उससे श्रेष्ठ है अर्द्ध-वन्य व्यक्ति जो पत्थरों के भाले जैसे पत्थर के शस्त्रास्त्र घिस-घिसाकर तैयार करता है और ठीक समय पर काम आये, इसलिए सुरक्षित रखता है और पशु-पक्षियों का सहार करता है। उससे श्रेष्ठ है आर्य व्यक्ति जो खानों का पता लगाता है और तांबा, लोहा जैसी धातुओं की खोज कर भाले, बरछियाँ, तीरों के फाल, छुरियाँ आदि दूर फेंके जानेवाले धारदार अस्त्रों को तैयार करता है और उनकी सहायता मे केवल कुश्ती लड़नेवाले अर्द्ध-वन्य मनुष्य को हराता है। धनुर्धारी राम इन्हीं खनि-कर्म-कुशल आर्यों में से एक थे जो अपने सैकड़ों लोहे के तीरों से एतद्देशज वन्य भीलो, गोण्डो और कातकरियों, राक्षसो को नष्ट कर उनमें से कितने ही लोगो को अपना दास बना लेने की सामर्थ्य रखते थे। लोहे के अस्त्रों की अपेक्षा दूर जानेवाले अस्त्रों का अर्थात् बारूद की सहायता से चलाई जाने वाली बाँस की नलियों की खोज करने वाले आर्यों ने केवल लोहे के तीरों से लड़ पानेवाले आर्यों को पराजित कर संसार को अपने रसायन-मिश्रण-ज्ञान से परिचित कराया। उनसे एक कदम आगे बढ़कर लोहे की नलियों में बारूद भरकर आधे कोस के अन्तर से उन्हें चलाकर शत्रु को हरानेवाले मुसलमानों ने ईसाई-हिन्दू आदि कनिष्ठ सस्कृतिवालों को पराजित किया। आगे चलकर यूरोपीयों ने नाना शास्त्रीय आविष्कारों द्वारा अचूक काम करनेवाली और दूर तक पहुँचनेवाली तोपों-बन्दूको जैसे संगीन हथियारों के बल पर मुसलमानो को स्पेन आदि देशों से मार भगाया; यही नही, अमरीका, अफ्रीका और हिन्दुस्तान जैसे दूर के देशों पर विजय पाने का साहस कर दिखाया। यों मुगलों की असीम एवं प्रबल सत्ता थी—परन्तु पुर्तगाली समुद्री डाकुओ ने कई बार उसकी इज्जत लूटी। इसी युग में कस्तुन्तुनिया के तुर्क वेनीशियनों से श्रेष्ठ बन्दूकों, तोपों और गोला-बारूद तैयार करने की कला; चाहे अधकचरी हो, चाहे जूठी हो; सीख चुके थे। इन्हीं अधकचरे तुर्क कारीगरों को अपनी सेवा में रखकर दिल्ली के मुगल और दक्षिण के शाह हथियार और गोलाबारूद तैयार करा रहे थे और इन्हीं साधनों के बल पर देश के अर्द्ध-प्रगत करताल-धारी हिन्दुओ को नीचा दिखा रहे थे। यह चमत्कार शाहजी अपनी आँखों देख रहा था।

श्रेष्ठ शस्त्रास्त्र कहाँ तैयार होते हैं और किसके द्वारा यहाँ लाये जाते हैं, इसका पता जुन्नर की पहाड़ियों के नीचे स्थित कोंकण में लग चुका था। दमण, दीव, वसई, गोवा, सूरत, तेलीचेरी आदि स्थानों के टोपीवाले[1] कारीगरों से शस्त्रास्त्र खरीदकर शाहजी ने अपनी सेनाओं को निजामशाही, आदिलशाही और बेरीदशाही की सेनाओं से कहीं अधिक कर्तृत्ववान बनाया। इस प्रकार शाहजी ने अपना दल, सेना तथा शस्त्रास्त्र तैयार किये और उनके बल पर प्रकट स्वराज्य, प्रच्छन्न स्वराज्य, माण्डलिक-स्वराज्य और विशुद्ध स्वराज्य की उत्तरोत्तर स्थापना करते हुए समय-समय पर उपस्थित होने वाली आपदाओं में हिम्मत न हारकर बराबर जूझते हुए वह अपने कर्तव्य-पथ पर डटा रहा। बड़े-से-बड़े संकट के समय भी उसने सेना और शस्त्रास्त्र के प्रति विश्वास न खोया। इसका कारण केवल यही था कि वह पूरी तरह विश्वास कर चुका था कि यदि विजय कभी मिलेगी तो उन्हीं दोनों की सहायता से मिल सकती है। शाहजी के अलौकिक विश्वास, साहस और दृढ़ता की मीमांसा केवल इसी प्रकार की जा सकती है।

शस्त्रास्त्र खरीदनेवाले भारतीय, विदेशियों से ओछे

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह कि शाहजी ने टोपी-वालों से बन्दूकें, तोपें और गोला-बारूद खरीदने के स्थान पर उनका सही-सही निर्माण हिन्दुस्तान में क्यों नहीं कराया? अथवा शाहजी के पुत्र शिवाजी ने क्यों नहीं कराया? या बाजीराव बल्लाल, बालाजी बाजीराव या नाना फडणीस ने क्यों नहीं कराया? उत्कृष्ट शस्त्रास्त्रों के लिए परमुखापेक्षी बनने में उन्हें लज्जा क्यों न अनुभव हुई? इन तमाम प्रश्नों का उत्तर एक ही है और वह एकदम सरल है। वह यह कि उत्तम, उपयुक्त तथा उचित शस्त्रास्त्र तैयार करने के लिए जिस शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता होती है उसका भारत में नितान्त अभाव था। शाहजी के जीवन-काल में यूरोप में देकार्त, बेकन आदि विचारक लोगों को सृष्ट-पदार्थ-अनुसन्धान-कार्य के प्रति उन्मुख कर पंचतत्वों की खोज के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे और हमारे यहाँ एकनाथ, तुकाराम, दासोपन्त, निपट-निरंजन आदि सन्त पंचतत्वों को अलग रखकर ब्रह्म-साक्षात्कार द्वारा राष्ट्र को मुक्त कराने में प्रयत्नशील थे। ऐसे व्यक्तियों को स्क्रू पिन, बन्दूक, तोप आदि का विचार वमनप्राय प्रतीत हो तो आश्चर्य ही क्या?

---

[1] विदेशी—अनु०।

संक्षेप में ऑगस्त, कोम्त के शब्दों में महाराष्ट्र उस समय "मेटाफिजिकल" अवस्था में था; "पॉजिटिव" अवस्था प्राप्त करने के लिए अभी पाँच-सौ वर्षों का अवकाश था। अर्थात् महाराष्ट्र का पॉजिटिव बनना शक-काल की तीसरी शती में ही सम्भव था। इसीलिए वे शस्त्रास्त्र जिन्हें हम स्वयं न बना सकें, दूसरों से खरीदने के अतिरिक्त शाहजी को कोई चारा न था।

आज मुहम्मदी, अफरीदी, चित्राली, अफगानी, ईरानी आदि अर्द्ध-प्रगत लोगों की जो स्थिति है वही शाहजी के जीवन-काल में मराठों की थी। आज एक नफीस जर्मन, फ्रेंच या रूसी बन्दूक लेकर जो अफरीदी हमला करता है, चोरी-डकैती करता है उससे शाहजी का मराठा अधिक सुसंस्कृत था, इसमें सन्देह नहीं। पर शस्त्रों के लिए वह यूरोपीयों का मुखापेक्षी अफरीदियों की भाँति ही था। आज कहना असम्भव है कि शाहजी-कालीन लोग मुखापेक्षिता का क्या अर्थ लगाते थे। विष को आप जान-बूझकर खाइए या भूलकर खाइए; वह बिना असर दिखाए नहीं रहता, उसी प्रकार जिसके शस्त्रास्त्र उसका अधिराज्य—यह नियम कोई उसे समझे चाहे न समझे बिना अपना प्रभाव दिखाये नहीं रहता। इसका यही अर्थ हुआ कि मूलतः हथियार तैयार करनेवालों का—फिरंगी, फ्रेंच, डच, अंग्रेज आदि यूरोपीयों का शासन भारत में दृढमूल करने का प्रबल प्रयत्न अनजाने शाहजी कर रहा था। यह आशय शाहजी और उसके ब्राह्मण कूटनीतिज्ञों के ध्यान में उस प्रकार नहीं आया जैसा आना चाहिए था, या कहें कि बिलकुल ध्यान में नहीं आया तो अतिशयोक्ति न होगी। जिस दिन वास्कोदिगामा ने कालीकट के चामुरी के मुख पर प्रहार किया, वह हिन्दुस्तान के साम्राज्य पर यूरोपीयों के अधिकार का पहला दिन था। मुट्ठी भर फिरंगी एक हिन्दू राजा से देखते-देखते नाकों चने चबवाते हैं, तो किस सामर्थ्य के बल पर? क्या वे दस मुँह और बीस हाथों वाले राक्षस थे? या वे सूसना पहनते थे और बाइबिल पढ़ते थे इसलिए इतने प्रबल बन गये थे? उनकी सामर्थ्य अनेक अनुसन्धानों द्वारा सिद्ध हुए दूरगामी शस्त्रास्त्रों में थी। वे शस्त्रास्त्र यूरोपीय शास्त्रीय संस्कृति का मात्र निष्कर्ष थे। उन्हीं शस्त्रास्त्रों के बल पर एक यूरोपीय हजार हिन्दू-मुसलमानों का बल-धारण करता था। महाराष्ट्र की तत्कालीन स्थिति कुछ ऐसी थी कि शाहजी जैसे चतुर, दूरदर्शी, किंचित् स्वार्थी तथा जागरूक सरदार के मन में उक्त विचार कभी आया ही नहीं। अतः प्रकट है कि दोषी केवल शाहजी नहीं है; तत्कालीन समाज भी उसका दोष-भाजन है। सभी दोषी हों तो एक को सूली पर चढ़ाने

से क्या होगा ? इस दृष्टि से अकबर, शाहजहाँ, मीरजुम्ला और औरंगजेब सभी शाहजी की पाँत में बैठे दिखाई देंगे। यह दोष तत्कालीन भारतीय संस्कृति का है और उसे इसी रूप में स्वीकार करना होगा।

इस दोष के अतिरिक्त शाहजी में कोई अन्य दोष नहीं दृष्टिगोचर होता। शाहजी ने जैसी मेहनत दल, सेना और शस्त्रास्त्रों का संग्रह करने में की, ठीक वैसी ही चतुराई अपने स्वामी बुरहानशाह को प्रसन्न करने मे दिखलाई। मलिक अम्बर, फतहखाँ, जाधवराव आदि सब सरदारों को पीछे छोड शाहजी बुरहान-शाह की नाक का बाल बन गया। इससे उसे स्वराज्य-स्थापना के उद्देश्य को सफल बनाने मे बड़ी सहायता मिली। दूसरे का विश्वासपात्र बनकर उसे अपना भक्त बना लेने की करामात जैसी कुछ शाहजी ने कर दिखाई वह अन्य तत्कालीन ऐतिहासिक व्यक्तियों के बीच बहुत कम लोगों में दिखाई है।

शाहजी तथा रामदास-शिवाजी

शाहजी का उत्तरचरित्र अर्थात् शक-सम्वत् १५६२ से १५८५ (सन् १६४० से १६६३ ई०) तक तेईस वर्षो का चरित्र शिवाजी के तत्कालीन चरित्र के समान्तर चलता है। यही नहीं, वह शिवाजी को प्रोत्साहन देनेवाला प्रतीत होता है। शाहजी की उत्तरायु का चरित्र उन प्रयत्नों का निर्देशन करता है जो उसने दादाजी कोण्डदेव, हणमन्ते, पिंगले, अत्रे, पानसम्बल, जीजाबाई आदि की सहायता से शिवाजी के चरित्र को प्रभावित करने के लिए किये थे। अत: प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि शाहजी ने शिवाजी के स्वतन्त्र स्वराज्य का पथ प्रशस्त किया था तो रामदास का उस पर क्या प्रभाव पड़ा ? यही प्रश्न दूसरे शब्दों मे इस प्रकार पूछा जा सकता है कि महाराष्ट्र-राज्य-संस्थापना में रामदास ने क्या योग दिया ? इन प्रश्नों का उत्तर देते समय एक अन्य प्रश्न पर विचार करें तो उत्तर मिल सकता है। वह अन्य प्रश्न इस प्रकार है—रामदास न हो तो स्वराज्य-संस्थापना के कार्य में क्या न्यूनता रह जाती ? रामदास होते न होते, शिवाजी शाहजी की योजनानुसार स्वतन्त्र स्वराज्य की स्थापना कर चुका था; यदि नहीं कर चुका था तो निश्चयपूर्वक करता ही। रामदास के उपदेशों ने शिवाजी की स्वराज्य-संस्थापना के स्वरूप मे आखिर कौनसा स्पृहणीय अन्तर उपस्थित कर दिया कि शिवाजी तथा शिवाजी के परवर्ती मराठे रामदास के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं ? गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालन, वैदिक संस्कृति की रक्षा, संस्कृत-मराठी-हिन्दी आदि भाषाओं का सम्वर्धन, देवालयों का जीर्णोद्धार आदि हिन्दू संस्कृति की सुरक्षा

के लिए विविध कार्य, परिस्थिति को काबू में रखकर शाहजी आरम्भ कर ही चुका था। इसमें सन्देह नहीं कि वह परम्परा रामदास न भी होते फिर भी शिवाजी जारी रखता। आज भी शिवाजी की महानता के गीत गाते समय हम इन्हीं कार्यों का प्रमुखता से उल्लेख करते हैं। रामदास ने शिवाजी से इससे भी बड़ा कौनसा कार्य कराया ?

इस प्रश्न का समाधान करते हुए हम कहेंगे कि रामदास ने शिवाजी को एक ऐसा कार्य सम्पन्न करने की सलाह दी जो शाहजी द्वारा नहीं किया जा सका था। वह सलाह रामदास के पूर्व किसी अन्य व्यक्ति ने न शाहजी को दी थी, न शिवाजी को। शाहजी के जीवन-काल में प्रमाण मिलता है कि देश के बहुसंख्यक मराठा लोग यवनों की सेवा करना पाप नहीं, पुण्य समझते थे। इस देशघाती तथा राष्ट्रघाती विचार-प्रवाह को मोड़ कर रामदास ने शिवाजी को यह उच्चतम राष्ट्रीकरण की सलाह दी कि देश के समस्त मराठों को एक स्थान पर अर्थात् स्वराज्य के प्रति प्रवृत्त किया जाय।

शाहजी की सेना में मराठे, पूर्वी, पंजाबी, हिन्दू मुसलमान, बेरड़[1]—सब जातियों के लोग और सरदार थे और शाहजी के सब जाति के लोगों को अपने यहाँ रखने के अतिरिक्त चारा न था। शिवाजी को रामदास ने केवल एकजातीय मराठा सरदार और सैनिक रखने की सलाह दी, इस उद्देश्य से दी कि प्रत्येक मराठे को इस बात का गर्व हो कि स्वराज्य मेरा है और उसके लिए चाहे मेरे प्राण चले जायँ पर महाराष्ट्र-धर्म की रक्षा होकर रहेगी। आज तक मुगलों की सेना में मराठे थे, परन्तु स्वामी के धराशायी होने पर वे लोग यह न जानकर कि किस शत्रु से किस उद्देश्य से लड़ें, प्रायः पलायन करते थे; और बिखर जाते थे। आज एक की चाकरी तो कल दूसरे की; ऐसी परम्परा बन चुकी थी। वह परम्परा टूटे, तमाम मराठों में एक प्रबल सामान्य-धर्म की भावना प्रादुर्भूत हो और स्वामी की मृत्यु हो अथवा पराजय; मराठे अधिक आवेशपूर्वक अपने धर्म की रक्षा के लिए जान गँवाने को प्रतिक्षण प्रस्तुत रहें, इसी उद्देश्य से रामदास ने शिवाजी को वह बहुमूल्य मन्त्रणा दी और शिवाजी जैसे चतुरस्र कूटनीतिज्ञ तथा वीरपुरुष ने मन्त्रणा ग्रहण की कि जिसके फलस्वरूप उसने सर्वांशतः नहीं तो अधिकांशतः सफल कार्य कर दिखाया। "समस्त मराठों का एकीकरण करो, महाराष्ट्र-धर्म की रक्षा तथा वृद्धि करो"—रामदास ने शिवाजी को एवं तत्कालीन मराठों को यही उपदेश दिया अर्थात् रामदास ने राष्ट्रीयता या राष्ट्र-भावना उत्पन्न की जिसके कल्पक रामदास थे और कर्ता शिवाजी।

१ छोटी-मोटी चोरी करके जीनेवाले निम्न जाति के लोग—अनु०।

महाराष्ट्र-धर्म या राष्ट्र-भावना के समान-धर्म का मराठों में आविर्भाव होने के कारण शिवाजी के पश्चात् सम्भाजी तथा राजाराम के शासन-काल में स्वामी के अभाव मे भी मराठों ने औरंगजेब की नाक मे दम कर दिया। न होती राष्ट्र-भावना—औरंगजेब का प्रारम्भ में यही विचार था—तो शिवाजी का स्वराज्य उसके दिवंगत होने के बाद शीघ्र ही विलीन हो जाता। रामदास को कल्पक और शिवाजी को कर्त्ता कहने का यह अर्थ नही कि शिवाजी को महाराष्ट्र-धर्म अथवा समान-धर्म का जरा भी ज्ञान नही था। शिवाजी के भीतर वही कल्पना अभाव-रूप में अर्थात् यवनों के प्रति घृणा का रूप धारण कर बिलकुल बचपन से घर कर चुकी थी। कमी इतनी ही थी कि वह दृढ भावना का रूप नहीं पा सकी थी। रामदास ने उच्च स्वर मे उद्घोषणा की, सोपपत्तिक सिद्धान्त का जामा पहनाकर उसका मण्डन किया और शिवाजी ने मराठों की एकता में उसके रहस्य को जानकर जीवनभर यही कार्य किया। इस विवाद में कोई सार नहीं कि रामदास न होते तो शिवाजी उस उच्च राजनीतिक सिद्धान्त की खोज कर भी पाता या नही। सम्भवतः कर पाता; सम्भवत: न भी कर पाता। रामदास न होते और अकेला शिवाजी खोज कर पाता तो हम उसे कल्पकता का श्रेय निःसशय देते। कुल विवेचन का सारांश यह है कि शाहजी के जीवन-काल मे राष्ट्रधर्म की कल्पना सुप्त थी; शिवाजी के समय पूर्ण जाग्रत थी। रामदास की घोषणा के साथ शिवाजी ने समानशीलता एवं हितधर्मता की दृष्टि से उसे स्वीकार किया और उसका प्रचार-प्रसार किया: यह कार्य शाहजी के हाथों सम्पन्न नही हो सकता था।

ऐसी बात नहीं कि शाहजी के युग में यवनों के प्रति घृणा की भावना का नितान्त अभाव रहा हो। परन्तु घृणा को प्रवृत्ति का जामा पहनाना और केवल मराठों मे एकता स्थापित कर स्वराज्य पाना शाहजी के बूते की बात नहीं थी। तीन प्रयत्नों के पश्चात् चौथे प्रयत्न मे वह केवल माण्डलिकता प्राप्त कर पाया। ऐसी स्थिति में यवनों के प्रति घृणा प्रकट करने मे न बुद्धिमानी थी, न सुविधा। जयराम ने शाहजी के दरबार मे यवनों को "बाद करने" (हि०: सामान्यतः समाप्त करना, हटा देना, रद्द करना आदि—अनु०।) की बात चलने का उल्लेख इस प्रकार किया है:

राजा हो नृप शाहजी, यवन कीजिए "बाद"
दूत कहे करतारसों, ऐसो द्विज-सम्वाद॥६६॥

"सम्वाद" करनेवाले ब्राह्मण के मस्तिष्क मे "बाद करने" का अर्थ "राज्यच्युत करना" नहीं था। अगले छन्द मे "बाद करने" का अर्थ जयराम

ने स्वयं देकर[१] बतलाया है कि "सारी पृथ्वी का अर्थात् भारतभूमि को यवनों से घिरी देखकर वेदविद्या त्रस्त होकर मूर्च्छित हो गई परन्तु राजा शाहजी के पराक्रम ने उसे नवजीवन प्रदान किया। उसने ब्रह्मदेव-द्वारा भारतभूमि की राज्य-वृत्ति का विभाजन राजा शाहजी और बादशाह शाहजहाँ के बीच कराया। नर्मदा के उत्तर का भाग यवनों को और दक्षिण का भाग शाहजी को दिलवाया। तात्पर्य, इस छन्द मे "बाद करने" का अर्थ विभाजन करना, बँटवारा करना बतलाया गया है; यवनों को राज्यच्युत कर उनकी बादशाहत समाप्त करना नही कहा गया है। शाहजी के शासन-काल में इससे अधिक नहीं कहा जा सकता था; परन्तु रामदास और शिवाजी के काल मे यवनों को मार भगाने की भाषा रामदास ने प्रयुक्त की है। यवनों की बादशाहत को रामदास "बहुत दिनों का विद्रोह" कहते हैं और साफ-साफ आदेश देते है कि "कुत्तों को मार भगाओ।" शाहजी और शिवाजी-कालीन राजनीतिक विचारों मे इस प्रकार अन्तर था। "बूढा औरंगा पापी, दुष्ट चाण्डाल घातकी" जैसे शब्द शाहजी के काल में मन में नही लाये जा सकते थे; मुख से निकालना दूर रहा।

भारत-व्यापी मुसलमानी सत्ता की दुर्बलता

अपने दरबार मे यवनो का थोड़ा-सा मजाक उड़ाया जाता तो शाहजी नाराज नही होता था; यों दस्तावेजों में शाहजी आदिलशाह को अपना स्वामी मानकर अदब दिखलाता है, पर उसके घर मे, दरबार में चारण शाहजी की प्रशंसा के गीत गाते है कि शाहजी ने आदिलशाह के सिंहासन की रक्षा की है। चार लोगों में शाहजहाँ को शहंशाह की उपाधि से विभूषित करना और घर मे यह कहकर कि हम दोनों ने जायदाद का बँटवारा कर लिया है, उसकी बराबरी करना—शाहजी दोहरा खेल खेल रहा था। ये सब बातें अखबारनवीसों द्वारा आदिलशाह और शाहजहाँ के पास बराबर पहुँच जाती थीं। परिणाम यह होता था कि वे दोनों शाहजी को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। विश्वास कोई न कर पाता था। शाहजी के जीवन-चरित्र में कई प्रसंग बिखरे हुए हैं जब हम पाते हैं कि जब तक आवश्यकता रही

---

१ व्यापिली हे अवनी यवनी मुग्ण वैदिक वाक सिणोन निजेली। या वरि साहेबकीर्तिचों मूर्तिच आपलि हे जीव हे जिव केली। शाहजिराजे व बादशाह असि वृत्ति करूं जगत्रयि विधिसंप्रिधि गेली ॥९७॥"

शाहजी को साथी बनाया गया, काम समाप्त होने पर दूध की मक्खी की भाँति निकाल दिया गया। इस प्रकार शाहजी को कई बार मान-हानि उठानी पड़ी पर उसे भी खूब आदत पड चुकी थी। शाहजी केवल यही देखता था कि अपने उद्देश्यो की कहाँ तक पूर्ति होती है। मान-हानि होती है अथवा मान-वृद्धि, शाहजी को अवकाश नहीं था कि मुड़कर देखता और विचार करता। पर शिवाजी जैसे व्यक्ति को इस प्रकार की चंचल मनोवृत्ति एव तज्जनित मान-हानि कतई पसन्द नहीं थी।

इस विषय पर एक बार वृद्ध सोनोपन्त डवीर तथा युवक शिवाजी के बीच एक मनोरंजक वार्तालाप हुआ जिसका उल्लेख वृहदीश्वर शिलालेखकार ने किया है जो कई दृष्टि से मनन करने योग्य है। शिवाजी कहता है—"पिताजी सर्वप्रथम निजामशाह के साथ थे, आदिलशाह की बातों मे आकर उससे मिल गये। निजामशाह ने बुलाया तो लौट आये। मनोमालिन्य हुआ तो फिर आदिलशाह से जा मिले। इस तरह दो-तीन बार इधर-से-उधर चक्कर काटते रहे। पिताजी अपनी ओर से सबका काम मन लगाकर करते थे; पर उनके लगातार इधर-से-उधर आने-जाने के कारण सबको उनके प्रति सन्देह हुआ। आवश्यकता होती तो दोनों शाह उनका आदर-सम्मान करते थे. पर मन साफ नही रहता था। सच तो यह है कि हर महान् व्यक्ति को चाहिए कि एक बार जिसके साथ हो लिए, हो लिए; किसी कारण मनोमालिन्य हो जाय तो अलग हो गये पर कभी लौटकर नही आए नीति यही कहती है, पर उसका पालन न कर पिताजी ने यवनों के साथ कृत्रिम व्यवहार किया। मात्र वीरता तथा निर्मलता के कारण वे अपनी रक्षा कर सके।" इसमे कोई सन्देह नही कि शिवाजी का उपर्युक्त सिद्धान्त एकदम सत्य है पर शाहजी का व्यवहार सिद्धान्त से अधिक सत्य है, इसकी पुष्टि व्यवहार-कुशल व्यक्ति अपने अनुभवों के आधार पर कर सकता है। अपवाद सत्य होता है और इसी कारण सिद्धान्त से जुड़ा होता है। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि शाहजी दुरंगा खेल न खेलता तो शाहजहाँ, औरंगजेब, मीर-जुमला मुहम्मदशाह, फतहखाँ, मुस्तफाखाँ जैसे छल-कपट पर जीनेवालों के बीच कोई उसका पुछवैया न रहता।

प्रकट स्वराज्य, प्रच्छन्न स्वराज्य, माण्डलिक-स्वराज्य तथा स्वतन्त्र स्वराज्य अर्थात् व्यक्ति का साम्राज्य स्थापित करने का उत्तरोत्तर प्रयत्न करने में ही शाहजी के जीवन की इतिकर्त्तव्यता निहित थी। अथ से इति तक

विकसित होते समय इतिकर्त्तव्यता का यही आग्रह था कि शत्रु हो अथवा मित्र अथवा उदासीन, प्रसंगानुकूल व्यवहार कर उससे शत्रुता, मित्रता अथवा उदासीनता के सम्बन्ध रखे जायँ। शाहजी के दुरंगे रवैये का रहस्य यही है। इसी रवैये को अपनाकर शाहजी ने करावुल सैनिकों तथा युद्ध-सामग्री की सहायता से अपना दल तैयार कर जागीर बढ़ाना शुरू कर दिया। शाहजी की इतिकर्त्तव्यता की मीमांसा इसी प्रकार कर सकते हैं। देखना होगा कि तत्कालीन हिन्दुस्तान के इतिहास को दृष्टि में रखकर किस प्रकार उसका मूल्य-मापन किया जा सकता है। शाहजी के जीवन-काल में हिन्दुस्तान में कुल पाँच स्वतन्त्र मुसलमान सल्तनतें थी (१) दिल्ली की मुगलशाही, (२) दौलताबाद की निज़ामशाही, (३) बीजापुर की आदिलशाही, (४) गोल-कुण्डा की कुतुबशाही और (५) बीदर की बरीदशाही। इन पाँच मुसलमान सल्तनतो ने तुंगभद्रा के तट से लेकर हिमालय की तराई तक और असम से लेकर ईरान तक सारा प्रदेश अपने अधिकार मे कर लिया था। तुंगभद्रा के दक्षिण में कर्नाटक मे कुछ मामूली हिन्दू "पालेगार"[१] स्वतन्त्र रह पाये थे और उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण निजामशाह करे अथवा आदिलशाह, कुतुबशाह अथवा दिल्ली का शाह, इसे लेकर होड़ चल रही थी। शेष भारत पर यवनो की पताका फहरा रही थी और हिन्दुत्व के पापो का घड़ा भर चुका था। छह-सौ वर्षों के संघर्ष के पश्चात् इस्लाम के हाथो आर्य-संस्कृति का पूरा पतन होने में मुश्किल से पचास साल का विलम्ब था। उपर्युक्त पाँचों इस्लामी "शाहियाँ" अन्योन्य के प्रति ईर्ष्या-ग्रस्त होकर एक-दूसरे को नष्ट कर देने मे शक्ति क्षीण न करती और स्नेह-वृद्धि की सन्धियाँ कर इस्लामी संस्कृति की विजय-पताका फहराने का बीड़ा उठाती तो हिन्दू-सस्कृति धरती से उठ जाती; वह गतेतिहास की करुण गाथा बन कर रह जाती।

प्रत्येक बादशाह इस्लाम का प्रचार-प्रसार करने की प्रतिज्ञा तो करता था पर सफलता का सारा श्रेय स्वयं पाना चाहता था। यह अभिमान दक्षिण के एक शाह को दूसरे शाह की मिट्टी पलीद करने पर आमादा कर देता था। दक्षिण के सारे शाह शिया-पन्थी थे इसलिए उत्तर के सुन्नी पन्थी मुगल उन्हें

---

१ कर्नाटक में पहाडी प्रदेशो मे निवास करने वाला दस्यु-प्रमुख। विद्रोही सरदार। प्राचीन काल में ये लोग परगने के अधिकारी थे; मुसलमानों के जमाने में स्वतन्त्र जागीरदार के रूप में पहचाने गये।—अनु०

धर्मभ्रष्ट मानते थे और हिन्दुओं की तरह उन्हें उखाड़ने का षड्यन्त्र रचते थे। यह तमाशा दुरंगा नहीं, तिरंगा भी नहीं, पँचरंगा था। फिर भी मुसलमान बादशाह एक बात की परवाह करते तो हिन्दू संस्कृति को चुटकियों में मिटा देते। ढंग का पँचरंगा तमाशा होता तो कोई एक शाह सर्वाधिपति बन जाता और फिर एकमात्र यावनी सत्ता आर्य-संस्कृति की धज्जियाँ उड़ा देती। पर उन्होंने भूल की; वह यह कि हिन्दू योद्धाओं को मनसबदारी अथवा सरदारी दी और उन्हें प्रबल बन जाने का अवसर दिया। यह तो नहीं कहा जायगा कि तत्कालीन मुसलमान बादशाहों को उक्त अनुभव-सिद्ध सिद्धान्त का ज्ञान ही न था क्योंकि शाहजहाँ और औरंगजेब उससे भली भाँति परिचित थे; दक्षिण के शाह भी खूब जानते थे पर भूल आखिर भूल ही बनी रही।

हिन्दुत्व का विजयरक्षक : शाहजी

कोई धार्मिक, व्यापारिक अथवा राजनीतिक रवैया कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, जहाँ अपनी सुरक्षा या विशेष रक्षा का प्रश्न उठता है वह फीका पड़ जाता है। जब अकबर ने निज़ामशाही को निकालने का विचार किया और निज़ाम के दक्षिणी तथा विदेशी मुसलमानों के दल स्वयं निज़ाम को नीचा दिखाने का प्रयत्न करने लगे तब निज़ाम ने मालोजी भोसले नामक मराठा योद्धा को अपना मनसबदार स्वरक्षार्थ विश्वासपात्र मराठों का तीसरा दल निर्माण किया। प्रारम्भ में मालोजी मामूली पँचहज़ारी मनसबदार था, पर आगे चलकर एक तो स्वामी का विश्वास पाकर और दूसरे, युद्ध के निमित्त प्रगति करते-करते वह एक छोटे-मोटे राजा के योग्य सेना का अधिपति बन बैठा। अपनी बराबरी के मनसबदार पर अधिकार रखना बड़ा ही नाज़ुक, प्राणान्तक तथा संकटमय कार्य होता है। ऐसी मनसबदारी को खुश रखा तो प्रेम से रहती है; नाराज़ कर दिया तो डँस लेने से बाज़ नहीं आती।

जिस दिन मलिक अम्बर और मुर्तजाशाह ने सनातनधर्मी प्रबल मनसबदार शाहजी को नाराज़ किया उसी दिन हिन्दुस्तान में छह सौ वर्षों की कड़ी मेहनत से तैयार की गई इस्लामी दीवार में पहली बार सेंध लगी और इस्लाम की जानलेवा जकड़ में फँसी सनातन संस्कृति ने पहली बार ढील पाई। शाहजी के रूठकर निज़ामशाही से चले जाने के बाद मुर्तजा ने मलिक अम्बर को समाप्त किया, मुर्तजा को फतहखाँ ने और फतहखाँ को शाहजहाँ ने बहिश्त की सैर कराई। बेगम ने शाहजी की सहायता माँगी और धुकधुकाती निज़ामशाही की जान में जान आई। पर फिर शाहजी को अलग करते ही वह सदा के लिए ठण्डी पड़ गई। शाहजहाँ ने भी शाहजी की प्रचण्डता और कर्तृत्व-

शीलता का अनुभव पाया। शक-सम्वत् १५५८ (सन् १६३६ ई०) की मुहिम वर्षा के पूर्व समाप्त करने का शाहजहाँ का अनुमान शाहजी ने नष्ट कर दिया और शाहजी की शर्तों पर शाहजहाँ को ज्यों-त्यों मुहिम समाप्त करनी पड़ी। इसके बाद शाहजहाँ ने शाहजी को कभी न छेड़ा। आदिलशाही में जाने के बाद शाहजी ने किस प्रकार कर्नाटक पर अधिकार कर लिया, शाहजी को गिरफ्तार करते ही कर्नाटक और पूना प्रदेश में कैसा हाहाकार हुआ; मुक्त होने पर शाहजी ने औरंगजेब के सहायक और कुतुबशाह के मन्त्री मीरजुमला को किस प्रकार ठोका; किस प्रकार बंगलौर में शाहजी ने स्वराज्य स्थापित किया और किस प्रकार पूना प्रदेश में शिवाजी के मार्फत राज्य स्थापित कराया, आदि विवरण पहले ही दिया जा चुका है।

तात्पर्य यह कि एक हिन्दू-धर्मी व्यक्ति को मनसबदार बनाने की एक भूल ने गजब ढा दिया। एक भूल ने निजामशाही का नामो-निशान ही नहीं मिटा दिया बल्कि कुतुबशाही को भी कहीं का न रखा और आदिलशाही को अदना-सा बना दिया, बरीदशाही को बरबाद होने दिया और अन्त में दिल्ली की बादशाहत को भ्रष्ट किया। औरंगजेब ने शिवाजी को निकल भागने का अवसर देकर एक भूल की और उसे दक्षिण में छब्बीस वर्ष का वनवास भुगतना पड़ा, हताश होकर कब्र में लेटना पड़ा। शाहजी को मनसबदार बनाने की एक भूल ने तो इस्लाम की नींव हिला दी, इस्लामी सत्ता को मरण-पंथ पर ला पटका। भारत की तत्कालीन राजनीति में शाहजी का कार्य यवनों की सत्ता को कमर तोड़ने का था। संक्षेप में कहें तो शाहजी हिन्दुत्व का विजयी रक्षक बन चुका था।

नयी पाश्चात्य संस्कृति का उदय तथा इस्लामी सत्ता का पतन

यहाँ आश्चर्य में डाल देने वाला यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ईरान से असम तक और बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक फैली विशाल मुगल सत्ता या दक्षिण के शाह, शाहजी और शिवाजी को अर्थात् मराठों को पैरों-तले क्यों नहीं रौंद पाये? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए तत्कालीन सार्वजनिक मानवीय गतिविधियों तथा संस्कृति-प्रवाह की ओर ध्यान देना होगा। पहली प्रमुख बात यह दिखाई पड़ती है कि उस युग में इस्लामी विकृति का कार्य समाप्तप्राय हो चुका था और शक-सम्वत् १४०० से १५०० (सन् १४७८ से १५७८ ई० तक) एक प्रचण्ड संस्कृति-प्रवाह का रेला खाकर मृत-

प्राय इस्लाम डूब-उतरा रहा था। वह प्रचण्ड संस्कृति-प्रवाह वही था जिसे आधुनिक भौतिकशास्त्रीय संस्कृति कहा जाता है जिसने केवल इस्लामी विकृति को ही क्षीण नहीं बनाया बल्कि ईसाई विकृति को भी निर्बल बना दिया। कालान्तर मे यही सस्कृति हिन्दू विकृति तथा बौद्ध विकृति को भी कुचलने वाली थी। उस अजेय एव त्रिलोकविजयिनी, त्रिकालव्यापिनी सनातन भौतिक-शास्त्रीय सस्कृति के दीप्तिमान तेज के सामने प्राचीन मध्ययुगीन तथा बर्बर इस्लामी विकृति शक-सम्वत् १४०० से क्षीण होते-होते शक-सम्वत् १५०० के लगभग मृतप्राय हो गई। उसे पहला धक्का पहुँचा स्पेन में, दूसरा पोलैण्ड में, तीसरा अरब सागर मे, बंगाल की खाड़ी में और प्रशान्त महासागर मे। मुस्लिम विकृति पर लत्ता-प्रहार करनेवाले वे तीन राष्ट्र थे स्पेन, पोलैण्ड और पुर्तगाल। पहले धक्के ने इस्लाम को भूमध्य सागर से उछाल कर हटा दिया, दूसरे ने इस्लाम के लिए पश्चिमी यूरोप का द्वार बन्द कर दिया और तीसरे ने इस्लाम पर अफ्रीका के पूर्वी समुद्रो म विहार करने पर प्रतिबन्ध लगाया। इस्लाम को जानलेवा धक्के पहुँचानेवाले तीनों राष्ट्रों पर ईसाई विकृति का भूत सवार था। वे ईसाई थे इसलिए उन्होने इस्लाम को पराजित किया, ऐसा नहीं कह सकते; उनकी विजय का श्रेय नयी शक्ति लेकर उदित होने वाली भौतिक-शास्त्रीय संस्कृति को देना पड़ेगा।

भौतिक-शास्त्रीय संस्कृति का उदय होने के पूर्व यूरोप के समस्त ईसाई राष्ट्रों ने फिलस्तीन पाने के लिए इस्लाम से तीन-चार सौ वर्षों तक लगातार संघर्ष किया, पर वे इस्लाम का बाल बाँका न कर सके। परन्तु भौतिक-शास्त्रीय संस्कृति का बल मिलते ही इस्लाम विज्ञान में सुसंस्कृत यूरोप के सामने यो घुल गया जैसे आग के सामने मक्खन पिघल जाता है और ईसाई देशो के आपसी मनमुटाव की ठण्डक के बावजूद कुछ इस प्रकार घुल गया कि शक-सम्वत् १८४० (सन् १६१८ ई०) तक आते-आते केवल नामशेष रह गया है। यह भौतिक विज्ञानीय संस्कृति का प्रभाव है। अरब सागर में इस्लाम जो पिटा तो उसका यह परिणाम हुआ कि हब्शिस्तान, अरबस्थान, ईरान की खाड़ी, काठियावाड़, गुजरात और कोंकण-प्रदेश के किनारे हब्शी, अरब, ईरानी, मुगल, निजामशाही तथा आदिलशाही मुसलमान व्यापारियों की गतिविधियाँ समाप्तप्राय हो गईं और आदिलशाह और निजामशाह की सेनाओ में तथा दरबार में उक्त देशों से आने वाले युयुत्सु तथा कारकुनी व्यवसाय करने वाले मुसलमानों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती गई। फलस्वरूप दोनों शाहों को

देश के मराठा-ब्राह्मण सरदारों का समर्थन पाना अनिवार्य हो गया। यूरोपीय भौतिक विज्ञानीय संस्कृति का धक्का खाकर दक्षिणी शाहों की उक्त स्थिति हुई।

विज्ञान शस्त्र-सम्पन्न पुर्तगालियों ने भी दिल्ली के मुगल बादशाहों की यही स्थिति कर डाली। हरसिंगार के तने को हिलाते ही जैसे फूल टपकने लगते हैं उसी प्रकार पुर्तगालियों के अस्त्र-शस्त्रों के धक्कों से गुजरात, कोंकण, बंगाल आदि के बन्दरगाह यूरोपीयों के अधिकार में चले गये। बात फैल गई कि दिल्ली के मुगलों की लू उतारनेवाले, सेर को सवा सेर फिरंगी हैं। इसमें मुगलों का दबदबा न रहा। लोग कहने लगे कि मुगल एक गुना काफिर हैं तो फिरंगी दस गुना काफ़िर हैं। हिन्दुस्तान में लोग सोचने लगे कि फिरंगियों पर विजय पाना भगवान का वरदान पा जाना है।

जयराम कवि ने शाहजी की स्तुति करते हुए कहा है कि जब राजा शाहजी फिरंग[1] हाथ में लेता था तो फिरंगियों का रंग फीका पड़ जाता था। इसका यही अर्थ हो सकता है कि अजेय फिरंगियों को जीतने वाला शाहजी मुगलों की फिक्र नहीं करता था इसे सब लोग भली भाँति जान लें। विस्तृत विवेचन का सारांश यह कि हिन्दुस्तान की, विशेषकर पुर्तगालियों के निकट बसने वाले महाराष्ट्र की जनता आदिलशाह, निजामशाह और मुगलों का मन-ही मन निरादर करने लगी थी। यूरोपीय सम्पर्क ने प्रारम्भ में भारत को यही दिया।

मन-ही-मन निरादर करने के अन्य कारण भी विद्यमान थे। मुगल बादशाह वंश से तुर्क, विद्या से ईरानी और धर्म से अरब थे। मध्य एशिया के निवासी मुगल वे अर्द्ध-वन्य लोग थे जो पड़ोसियों के श्रेष्ठ देवताओं और धर्म को स्वीकार कर लिया करते थे। प्रारम्भ में कई शकों अर्थात् मुगलों ने वासुदेव-भक्ति स्वीकार कर ली थी; कितने ही बौद्ध बन चुके थे और उस समय मुहम्मद के धर्म के अनुयायी बनकर रह रहे थे। हिन्दुस्तान में आने पर ईसाई, जरदुश्ती तथा वेदान्ती विचारधारा से प्रभावित होकर वे दिनोंदिन विशुद्ध इस्लाम से च्युत होते जा रहे थे। प्रसिद्ध है कि अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ आदि मुगल सम्राटों ने हिन्दुओं की अनेक रीतियों का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया था। इब्राहीम आदिलशाह ललित कलाओं का कुछ ऐसा शौकीन था कि उनके सामने वह इस्लाम को तुच्छ मानता था। अतः

---

[1] एक प्रकार की तलवार—अनु०।

काजी-मुल्ला बड़े भयभीत हो रहे थे। जैसे-जैसे मुग़लों के देवता-धर्म विषयक विचार शिथिल होते गए वैसे-वैसे ईरानी विद्या-संस्कारों में परिवर्तन होता गया। मुग़लों की अपनी भाषा फ़ारसी की अपेक्षा कनिष्ठ थी और मध्य एशिया का समस्त दरबारी व्यवहार फ़ारसी में चलता था। इसलिए अर्द्ध-बर्बर मुग़लों ने ईरान की विदेशी फ़ारसी भाषा को स्वीकार किया और फ़ारसीदाँ ईरानी कारकुनों और कूटनीतिज्ञों को प्रश्रय दिया। ईरानियों की तुलना में हिन्दू कारकुन तथा कूटनीतिज्ञ सदैव श्रेष्ठ रहे हैं अतः धीरे-धीरे समस्त दरबारी कामकाज (हिन्दू—अनु०) कायस्थों के हाथ में चला गया। देवता-धर्म तथा फ़ारसी विद्या पामाल होते-होते मुग़लों की वंश-शुद्धता भी विनष्ट होती गई। राजपूत आदि हिन्दू जातियों से विवाह-संस्कार करने से विशुद्ध मुगल रक्त बिगड़ता गया और मुगल स्वभाव की विशेषताएँ जाती रहीं। मुगल और तुर्क मूलतः छापामार लड़ाई में सिद्धहस्त होते हैं ; हिन्दुस्तान में आकर यह विशेषता समाप्त हो गई। मराठों की छापामारी और चकमेबाज़ी के सामने पैर फैलाकर सोने वाले मुग़ल उखड़ गये। इस प्रकार यूरोप में, हिन्दुस्तान में, समुद्र में, धर्म में, विद्या और वंश में ह्रास होते-होते दक्षिण अथवा उत्तर के मुसलमानों में वह सामर्थ्य न रही कि शाहजी या शिवाजी को चुटकी में मसल देते। शाहजी ने मुसलमानों की नस पकड़ ली थी और उसी के आधार पर कार्यवाही की थी इसीलिए वह यशस्वी हुआ। मुसलमानों के राज्य यों देखने में अवश्य महाकाय दिखाई पड़ते थे पर उनमें भीतर-ही-भीतर घुन लग चुका था। शाहजी ने यह पहचान लिया और इसी में उसकी महानता है। सामान्य जन के इस विश्वास में कि दिल्लीपति अजेय है कितना सत्य है इसका पूरा पता शाहजी को था, शिवाजी को था और शिवाजी के ब्राह्मण कूटनीतिज्ञों तक को था।

शककर्त्ता शाहजी अथवा शिवाजी ?

शाहजी की प्रमुख विशेषता, उसके उद्देश्य, उद्देश्य-सिद्धि के लिए उसके द्वारा निर्मित साधन, तत्कालीन महाराष्ट्र, भारत, यूरोप तथा मुसलमान समाज एवं स्वयं शाहजी की मनोरचना तथा विकृति-संस्कृति का स्वरूप आदि महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा कर चुकने के पश्चात् पाठकों के मनोरंजन के लिए स्वगतनुमा एक छोटी-सी बात प्रस्तुत की जाती है। जिसने केवल पन्द्रह-बीस हज़ार सिपाहियों की फ़ौज लेकर निज़ामशाही को जीवनदान दिया, जिसे चुप कराने के लिए शाहजहाँ के समस्त प्रयत्न विफल हुए, जिसने साठ-सत्तर हज़ार सिपाहियों की फ़ौज दौड़ाकर मीरजुमला जैसे रूमो-शाम तक दमकने

थाले हीरे को खरगोश की तरह दबोच दिया, जिसका दबदबा देखकर औरंगजेब व आदिलशाही को बगल में दबाने का साहस न कर सका, जो अनेक पीढ़ियों से जाधवराव, निम्बालकर, मोहिते आदि उच्च कुल के मराठों का निकट सम्बन्धी बना रहा उसी दिगन्तकीर्ति भोसलेवंशीय शाहजी के पुत्र को हमारे व्यवसाय-बन्धु यदुनाथ सरकार "ऑब्सक्योर, ऑव नो हाई फॅमिली इन्फ्लुएन्स" तथा "ऑफ वेरी स्मॉल मीन्स" जैसे शब्दों में सिफारिश करते हैं और इन सिफारिशी शब्दों की स्याही तक नहीं सूख पाती कि शिकायत करते हैं कि उस क्षुद्र एवं टुटपूंजिया व्यक्ति ने एक के बाद एक दुर्गों पर अधिकार जमाना प्रारम्भ कर दिया। दरिद्री और टुटपूंजिया आदमी अधिक-से-अधिक पैसे-वाले की चोरी कर सकता है, दुर्ग के बाद दुर्ग छोटी-सी जेब में कैसे रख सकता है, इसका रहस्य जानने के लिए सचमुच किसी बंगाली बाजीगर के पैर छूने पड़ेंगे। कदाचित दरिद्री और टुटपूंजिया शिवाजी का दुर्ग पर दुर्ग जीतना मन्त्र-सामर्थ्य का चमत्कार हो। यदि यदुनाथ महाशय का यही गर्भित आशय हो तो शिवाजी की जादूगरी की नयी खोज करने के उपलक्ष्य में हम प्रोफेसर महोदय का खुले हृदय से तथा उत्फुल्ल मन से अभिनन्दन करने में अपना सौभाग्य मानते हैं और मुसलमान इतिहासकारों का एकनिष्ठ फोनाग्राफ बनने में उन्होंने जो कमाल हासिल किया है उसके उपलक्ष्य में बधाई देते हैं।

प्रोफेसर सरकार द्वारा शिवाजी पर जादूगरी और मन्त्र-सामर्थ्य का जो गर्भित आरोप अनजान में किया गया हमें प्रतीत होता है वैसा आरोप शाहजी पर भूलकर भी न किसी ने किया, न कोई कर भी पायेगा। संकट के समय शाहजी अपनी कुलदेवी अम्बाबाई तथा कुलदेवता शिखर-शिंगणापुर के महादेव का स्मरण करता था, परन्तु अम्बाबाई अथवा महादेवजी उसके भीतर प्रवेश कर शिवाजी की भाँति भविष्यवाणी नहीं कराते थे। पिता-पुत्र में जो महान् अन्तर था वह यही है। शिवाजी के ये शब्द कि अम्बाबाई और शम्भु-महादेव हम पर प्रसन्न हैं और स्वधर्म की रक्षा के हेतु स्वराज्य की स्थापना करना हमारा जो कर्तव्य है, उसमें उनकी कृपा से हम सफल होकर रहेंगे, कभी शाहजी के मुख से नहीं निकले। वह मन्त्र-सामर्थ्य शिवाजी जैसे राष्ट्र की रचना करनेवाले बाजीगर में ही हो सकती थी। महाराष्ट्र की देवता-धर्मनिष्ठ भोली-भाली जनता शंकर-पार्वती को स्वयं शिवाजी की देह में निवास कर दुष्टों का संहार तथा साधुओं की रक्षा करते हुए देखे और शिवाजी का शुभ-चिन्तन ही नहीं, स्वयं उसका अनुयायी बन जाना अपना कर्तव्य समझे तो,

कोई आश्चर्य नहीं। मुसलमानों पर बादशाहत करने का अवसर आते ही नेपोलियन ने कहना प्रारम्भ किया कि मैं इस्लाम का कट्टर अनुयायी हूँ और यदि अवसर पाता तो वह नयी कुरान लिखे बिना न रहता! शिवाजी के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है। अतिमानवीय जन सामान्य देवता-धर्म के धरातल से ऊपर रहते हैं। अम्बाबाई ही क्या, कोई भी देवता शिवाजी के मुख में भविष्य-वाणी कराने में गर्व करता। देवताओं तक का आधिपत्य करना शिवाजी और नेपोलियन-जैसे महापुरुषों के लिए ही सम्भव था, वह शाहजी जैसे व्यावहारिकों के बूते की बात न थी। समय, प्रसंग और व्यक्ति को देखकर धीरे-धीरे ऐसा कार्य करते हुए सिद्धि के मार्ग पर बढ़ना जो सबको प्रिय लगे, शाहजी की विशेषता थी और इस कोटि के उत्तम पुरुषों में शाहजी उच्च स्थान का अधिकारी था।

यहाँ तक हमने शाहजी के जीवन-चरित्र का स्थूल वर्णन कर उसकी नीति एवं कर्तव्य-पालन का जो अल्प विवेचन किया उससे स्पष्टतः यह बात ध्यान में आई होगी कि शाहजी ने यौवन से लेकर वृद्धावस्था तक पूरे पैंतालीस वर्ष स्वराज्य—वह चाहे स्वतन्त्र हो, प्रच्छन्न हो अथवा माण्डलिक हो—स्थापित करने में व्यतीत किये। अन्त में माण्डलिकता स्थापित करने में उसे सफलता प्राप्त हुई। माण्डलिकता नाम मात्र थी, पर वह निःसंशय माण्डलिकता थी। इतिहास साक्षी है कि शाहजी की उग्र सेना को देखकर उसका स्वामी आदिलशाह शाहजी से भय खाता था। अतः कहें कि शाहजी अपनी जागीर का अनियन्त्रित सत्ताधारी शासक था तो जरा भी अतिशयोक्ति न होगी। शाहजी पर किसी का जोर चल पाता था तो वह उसके सहायक कूटनीतिज्ञों का अथवा उच्च मराठा सरदारों का था। विदेशी कर्नाटकी प्रजा के दबाव में वह आने-वाला न था। कूटनीतिज्ञों एवं सरदारों का कर्तव्य है कि जब राजा चाहे वे उसे सलाह दें। उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं कि आप यही कीजिए; यह बिलकुल न कीजिए। तात्पर्य, शाहजी का कर्नाटक का राज्य पूर्णतः निरंकुश था, फिर भी महसूल-वसूली और न्याय-दान के सम्बन्ध में उसने पूना प्रदेश में प्रचलित पद्धति कर्नाटक में कुछ इस प्रकार जारी की कि सारी प्रजा प्रसन्न हो उठी। जिन कार्यों से शाहजी कर्नाटक की प्रजा में लोकप्रिय हुआ वे यह थे कि उसने जब शासन-कार्य सम्हाला तबसे मुसलमानों का देवालयों को ध्वस्त करना, स्त्रियों पर अत्याचार करना, सेठ-साहूकारों से बलपूर्वक धन छीनना और किसानों को चूसना सदा के लिए बन्द हो गया। कर्नाटक की हिन्दू प्रजा ने आदिलशाह, कुतुबशाह या मुगलों का मुख देखने तक की इच्छा न की। दे

मे सुरक्षा और शान्ति की स्थापना होने पर भारत की विचारवान तथा त्रस्त हिन्दू जनता शाहजी के कर्नाटक को सानन्द और साभिमान देखने लगी।

वैदिक, पण्डित, शास्त्र, मल्ल, गायक, कवि, साधु, सन्त, शैव, वैष्णव, रामानुज-सम्प्रदायी, अनेक गुणी जन एवं भिन्न पन्थीय व्यक्ति शाहजी के दर्शनो के लिए पधारने लगे। भाट-चारण आदि देश-विदेश मे शाहजी की स्तुति के गीत और पोवाड़े गाकर सुनाने लगे कि दक्षिण मे अभी-अभी एक हिन्दूराज्य की स्थापना की गई है और राजा शाहजी नामक एक अवतारी वीर पुरुष द्वारा की गई है। जयराम कवि की सिफारिश है कि युधिष्ठिर, विक्रम तथा शालिवाहन आदि शककर्ता शाहजी के पासंग बराबर भी नही हैं। शक-सम्वत् १२०० से शक-सम्वत् १५०० तक तीन सौ वर्षों के बीच शाहजी जैसा महान् हिन्दू शासक इतिहास में नही मिलता। इस तथ्य को ध्यान मे रखें तो कौन कहेगा कि जयराम कवि की उक्ति यथार्थ है? यहाँ जयराम द्वारा प्रयुक्त एक शब्द के चमत्कारपूर्ण प्रयोग के सम्बन्ध में चर्चा करना उचित जान पड़ता है; वह शब्द है "शक"। जयराम ने युधिष्ठिर, विक्रम तथा शालिवाहन के प्रति कहा है:

युधिष्ठिर विक्रम शालिवाहन शक।
त्याहूनि महाराजा कीर्तिनें अधिक ॥१॥[1]

अवतार तूं शाह तुझा महिमा शक हो असके न सकते करूं।[2]

उक्त चरणो मे जयराम ने युधिष्ठिर, विक्रम तथा शालिवाहन को "शक" कहा है। "शक" शब्द यहाँ किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? यहाँ जयराम उक्त तीनों महापुरुषों को हूणादि अहिन्दू शक निस्सन्देह नही कहना चाहता। तब वे तीन "शककर्ता" कैसे हुए? ऐसा लगता है कि "शक" शब्द "शक्": ऐश्वर्य धातु में "अ" प्रत्यय जुड़कर बना है। "शक्" से जिस प्रकार कर्तृवाचक शब्द "शक्र" बनता है उसी प्रकार "शक्" से "शक" कर्तृवाचक बनाया गया है।

शक्र का विशिष्ट अर्थ इन्द्र भले ही हो फिर भी सामान्य अर्थ ईश्वर, राजा, सामर्थ्यशील व्यक्ति, सत्ताधारी आदि है। वही अर्थ "शक" का है। शक

---

१ युधिष्ठिर, विक्रम तथा शालिवाहन "शक" हैं, पर महाराजा (शाहजी) की कीर्ति इनसे भी बड़ी है—अनु०।

२. हे शाह, तुम अवतारी पुरुष हो। तुम्हारी महिमा "शक" है जिसकी बराबरी कोई अकेले नहीं कर सकता—अनु०।

अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्यवान तथा काल-प्रवर्त्तक राजा। युधिष्ठिर, विक्रम तथा शालिवाहन के लिए वे विशेषण सही हैं। यदि जयराम का अभिप्राय सर्वमान्य हुआ तो पुराणेतिहास के एक रहस्य का सदा के लिए पता चल जायगा। काल-प्रवर्तक राजा-वाचक "शक" तथा एक अहिन्दू म्लेच्छ जाति वाचक "शक" शब्द समान उच्चारण के होने से सामासिक "शालिवाहन शक" का अर्थ अनेक अनुसन्धानकर्त्ताओं को भ्रम में डाल देता है। शक नृपकाल शककाल, शके, शाके इत्यादि शब्दों में म्लेच्छ शक लोगों के राजाओं के सम्बन्ध में कुछ कहा गया प्रतीत होता है जो एकदम स्वाभाविक है। अतः कई इतिहासकारों एवं पुराणेतिहास अनुसन्धानकर्त्ताओं ने शक-काल का प्रारम्भ म्लेच्छ शकों के किसी-न-किसी राजा के अभिषेक-काल से माना है। ऐसा करते समय एक बात की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। हिन्दू अपने धार्मिक कार्यों मे किसी अहिन्दू अतः धर्मबाह्य काल-गणना का उपयोग किसी स्थिति में नही करेंगे। जयराम कवि का अर्थ ग्रहण करें तो सब कठिनाइयाँ हट जाती हैं। शालिवाहन को काल-प्रवर्त्तक शक कहा जाता है। "शक्" धातु मे "अ" प्रत्यय जुड़कर क्रियार्थक "शक" तैयार है। क्रियार्थक शक का अर्थ है सत्ता, अधिकार, शासन; "शक" का प्रयोग मराठी में आज भी इस अर्थ में किया जाता है। युधिष्ठिरशक, विक्रमशक आदि शब्दप्रयोगों में शक का सत्ता, शासन अर्थ लें तो वे अदुष्ट सिद्ध होते हैं और युधिष्ठिर, विक्रम, शिव, शिलाहार आदि नामों के साथ "शक" जोड़ा जाय तो किसी प्रकार की विपरीतता का अनुभव नही होता।

जयराम कवि ने शाहजी के लिए "शक" का जो प्रयोग किया है उससे एक अनुमान यह भी किया जा सकता है कि तत्कालीन जनता देख रही थी कि देश में एक नया उपक्रम हो रहा है, यवनों की सत्ता पतित हो गई है और उसके स्थान पर हिन्दुओं की सत्ता प्रचलित हो रही है; उस सत्ता का वही रूप है जो शककर्त्ता शालिवाहन की सत्ता का था। उस समय यह तो नहीं कहा जा सकता था कि "शककर्त्ता सत्ता" शाहजी के शासन द्वारा ही प्रकट होगी। निस्सन्देह कुछ मेधावियों ने अनुमान अवश्य कर लिया होगा कि शाहजी एक दिन शककर्ता बनकर रहेगा। आज तीनसौ वर्षोपरान्त हम कह सकते हैं कि उस अनुमान में विशेष सत्य नहीं था क्योंकि हम शाहजी का आद्योपान्त चरित्र देख चुके हैं। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि शाहजी की सत्ता शककर्त्ता की सत्ता नही थी। वह एक माण्डलिक की सत्ता थी इसलिए

शककर्त्ता की नहीं थी, ऐसा न समझें क्योंकि प्रबल माण्डलिक सत्ता दुर्बल अधिराजा को पदच्युत कर स्वयं अधिसत्ता बन सकती है। परन्तु उस प्रबल माण्डलिक सत्ता में राष्ट्र नामक शक्ति का पूर्वसिद्ध अधिष्ठान होना चाहिए। शाहजी की सत्ता वैयक्तिक सत्ता थी। उसके रहने पर उसकी सत्ता की प्रचण्डता दृग्गोचर होती, उसके चले जाने पर प्रचण्डता भी मिट जाती। इस प्रकार की वैयक्तिक सत्ता की नींव पर काल-प्रवर्त्तन का प्रासाद नहीं रखा जा सकता।

शक-कर्तृत्व का प्रासाद राष्ट्र-भावना की पक्की नींव पर स्थित होता है। शाहजी के जीवन-काल में महाराष्ट्र का मराठा समाज राष्ट्र की कोटि तक प्रगति नहीं कर पाया था, वह केवल "जाति" बन चुका था। जिस जाति के अधिकांश व्यक्तियों के हृदय में यह भावना घर कर लेती है कि अपने देश का शासन—विशेषकर राजनीतिक शासन—कार्य हमीं करेंगे और जिस जाति के व्यक्ति इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए जान हथेली पर रखकर कार्य करते हैं वही जाति राष्ट्र कहलाती है। जिस समुदाय में इस भावना का विकास नहीं होता वह मात्र "जाति" बना रहता है। एक देश, एक भाषा, एक आचार-विचार, वश, धर्म तथा कानून आदि सामान्य बन्धन भले ही विद्यमान हों पर जब तक राजनीतिक कार्यभार स्वयं वहन करने की, शासन करने की, स्वराज्य की उत्कट इच्छा का अभाव रहता है तब तक राष्ट्र की पाँत में नहीं बैठ सकते। शाहजी-कालीन महाराष्ट्र के मराठों में बहुत कम लोग ऐसे थे जिनमें राजनीतिक चेतना का विकास हो चुका हो। यदि कहें कि शासन-कार्य स्वयं करने और आवश्यकता हो तो उसकी सिद्धि के लिए प्राण विसर्जित कर देने का संकल्प शाहजी और उसके कुछ ब्राह्मण कूटनीतिज्ञों ने ही किया था तो अतिशयोक्ति न होगी। संकल्प उन्होंने किया था क्योंकि तभी तो वे चार यवन बादशाहों से चालीस वर्ष तक जूझते रहे; लूला-लँगड़ा ही सही, पर स्वराज्य स्थापित करने का वीर-कृत्य कर सके। उसी वीरवृत्ति का मराठा समाज ने अनुकरण किया; शिवाजी के काल में मराठा समाज के असंख्य व्यक्तियों ने स्वराज्य की अदम्य उत्कण्ठा से प्रेरित होकर राष्ट्र की उपाधि प्राण होम कर प्राप्त की। वह अद्भुत कथा शककर्त्ता श्री शिवाजी महाराज के शासन-काल में घटित हुई अतः यहाँ तत्सम्बन्धी विवेचन करना अप्रासंगिक होगा।

स्वराज्य की नींव शाहजी ने क्यों और कैसे डाली ?

अब केवल दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सरसरी नजर डालकर यह प्रास्ताविक

लेख समाप्त करेंगे। प्रथम प्रश्न है तत्कालीन रियासतों का। रामनगर, बागलाण, जह्वार, फलटण, जत, मुधोल, सावन्तवाडी, सोन्धें, प्रभानवल्ली, शृंगारपुर, जावली, आदि छोटी-मोटी हिन्दू और मराठा रियासतें महाराष्ट्र में शाहजी के काल में विद्यमान थी। उन्होंने मुसलमानों की सत्ता उखाड फेंकने या उसे जर्जर बना देने का प्रयत्न क्यों नही किया? यह उत्तरदायित्व शाहजी जैसे नौसिखुए मनसबदार पर ही क्यो पड़ा? सच कहें तो सेना, धन, प्रजा, कूटनीतिज्ञ, विचारक, योद्धा और नेता उत्पन्न करना अथवा होना शाहजी जैसे एक मुसलचन्द मनसबदार की अपेक्षा पुरातन वंश-परम्परागत रियासती राजाओं के लिए अधिक सुविधाजनक था। फिर भी देश के वे स्वभावसिद्ध नायक निर्माल्यवत् निस्तेज और सुस्त क्यों बने रहे? जह्वार की रियासत पूरी तरह वन्य मछुओं द्वारा निर्माण की गई थी अतः उसके निवासियो मे मराठो की उच्चतर महत्वाकांक्षी राजनीतिक मनोरचना का प्रकट होना नितान्त असम्भव था। अतः जह्वार को उक्त उल्लेख में स्थान नही दिया जा सकता। शेष रियासती राजा शाहजी की भाँति उच्चकुल के मराठे थे; वे क्यो आराम करते रहे? फलटण, जत, मुधोल, सावन्तवाड़ी तथा जावली के राजा आदिलशाही, निजामशाही अथवा मुगलों के मनसबदार बन चुके थे और मनसबदार पाकर सन्तोष से रहते थे। वे कभी शाहजी का प्रकट विरोध करते थे, तो कभी उदासीनता दिखलाते थे। सोन्धें, प्रभानवल्ली तथा शृंगारपुर के पहाड़ी प्रदेश के मराठा राजा इस्लाम के स्पर्श से दूर थे; इसी कारण वे अपनी-अपनी गुहाओ मे लम्बी तान रहे थे। गुहाओं के बाहर देश मे जो उथल-पुथल मच रही थी उसका उन्हें आभास तक नही था। निजामशाही और मुगल साम्राज्य की सीमा पर बसी रामनगर और बागलाण रियासतों को तो कम-से-कम अपने इर्द-गिर्द की हलचलों के शोर से हडबडाकर जाग उठना चाहिए था। पर वे भी गलितावस्था मे निश्चिन्त ही थीं।

प्रश्न है कि सार्वजनिक निश्चिन्तता, निश्चेष्टता का क्या कारण था? हम पीछे महाराष्ट्र की यच्चयावत् मराठो-ब्राह्मणों की सार्वत्रिक राजनीतिक निश्चेष्टता का जो कारण बतला आये हैं, वही यहाँ भी पाया जाता है। राष्ट्र-निर्माण करने की, महाराष्ट्र का शासन-कार्य स्वय वहन करने की उत्कट तथा जीवन्त चेतना उन रियासतों के शासकों में अभी तक उत्पन्न नही हो पाई थी। इसी कारण वे राजा उपस्थित परिस्थिति में सन्तुष्ट रहकर उच्च मुसलमान अधिपतियो द्वारा किया गया अपमान तथा सत्ता-संकोच चुपचाप

सहकर जीवन व्यतीत करते थे। उनकी निश्चेष्टता का एक कारण यह है जिसे राष्ट्र-भावना का अभाव कहा जा सकता है।

निश्चेष्टता का दूसरा कारण है राज्य खोने का भय। इस्लामी साम्राज्य के विरुद्ध पैगाम भेजकर अपनी क्षुद्र रियासत का नकली वैभव गँवाने की अपेक्षा वे उसकी रक्षा करने में सन्तोष मानते थे।

तीसरा कारण यह था कि रियासतें मुसलमान सत्ता से बहुत दूर स्थित थीं, इसलिए अधिसत्ता की निर्बलता का उन्हें कोई पता नहीं चल पाता था।

चौथा कारण यह भी था कि उनकी फौजें और सैनिक अत्यन्त क्षुद्र थे। घुड़सवारों की सेना सतत् तैयार रखने और उत्तरोत्तर उसकी संख्या बढ़ाने का उन अहदी राजाओं द्वारा कभी प्रयत्न नहीं किया गया।

निश्चेष्टता का पाँचवाँ कारण यह था कि उत्तम शस्त्रास्त्र क्यों तैयार किये जायें, कहाँ तैयार किए जायें और उसके लिए धन कहाँ से आये आदि बातों का विचार उन बुद्धिहीनों ने कभी नहीं किया।

अन्तिम कारण यह था कि उन राजाओं के दरबार जप-जाप करनेवाले क्षुद्र भिक्षुक ब्राह्मणों और पेट की खातिर तुच्छ कारकुनी करनेवाले निम्न कोटि के व्यक्तियों से भरे पड़े थे। भिक्षुकों-कारकुनों के नेतृत्व में इन्द्र तक को गद्दी छोड़नी पड़ती, अतः नासमझ और अर्द्धवन्य मराठा रियासती राजाओं को निम्न धरातल पर रहना पड़ा तो उसमें आश्चर्य ही क्या ?

उन अधमों की तुलना में शाहजी को देखिए। (१) राष्ट्र निर्माण करने की प्रबल इच्छा, (२) राज्य और राष्ट्र स्थापित करते समय प्राणाहुति देने का संकल्प, (३) मुसलमान अधिसत्ता के केन्द्र में रहने से उसकी न्यूनताएँ, मत्सर-ग्रस्तता, उसके विकार, बल, ऐश्वर्य आदि की सूक्ष्मतम जानकारी, (४) करावुलों की फौज, (५) उत्तम शस्त्रास्त्र, (६) बुद्धिमान तथा चतुर कूटनीतिज्ञों को अपनाने की पुण्यबुद्धि, (७) समस्त साधकों का उचित अवसर पर उचित उपयोग करने की अप्रतिहत बुद्धि, (८) बुद्धि को मूर्त स्वरूप प्रदान करनेवाली वीरता और (९) जन-साधारण को अपने काबू में रखकर मीठे व्यवहार से उसे कार्यरत कराने का दुर्लभ कौशल शाहजी ने जन्मतः और कर्तृत्वशीलता के बल पर पाया था। इसी कारण शाहजी ने स्वराज्य-स्थापना की नींव डाली जिसका अन्य राजाओं ने स्वप्न तक में विचार नहीं किया था। पुरातन रियासती राजाओं और शाहजी में धरती-आसमान का अन्तर था।

१८ | शिवाजी की गुण-सम्पत्ति

बखरकारों ने शिवाजी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का स्वभाव-वर्णन नहीं किया प्रतीत होता। बखरकारों को व्यवस्थित विभाग तथा उचित वर्गीकरण कर लिखने का अभ्यास न था अतः उनके ग्रन्थों में इस विषय के किसी स्वतन्त्र अध्याय की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यद्यपि बखरकारों ने शिवाजी के स्वभाववर्णन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र अध्याय नहीं लिखा है फिर भी शिवाजी के विषय में अनेक आख्यायिकाएँ उनके ग्रन्थों में बिखरी पड़ी हैं। उन आख्यायिकाओं को एकत्र कर शिवाजी के स्वभाव कृतित्व की परिधि का बहुत-कुछ आलेख तैयार किया जा सकता है।

विविध गुण

बखरकार, पोवाड़े तैयार करनेवाले शाहीर[1] तथा अन्य ग्रन्थकारों के लेख-उल्लेखों का अध्ययन करने पर शिवाजी के स्वभाव तथा कृतित्व के विभिन्न पहलुओं का पता चलता है। (१) शैशव (२) यौवन (३) प्रौढ़ायु (४) अन्तकाल (५) मित्रप्रेम (६) मातृप्रेम (७) पितृप्रेम (८) बन्धुप्रेम (९) पत्नीप्रेम (१०) पुत्रप्रेम (११) देशभक्ति (१२) धर्मश्रद्धा (१३) गुरुभक्ति (१४) धर्म-संस्थापनार्थ प्रयत्न (१५) महाराष्ट्र-धर्म पालन (१६) विद्या-व्यासंग (१७) कवित्व-शक्ति (१८) वीर-सम्मान (१९) विद्वानों का आदर-सम्मान (२०) सुसभ्यता (२१) वीरश्री (२२) साहस (२३) श्रम-सहिष्णुता (२४) कार्यबाहुल्य (२५) शिष्टता (२६) राजनीति-धुरन्धरता (२७) कानून की जानकारी (२८) नीति (२९) औदार्य (३०) गुणग्राहिता (३१) समयसूचकता (३२) नम्रता (३३) उद्धतता (३४) ऐश्वर्य (३५) सेनानीत्व आदि सैकड़ों गुणों के प्रमाण यत्र-तत्र प्राप्त होते है। उल्लेखों से शिवाजी के गुणों का आंशिक अनुमान किया जा सकता है।

---

[1] अरबी "शायर"—अनु०।

(१) शिवाजी की रामदास जैसे सन्तों के प्रति नम्रता, (२) औरंगजेब जैसे शत्रुओं के प्रति उद्धतता, (३) तानाजी मालुसरे[१] जैसे मित्रों के प्रति स्नेह (४) श्रीशैलमल्लिकार्जुन के मन्दिर में प्रकट किया गया साहस, (५) कई वर्षों तक सभी ऋतुओं में आठों प्रहर की उद्योग-परायणता आदि गुणों का सोदाहरण निरूपण करने को यहाँ अवकाश नहीं; अतः केवल दिग्दर्शन से सन्तुष्ट रहना होगा।

अवतार-कार्य

बैठे-खेलों में शिवाजी चौसर खेलते थे; जल्दबाजी से गड़बड़ी में मारपीट मे रुचि रखते थे (तानाजी मालुसरे का पोवाडा); पन्ताजी काका, तानाजी मालुसरे आदि घर के लोगों से कभी-कभी हास्य-विनोद भी कर लेते थे। (तानाजी का पोवाड़ा) अफ़ज़लखाँ को बत्तीस दाँतों वाला बकरा कहने और द्वेषमूलक व्यंग्य तथा तिरस्कार से औरंगजेब के लिए शैतान और शिवानष्ट-जैसे शब्द बनाने की कला में वह प्रवीण थे; राजाराम औंधे-मुँह पैदा हुआ तो वह अपशकुन नहीं, शुभशकुन है ऐसा मानने की समयसूचकता शिवाजी में थी; आदि छोटी-मोटी आख्यायिकाएँ बखरकारों ने इधर-उधर दी हैं। भावी इतिहासकार किंचित् परिश्रम से सबका संग्रह कर सकते हैं। वास्तव मे बखरकार स्वयं इन बातों को विशेष महत्त्व नहीं देते, यह सही भी है और उचित भी।

बखरकारो ने इस तथ्य पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया है कि शिवाजी शंकर का अवतार थे; उन्होंने धर्म की संस्थापना के लिए अवतार लिया था। यह उचित भी है। शिवाजी को ईश्वरीय अंश मानने के कारण बखरकार उसकी तुलना समकालीन अथवा दो-चार सौ वर्षों के इधर-उधर जन्म लेनेवाले सामान्य राजाओ से नहीं करते। रघु, दिलीप, धर्मराज, शिवि, श्रियाल, विक्रम, शालिवाहन, भोज, नैषध, कर्ण, अर्जुन आदि असामान्य पौराणिक राजाओं के साथ शिवाजी का नाम लिया जा सकता है, ऐसा बखरकार के विवरणों से प्रतीत होता है। यह कितना वास्तविकता-परिपूर्ण है, इसका प्रमाण आधुनिक लेखकों की रचनाओ मे उत्कृष्ट रीति से मिलता है। बखरकार शिवाजी की तुलना लोकोत्तर पौराणिक राजाओं से करते हैं तो

[१] शिवाजी का बाल्यकालीन मित्र जिसने कोण्डाणा के किले पर प्राण खोकर अधिकार किया। शिवाजी की प्रसिद्ध उक्ति "गड़ आला पण सिंह गेला।"—गढ़ आया पर सिंह गया—इसी तानाजी के लिए कही गई थी—अनु०।

शिवाजी की गुण-सम्पत्ति

आधुनिक महाराष्ट्रीय लेखक उन्हे यूरोप के प्राचीन एवं अर्वाचीन लोकोत्तर वीरों के समान बतलाते हैं। सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन, शार्लमेन, क्रॉमवेल, वॉशिंगटन आदि पाश्चात्य महापुरुषों का उल्लेख शिवाजी के सम्बन्ध मे बारम्बार पढ़ने मे आता है। शिवाजी का कृतित्व और महत्व ध्यान मे ले तो पाश्चात्य पुरुषों की उनसे तुलना करना सामान्य ग्राह्याग्राह्यमूलक लेख मे अश्लाघ्य होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु परीक्षणात्मक ऐतिहासिक लेख मे वही तुलना मान्य की जायगी जो प्रमाणों की दृढ़ नींव पर स्थित होगी। अतः प्रस्तुत प्रसग के सम्बन्ध में इस कथन की सत्यता सिद्ध करने के हेतु शिवाजी के स्वभाव एवं कृतित्व को मापना आवश्यक जान पड़ता है।

पाश्चात्य वीरो से तुलना

शिवाजी-जैसी दिव्य विभूति ने किस उद्देश्य की सिद्धि के हेतु महाराष्ट्र मे अवतार लिया? क्या लोगों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर दिग्विजयी कहलाने के लिए शिवाजी उत्पन्न हुए? अथवा स्वराज्य तथा स्वधर्म की सुरक्षा के लिए उन्होने जन्म लिया? सर्वमान्य है कि शिवाजी का प्रत्येक प्रयत्न स्वराज्य तथा स्वधर्म की संरक्षा के उच्च, उदात्त एव पवित्र हेतु की ओर संकेत करता है। अतः विदेशियों की स्वतन्त्रता छीननेवाले, एक नीच, दुष्ट तथा अपावन हेतु से प्रोत्साहित होनेवाले सिकन्दर सीजर अथवा नेपोलियन-जैसे दिग्विजयी पुरुषों के साथ शिवाजी की तुलना करना अनुचित होगा। हाँ, धैर्य, वीरता, पराक्रम, कर्तृत्वशीलता आदि सद्गुणों की दृष्टि से तुलना करें तो और बात है; हेतु की पावनता का प्रश्न उपस्थित होते ही वे दिग्विजयी वीर पुरुष शिवाजी के सामने नहीं टिक सकते। यहाँ केवल स्वतन्त्रता के लिए जान हथेली पर लेकर घूमनेवाले पवित्र महापुरुषों का प्रवेश हो सकता है। हार्लण्ड के विलियम दि साइलेण्ट अथवा अमरीका के जॉर्ज वॉशिंगटन से ही शिवाजी की तुलना करना उचित होगा। ऐसा न समझें कि पाश्चात्य महापुरुषों से तुलना करने से ही शिवाजी की महानता प्रस्थापित हो सकती है। शिवाजी की योग्यता स्वयंसिद्ध है। सिकन्दर की भाँति शिवाजी ने अपने स्नेही-साथियों की हत्याएं नहीं की। सीजर की भाँति अपनी पत्नी का परित्याग नहीं किया; नेपोलियन ने जैसे ड्यूक डांगिया का अन्यायपूर्वक वध किया; क्रॉमवेल ने जिस प्रकार आयरिश जनता को खुले-आम कत्ल किया उस प्रकार शिवाजी ने किसी भी प्रदेश की जनता के

साध नहीं किया। फ्रेडरिक दि ग्रेट की भाँति शिवाजी दुर्गुणों की खान कतई नहीं थे।

शिवाजी का व्यवहार न्याय, नीति, पराक्रम, स्वधर्म-परायणता तथा परधर्म सहिष्णुता का सर्वोत्तम उदाहरण था। दो-चार सौ लड़ाइयों में विजयी होना, तीन-चार सौ किले मैदान-पहाड़ों या सागर-तीर पर बनवाना, नवीन सेना निर्माण करना, नयी नौ-सेना तैयार करना, स्वयं पद्य-रचना करना, कवियों को प्रश्रय देना, नये शहर बसाना, स्वधर्म की रक्षा करना, गौ-ब्राह्मणों का प्रतिपालन करना, सारांश यह कि स्वदेश को स्वतन्त्र एवं सुखी बनाने के लोकोत्तर कृतित्व से किसी महापुरुष ने अखिल विश्व को अक्षय ऋणी बनाया हो तो वह महापुरुष शिवाजी ही हैं। शिवाजी का .व्यक्तिगत बर्ताव और सार्वजनिक पराक्रम कुछ ऐसा लोकोत्तर था कि उसकी तुलना में किसी भी महापुरुष को खड़ा कीजिए, वह किसी-न-किसी बात में शिवाजी से उन्नीस ही उतरता है। समर्थ रामदास ने इस लोकोत्तर अवतारी पुरुष के बारे में लिखा है—"उनके गुणों से किसकी तुलना करें ? (वे) यशवन्त, कीर्तिवान्, सामर्थ्यवान, नीतिमान, जानकार, आचारशील, विचारशील, दानवीर, कर्मशील, सर्वज्ञ, सुशील, धर्ममूर्ति, निश्चय का महामेरु, अखण्ड साहसी, राजयोगी (हैं)।" ध्यान में रखिए कि ये विशेषण उस युग के एकमात्र निस्पृह एवं स्पष्टवक्ता ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। इससे शिवाजी में पाये जाने वाले जाज्वल्यमान गुणों का अनुमान करना सहज है। इसी कारण जब हम कितने ही अंग्रेज और मुसलमान इतिहासकारों को उस महापुरुष की निन्दा करते हुए पाते हैं तो उनकी परधर्मासहिष्णुता के प्रति मन घृणा से भर जाता है और उनके हृदय की कुत्सा का पता पाने का अवसर मिलता है।

लूट-मार, चोरी-डकैती तथा हत्या का राजनीतिक अर्थ

मुसलमान इतिहासकारों ने शिवाजी के लिए कुत्ता, चूहा, शैतान, गनीम, जैसे अपशब्द प्रयुक्त किये हैं, पर उनके ग्रन्थ पढ़नेवालों की संख्या अधिक नहीं है, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ भी न कहें तो चल सकता है। अंग्रेज लेखकों के प्रति उदासीन रहकर नहीं चल सकता। उन बुद्धिमानों ने शिवाजी को (१) 'अक्षर-शत्रु' से लेकर, (२) डाकू, (३) लुटेरा, (४) हत्यारा तक कहा है। हम पहले ही दिखला चुके हैं कि पहला आरोप नितान्त असत्य है। शेष तीनों आरोप अज्ञानवश एवं कुत्सित बुद्धि से किये गये हैं जो साधार सिद्ध किया जा सकता है। शक-सम्वत् १५६० (सन् १६६३ ई०) से शक-सम्वत् १५६८ (सन् १५४६ ई०) के बीच कोंकण के कुछ स्थानों में यवनों

के विरुद्ध छोटे-मोटे विद्रोह हुए और यवनो के घर-बार लूट लिये गये। उन छोटे-मोटे क्रोध-प्रदर्शनो को मुसलमान इतिहासकार डकैती कहते हैं। यह न जानकर कि डकैती शब्द का किस अर्थ में प्रयोग किया गया है, अंग्रेज लेखकों ने वाच्यार्थ मे स्वीकार कर सन्तोष कर लिया है। ग्राण्ट डफ् ने अपने ग्रन्थ के ग्यारहवें भाग मे कृष्णराव खटावकर का एक पत्र टिप्पणियों में प्रकाशित किया है जिसमें दस हज़ार घुड़सवारों के सेनापतियों को चोर, लुटेरा, डाकू कहा गया है। वे शब्द जिस प्रकार अज्ञानमूलक हैं उसी प्रकार शिवाजी को डकैत कहना अज्ञानव्यजक है। सत्रहवी शती में मुसलमान मराठों को चोर, लुटेरा कहते हैं तो चिढ़कर कहते है। ऐसा बचपना और कायरता यूरोप के इतिहास मे कई पृष्ठों मे खोजी जा सकती है। स्पेन के द्वितीय फ़िलिप के विरुद्ध डचो ने विद्रोह किया और विजय पाई। विद्रोह के समय डचो को स्पेनिश लोगों ने "थीव्ज, रॉबर्स" कहा है। ठीक यही बात महाराष्ट्र में हुई। डच डाकुओ ने स्पेनिश प्रमुखो को जिस प्रकार सीधा कर दिया उसी प्रकार महाराष्ट्र के लुटेरो ने मुसलमानों की नाक काटकर उन्ही को उपहार मे दे दी। इस अपमान से चिढ़कर मुसलमान यदि शिवाजी को और मराठो को लुटेरा कहें तो कोई अस्वाभाविकता नही। समझ में नही आता कि अंग्रेजों ने मुसलमानो के शब्दों का वाच्यार्थ ही क्यों ग्रहण किया।

प्रस्तुत लेखकों ने रामदास के "दासबोध" का अवलोकन किया होता तो वे समझ जाते कि असली लुटेरे और गुण्डे कौन थे ? शिवाजी को नीति का उपदेश देते हुए समर्थ कहते हैं—"प्रस्तुत विद्रोह यवनों का है।" यवनों के गाली-गलौज को लक्ष्य कर वे लिखते हैं—"दुष्ट भाषण देते हैं, नाना प्रकार मे अत्याचार करते हैं, रघुपति को प्रिय नही है, अतः (आपकी) नियुक्ति की है।" अस्तु।

"डकैत" शब्द की मीमांसा इस प्रकार है। "लूट-मार" और "हत्या" की कथा भी इससे भिन्न नही है। ग्राण्ट डफ् ने इसका अर्थ लिखा है—"बड़े पैमाने पर धन-सम्पत्ति लूटना।" सत्रहवी और अठाहरवी शती के बखरकारो के ग्रन्थो में "लूटना" का एक अलग अर्थ दिया गया है। बखरकारो के अनुसार लूटना "शत्रु को युद्ध में हराकर उसकी धन-सम्पत्ति को खुले-आम और कानूनन ले जाना" है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रकाशित "पेशवाई की अन्तिम अखबारी" में लूटना शब्द अंग्रेजों के सिलसिले मे बारम्बार प्रयुक्त किया गया है। जो अर्थ वहाँ ग्रहण किया जाता है वही शिवाजी के लिए भी ग्रहण करना चाहिए। अन्य अर्थ ग्रहण करना अन्याय होगा। शिवाजी ने सूरत को लूटा, इसका अर्थ यह हुआ कि शिवाजी ने शत्रु के प्रदेश पर हमला कर उसकी धन-सम्पत्ति युद्ध-

नियमों के अनुसार अधिकारपूर्वक प्राप्त की। शिवाजी ने सूरत को लूटा, इसका यह अर्थ कि शिवाजी ने सूरत पर डाका डाला ऐसा वही व्यक्ति करेगा जो मराठी भाषा की प्रकृति से एकदम अपरिचित है।

अफ़ज़लखाँ : वध की कथा और अर्थ

"लूट" की भाँति इन लेखकों ने "वध" शब्द का सही-सही अर्थ समझने का कष्ट नहीं किया। अपने इतिहास के नवें भाग के अन्त में शिवाजी के कार्यों और स्वभाव की मीमांसा करते समय ग्राण्ट डफ़ ने यह लिखकर कि "अफजलखा वाज मर्डर्ड" शिवाजी पर अप्रत्यक्षतः हत्या का आरोप किया है। श्री लक्ष्मणराव चिपलोणकर ने अपने इतिहास में ग्राण्ट डफ़ के अन्य आक्षेपों का तर्कसिद्ध उत्तर देने का प्रयत्न किया है परन्तु अफ़ज़लखाँ के प्रकरण की प्रमुख घटना का वर्णन करते समय चिपलोणकर महोदय भी डफ़ की भाँति भूल कर बैठे हैं। इसलिए उनके उत्तरों में वह बल नहीं है जिसकी अपेक्षा की जाती थी। यही नहीं, उपर्युक्त वाक्यांश उनकी आँख से ओझल हो गया प्रतीत होता है, इस कारण ग्राण्ट डफ़ तो उनकी गिरफ़्त से बिलकुल छूट गया है। ग्राण्ट डफ़ ने अपने इतिहास के चौथे भाग में कहा है कि "अफ़ज़लखाँ शिष्टाचारानुसार ज्यों ही शिवाजी से मुक्त हृदय से भेंट करने को बढ़ा त्यों ही शिवाजी ने उसके पेट में बघनख घुसेड़ दिया।" अगीनदास ने अपने पोवाड़े में लिखा है—"इतुकिया उपरि अबदुल मनी खवलता पुरा। कव मारिली अवदुल्यानें। सरजा मवगून धरला सारा। चालविली कट्यार।"[1] अफ़ज़लखाँ वाला पोवाड़ा पूर्णतः विश्वसनीय होने से दी गई घटना सत्य माननी चाहिए। पहले अफ़ज़लखाँ ने कटार चलाई, तब कहीं शिवाजी ने अपनी रक्षा के लिए खाँ के पेट में बघनख घुसेड़ा। वास्तविकता यही है। स्वरक्षार्थ किये गये इस कार्य को बखरकारों ने "वध" कहा है। ग्राण्ट डफ़ द्वारा प्रयुक्त "मर्डर" मराठी के "वध" से भिन्न है। वध "राइट्स किलिंग" है और मर्डर "अनराइट्स किलिंग"। अफ़ज़लखाँ-अध्याय की पूरी कथा ज्ञात न होने के कारण, बखरकारों द्वारा शिवाजी की प्रशंसा की जाने पर ग्राण्ट डफ़ उसका भी विपरीत अर्थ देता है : "मराठे राजनीतिक कारणों से हत्या करना न्यायोचित समझते हैं।" इस प्रकार डफ़ ने मराठों की अकारण निन्दा की है। उपर्युक्त विवेचन

---

[1] "इसके उपरान्त अफ़ज़लखाँ मन-ही-मन सन्तप्त हुआ। अफ़ज़लखाँ ने घेरकर पकड़ लिया। शिवाजी को पूरी तरह जकड़ लिया। कटार चलाई।" अफ़ज़ल और अब्दुल में मराठी में विशेष अन्तर नहीं माना गया है—अनु०।

से विदित होगा कि वह निन्दा कैसी अवास्तविक, कुत्सा प्रकट करनेवाली तथा कुबुद्धि की परिचायक है। शिवाजी ने हत्या की, इसे स्वीकार कर उसका दोष श्री चिपलोणकर मराठों की तत्कालीन नीति को देकर राष्ट्रापमानकारक तथा व्यक्तिगुणापकर्षक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं और ग्राण्ट डफ द्वारा की गई शिवाजी की भूतकालीन तथा मराठों की वर्तमानकालीन निन्दा अकारण मान्य कर लेते है। ऐसी कोई बात नही थी। अफजलखाँ की हत्या करने की अपेक्षा उसे गिरफ्तार करना शिवाजी के लिए अधिक लाभदायक था, फिर भी उसे खाँ का वध करना पड़ा ; सत्य यही निहित है। तत्कालीन रीति के अनुसार दोनों शस्त्रधारी थे। अफ़ज़लखाँ पहले शस्त्र चलाये और शिवाजी चुप रहे; कुछ समझ मे नहीं आता।

'कुत्ता" शब्द के सम्बन्ध में रामदास का विवेचन अत्यन्त मार्मिक है। वे दासबोध में कहते हैं—"धर्मद्वेषी सब कुत्ते हैं।" अस्तु। बखरकारो तथा तवारीखकारो का आशय भली भांति न समझ पाने के कारण अंग्रेज इतिहासकारों से जो अनेक भूलें हुई हैं, जो अनेक गलतफ़हमियाँ फैलाई गई है, उनमें से कुछ का निर्देशन ऊपर किया है। बखरकारों तथा रामदास द्वारा शिवाजी के स्वभाव-वर्णन के समय यह उप-विवाद उपस्थित हुआ। मराठा वीर पुरुषो पर विदेशी लेखकों द्वारा लादे गये दोष इधर दस-बीस वर्षों से महाराष्ट्र मे सत्य माने जाते हैं इसलिए यह विस्तृत चर्चा की, ऐसा न समझिए। चूंकि विदेशी लेखकों ने मराठों पर झूठे दोषों का आरोप करने का कष्ट किया है इसलिए किसी-न-किसी को उनकी असत्यता दिखलाने का कष्ट करना ही पड़ेगा, केवल इसी भावना से यह शब्द-युद्ध जान-बूझकर सक्षिप्त रखा गया है।

दासबोध स्वल्प वाटे नरा । तो जाणावा ग्रात्महत्यारा ।
जेथे अतिसूक्ष्मचि विचारा । फटके होती ॥२१॥ दशक ६॥[1]
—कुबडी[2]

स्वामी[3] के साहित्य का लोक-मानस पर प्रभाव

नासिक से लेकर कोल्हापुर तक फैले हुए महाराष्ट्र का श्रीमत् समर्थ रामदास स्वामी "आनन्दवनभुवन" के नाम से उल्लेख करते हैं (स्वामी की बखर, दूसरा संस्करण, पृष्ठ ४६६) । इस आनन्दवनभूमि के प्रायः प्रत्येक नगर तथा देहात में स्वामी का एक-न-एक ग्रन्थ निश्चयपूर्वक संग्रह किया जाता है । समर्थ की विचार-प्रणाली ने महाराष्ट्रीय जनता के मन में इतना गहरा स्थान पाया है कि बीसियों जाति के लोगों में एक भी ऐसा व्यक्ति न मिलेगा जिसके कानों ने समर्थ-रचित "मन के श्लोक" के एकाध श्लोक का चरण न सुना हो । समर्थ के "मन के श्लोक" की व्याप्ति की आंशिक तुलना देवीदास[4] के "व्यकटेशस्तोत्र" से करें तो और बात है, पर व्यकटेशस्तोत्र" शूद्रादि कनिष्ठ वर्णों में अधिक प्रचलित न होने के कारण रामदास स्वामी के "मन के श्लोक", की सर्व-व्याप्ति अनन्य साधारण बनी ही रहती है । इन श्लोकों की सर्व-व्याप्ति का प्रमुख कारण यह है कि वे अत्यन्त सुबोध हैं; यही नहीं, वे अत्यन्त अशिक्षित व्यक्ति के मन को भी स्पर्श करते हैं । उनका पाठ भी सरलतापूर्वक किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त उनकी रचना में एक ऐतिहासिक रहस्य

---

१ दासबोध छोटा मालूम पड़ता है, पर वह आत्मशास्त्र के समान है; जहाँ अतिसूक्ष्म विचार करना पड़ता है, वहाँ तो वह खड्ग का काम देता है—अनु० ।

२ रामदास का एक ग्रन्थ ।

३ श्री समर्थ रामदास स्वामी को महाराष्ट्र में आदरपूर्वक "समर्थ" अथवा "स्वामी" कहा जाता है । यहाँ दोनों नामों का उपयोग किया गया है—अनु० ।

४ एक मराठी सन्त-कवि (सन् १६०८-१६४८ ई०)—अनु० ।

निहित है—वह यह कि श्लोकों की छन्द-रचना मुसलमान फकीरों के फारसी, उर्दू तथा मराठी "सवालों"[1] की छन्द रचना से हू-ब-हू मिलती है। उदाहरणार्थ, करीम का प्रथम चरण लीजिए—

I S S	I S S I	S S I	S
करीमा	बवक्शाय	बरहाल	मा

से तुलना के लिए "मन के श्लोक" के पहले और दूसरे श्लोक के प्रथम चरण लीजिए :

I S S I	S	S I	S S	I S S
गणाधीश	जो	ईश	सर्वा	गुणाचा ॥
I S	S I S	S I	S S I	S S.
मना	सज्जना	भक्ति	पथेंचि	जावें ॥

"रामदासी" श्लोकों की रचना भुजंगप्रयात छन्द में की गई है। इस छन्द तथा फारसी करीम के छन्द में अन्तर इतना ही है कि करीम के चरण में अन्त्य यगण का दीर्घ वर्ण नहीं है।

समर्थ के समय में मुसलमानों के पीर और उनके "तकिए" महाराष्ट्र के छोटे-से-छोटे देहात तक मे फैल चुके थे और अज्ञ सामान्य जनता इन पीरों, तकियों और फकीरो के मायावी चंगुल मे कुछ इस प्रकार फँस चुकी थी कि स्वय श्रीसमर्थ को तथा शिवाजी को उन्हे मुक्त करने के लिए अनेक छोटे-बड़े उपाय करने पड़े। फकीर के "सवालों" का अनुकरण करने वाली छन्द-रचना का उपाय यों तो मामूली था परन्तु था अत्यन्त गुणकारी। कहना न होगा कि रामदासी श्लोक तथा फकीरो के "सवाल" एक साथ सुनकर देहात के मर्म-ग्राही गुणीजनों को बादशाही धर्म की परीक्षा लेने की बहुत अच्छी सुविधा प्राप्त हुई होगी।

साधुओं द्वारा लिखित जीवनियाँ

स्वधर्म तथा स्वदेश के स्नेहवश समर्थ ने जो छोटे-बड़े प्रयत्न किये उनका फल स्वयं उन्होने अपने जीवन काल में पाया ही; उनके उपरान्त भी उन फलों की मधुरता की स्मृति सारे महाराष्ट्र में आज तक जीवित है। गत छह सौ वर्षों में महाराष्ट्र में जिन पुरुषोत्तमों ने जन्म लिया उनमें दो वीर पुरुषों—समर्थ रामदास स्वामी तथा छत्रपति शिवाजी महाराज—की जितनी जीव-

---

१ सवाल : आध्यात्मिक विषयों को लेकर पद्यमय प्रश्नोत्तर—अनु०।

नियाँ लिखी गई उतनी किसी ग्रन्य की नही। १८वी शताब्दी में रचित सन्तो की पद्यात्मक जीवनियों मे समर्थ की पाँच संक्षिप्त जीवनियाँ प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उनकी अन्य पाँच जीवनियाँ उसी तथा अगली शताब्दी में उनकी शिष्य परम्परा के साधुओ द्वारा लिखी गई है। उनमें से दो पद्य में तथा तीन गद्य में लिखो गई है। (१) गंगाधर स्वामी द्वारा शक सम्वत् १६४० (सन् १७१८ ई०) मे वर्णित जीवनी; (२) उद्धवसुत केशव-शिष्य लक्ष्मण कृत ओवीबद्ध[1] जीवन-चरित; (३) आत्मारामबोवा[2] कृत ओवीबद्ध जीवनी; (४) श्रीहनुमन्तस्वामी[3] कृत "रामदास स्वामी की बखर" तथा (५) थाना के "सूर्योदय" में प्रकाशित जीवन-चरित। इनमें से पहली रचना अप्रकाशित है। अन्तिम चार जीवनियाँ इस लेखक की दृष्टि में वैसी नहीं है जैसी कि होनी चाहिए, फिर भी पर्याप्त विस्तृत तथा तर्कसंगत हैं। इन चार जीवनियों के अतिरिक्त तुकाराम बोवा[4], वामन पंडित[5], अनन्त कवि[6], मोरोपन्त[7] आदि कवियों द्वारा तथा वर्तमान छोटे-बड़े लेखको तथा वक्ताओं द्वारा समय-समय पर

---

१ चार चरण युक्त एक अत्यन्त लोकप्रिय मराठी छन्द जिसे महाराष्ट्र के सन्त कवियों ने खूब प्रयुक्त किया। ओवी में वर्ण तथा मात्राएँ अनियमित होती हैं, पर सामान्यतः अष्टाक्षरी-साढ़े तीन चरणी अथवा अष्टाक्षरी त्रिचरणी रूप पाये जाते हैं—अनु०।

२ आत्माराम द्वारा लिखित "दासविश्रामधाम" अत्यन्त वृहद चरित-ग्रन्थ है और सम्प्रदायों में सम्मानित है। आत्माराम, रामदास की शिष्य-परम्परा मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है—अनु०।

३ हनुमन्तस्वामी रामदास के ज्येष्ठ बन्धु के परिवार के व्यक्ति थे, इनके द्वारा लिखी गई बखर बहुत प्रामाणिक मानी जाती है—अनु०।

४ सन्त कवि तुकाराम—अनु०।

५ अनुप्रासमय शैली का प्रसिद्ध कवि-जिनकी "यथार्थ-दीपिका" नामक बाईस हज़ार ओवियों में निबद्ध गीता-टीका, वेदान्त-विषयक "निगमसार" ग्रन्थ तथा अन्य आख्यानक कविताएँ पुरानी पीढी में बहुत लोकप्रिय रही—अनु०।

६ रामदास का शिष्य। आख्यानक कवि—अनु०।

७ मराठी का श्रेष्ठ पंडित कवि जिसने लगभग पौन लाख रचनाएँ कीं, जिनमें से साठ हज़ार उपलब्ध हैं। मोरोपन्त की "महाभारत", "रामायण" आदि वृहद रचनाएँ हैं। विभिन्न छन्दों में अनुप्रासप्रचुर रचना करने में सिद्धहस्त—अनु०।

गाये गये सैंकड़ों पोवाड़ो का मात्र नामोल्लेख विशालकाय ग्रन्थ का रूप धारण कर लेगा। शिवाजी की जीवनियाँ भी नाना प्रकार से लिखी गई हैं। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि महाराष्ट्र की जनता बहुत प्रारम्भ से साधु तथा वीर पुरुषों के जीवन-चरित बड़े चाव से सुनती, और संग्रह करती आई है; पर यह भी प्रकट होता है कि पाश्चात्य ग्रन्थकारों द्वारा भारत की समस्त जनता पर अपने इतिहास के प्रति अनभिज्ञता का जो खुले आम आरोप किया जाता है वह जहाँ तक महाराष्ट्र का सम्बन्ध है, सम्पूर्णत: नहीं तो अंशत: अवास्तविक ही है। यही नहीं, दिनों-दिन प्रगत होनेवाली अभिरुचि संकेत करती है कि यह आरोप समूल नष्ट होने में अधिक समय न लगेगा। इतना अवश्य कहना होगा कि सब लोगों को आलस्य त्याग कर सहायता करनी चाहिए, इस कार्य मे यदि अपनी जेब से खर्च हो तो भी चिन्ता की बात नहीं है।

मराठी साधु तथा कवियों के साहित्य के प्रकाशन की स्थिति

जिस प्रकार समर्थ के अनेक चरित्र लिखे गये उसी प्रकार पिछले अस्सी वर्षों में जब से इस प्रदेश मे मुद्रण-कला का प्रारम्भ हुआ तब से समर्थ के ग्रन्थों के अनेक संस्करण भी प्रकाशित हुए। जिस व्यक्ति ने मुद्रणालय खोला उसने समर्थ का कम-से-कम एक ग्रन्थ तो प्रकाशित किया ही। केवल "दासबोध" ही दस-पाँच स्थानों पर अलग-अलग रूप में प्रकाशित किया गया है। समर्थ के ग्रन्थों ने असामान्य लोकप्रियता प्राप्त की। इसी लोकप्रियता के आधार पर कई प्रकाशकों ने इन दस-बारह वर्षों में समग्र रचनाएँ प्रकाशित की हैं; किन्तु इनके लिए समग्र विशेषण शोभा नही देता। सन् १८९० ई० में श्री माड़गांव-कर ने समर्थ के समग्र ग्रन्थ छापे जिनमें पूना के ज्ञानप्रकाश मुद्रणालय के सन् १८७९ ई० में प्रकाशित पुस्तक के अनेक अध्यायों का समावेश किया गया है। आगे चलकर सन् १९११ ई० में श्री तेण्डुलकर ने श्री समर्थ के समस्त ग्रन्थ प्रकाशित किये; उनमें न ज्ञान-प्रकाशवाली पुस्तक के अध्याय हैं और न "दास-बोध" ही। इन न्यूनताओं को छोड दें तो उनके प्रकाशन अवश्य "समस्त" के अधिकारी हैं। अभी-अभी दो महीने पूर्व श्री गोन्धलेकर ने समर्थ की समस्त रचनाएँ निर्णयसागर मुद्रणालय से प्रकाशित कराई हैं। उसमें भी उनके बहुत से अध्याय नहीं आ पाये हैं। श्री माड़गांवकर द्वारा परित्यक्त "कुबड़ी"[१] को श्री गोन्धलेकर ने अवश्य अपनी बगल के नीचे रख छोड़ा है पर इससे उनका लंग किसी भाँति छुप नहीं पाया है। उन्होंने श्री तेण्डुलकर के ग्रन्थ के तथा

---

[१] "बैसाखी" के अर्थ में—अनु०।

ज्ञानप्रकाश-मुद्रित ग्रन्थ के अनेक प्रकरण छोड़ दिये हैं। वे प्रकरण समर्थ की रचनाएँ नहीं हैं, ऐसा मानकर छोड़ दिया हो, ऐसी बात नहीं। शुद्ध अज्ञानवश ऐसा हो गया है। उनका मुख्य दोष यह है कि उन्होंने इस बात की खोज तक नहीं की कि हम जो कार्य करने को उद्यत हुए हैं वह पहले से हो भी चुका है या नहीं; अथवा कितना हुआ और कितना शेष है। थाना अथवा बम्बई के ग्रन्थसंग्रहालय में जाकर खोज करते या अपनी ही दूकान की पुस्तकों को उलट-पुलट कर देखते तो स्वामी के कुल ग्रन्थों की संख्या, प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या और अपने प्रकाशन को सम्पूर्ण बनाने के लिए और कितने ग्रन्थों की आवश्यकता है, इन सब बातो की जानकारी भलीभांति प्राप्त हो सकती थी। हमारे यहां के प्रकाशक उस कीर्तनिया की भांति हैं जो मंजीरा-करताल घर छोड़कर कीर्तन करने पहुँच जाता है। वे वर्तमान काल की महिमा को अच्छी तरह नहीं जानते। उन्हें समझ लेना चाहिए कि वह ज़माना लद गया जब मनमानी पुस्तक मनमाने ढंग से बाजार में फेंक दी जाती थी। साख तभी बनी रह सकती है जब हर काम ईमानदारी से किया जाय।

गत छह सौ वर्षों मे जो अर्वाचीन मराठी कवि तथा सन्त हुए उनके ग्रन्थो का अध्ययन लोग श्रद्धायुक्त हृदय से किया करते थे। इनमें भी जो अधिक आग्रही होते वे अपने प्रिय कवि की रचनाएँ प्रयत्नपूर्वक खोजते और स्वयं नकल कर अपने पास संग्रह करते। इसी कारण किसी भी सन्त की समस्त कृतियां देखने की जिज्ञासा होती तो उसके किसी आग्रही भक्त के यहां आद्यन्त मिलने की सम्भावना बनी रहती थी। यह स्थिति मुद्रण-कला के प्रसार के पूर्व थी। आज इन अस्सी वर्षों मे इन सन्तों की स्फुट रचनाएँ लियो पर मुद्रित रूप में उपलब्ध होने लगी है। इसी कारण हस्तलिखित पोथियों की ओर ध्यान कम दिया जाने लगा है। हस्तलिखित पोथियों की तुलना मे मुद्रित पुस्तक देखने में सुन्दर, उपयोग में सुविधापूर्ण तथा कम कीमत की होती है। यह तो प्रसिद्ध ही है। मुद्रित पुस्तको के इन तीन गुणों का परिणाम यह हुआ है कि हस्तलिखित पोथियों का कोई पुछवैया नहीं रहा और आज घर-घर मे मुद्रित पुस्तकों अथवा पोथियों का बोलबाला है। आग्रही रसिक भक्तो द्वारा संचित संग्रहों की ओर कोई देखता तक नही ; फलतः वे प्राचीन पोथियों की भांति पड़े हुए हैं।

पाश्चात्यों के सम्पर्क का एक परिणाम यह हुआ कि एक जमाना ऐसा भी आया कि रसिक कहलाने वाले व्यक्तियों की रुचि का प्रवाह भी देशी सारस्वत के विरुद्ध प्रवाहित होने लगा। एक तो स्वदेश रद्दी, स्वदेश की

जनता रद्दी, फलतः स्वदेशी साहित्य सबसे रद्दी—कुछ इसी भावना से उन लोगों ने देशी साहित्य की ओर दृक्पात तक नहीं किया। जब रसिक लोग देश की ग्रन्थ-सम्पदा को दो कौड़ी का माने और सामान्य जनों के लिए पाठ के छोटे-मोटे प्रासादिक ग्रन्थों को छोड़कर शेष प्रसादपूर्ण रचनाएँ विनष्ट हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या। सौभाग्य से इन सकटों के बावजूद कुछ धार्मिक रचनाएँ किसी-न-किसी भाग्यवान के घर भूले-भटके आज भी मिल जाती है। प्रत्येक कवि तथा साधु की समग्र कृतियाँ पाने की आशा ही छोड़ देनी चाहिए। अब तो इतना कहकर ही सन्तोष मान लेना चाहिए कि यदि आज भी कही कोई ग्रन्थ मिल जाने की आशा हो तो उसे खोजकर शुद्ध रूप में प्रकाशित करे। इसमें आलस्य करने से बहुत हानि होगी : (१) पाठक विश्वास कर लेता है कि नवीनतम सस्करण में जितनी रचनाएँ प्रकाशित की गई हैं उनसे अधिक कवि ने नही लिखी, जो गलत भी होता है, (२) पहले संस्करण में प्रकाशित ग्रन्थ जो नवीन सस्करण में नही रखे गये है उनके विषय मे भ्रम होता है कि वे उसी कवि द्वारा रचे गये हैं अथवा नही, (३) दोहरी गलतफहमी से अध्ययनशील पाठक भ्रम मे पड़ जाता है और किसी निश्चित निष्कर्ष तक नही पहुँच पाता। कवियों तथा साधुओं की कृतियाँ राष्ट्रीय साहित्य हैं। उनके सूक्ष्म परिशीलन तथा परीक्षण से यह निश्चित करने मे सहायता मिलती है कि तत्कालीन राष्ट्रीय विचार किस दिशा में प्रवाहित हो रहे थे। यदि मूल ग्रन्थ लापरवाही से सम्पादित तथा प्रकाशित किये गये तो प्रकट है कि राष्ट्रीय विचारों के प्रवाह के सम्बन्ध मे कोई अनुमान नही किया जा सकेगा। इसलिए प्रकाशकों को ऐसी गलती नही करनी चाहिए। इसके सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण कार्य यह किया जा सकता है कि प्रकाशक ऐसे विद्वानों का सहयोग पाने का प्रयत्न करें जो महाराष्ट्र-कविता का गहन अध्ययन कर चुके हों।

पिछले तीस-चालीस वर्षों मे प्रकाशकों ने विद्वानों का सहयोग पाया है। सर्व श्री परशुरामपन्त गोडबोले, शंकर पाण्डुरंग दीक्षित, जनार्दन बालाजी मोड़क, वामन दाजी ओक, अण्णा मोरेश्वर कुण्टे प्रभृति पाँच विद्वानों की सहायता से कवियों के जो ग्रन्थ प्रकाशित किये गये वे अधिकांश मे शुद्ध एवं प्रामाणिक है। उक्त विद्वान-पंचक के पश्चात् आज भी मराठी कविता के मार्मिक रसज्ञ विद्यमान है। श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर, विनायक लक्ष्मण भावे, लक्ष्मण गणेश पांगारकर, नागपुर के प्रो० पराजपे-जैसे विद्वानों के समान कई व्यक्ति महाराष्ट्र-कवियों की रचनाओं का सशोधन करा लें तो निश्चय ही उसका अभिनन्दन करना होगा। उक्त विद्वानो को अपने ऊपर सौंपे गये कार्य-भार का जैसा व्यापक ज्ञान है वैसा कहा नही जा सकता कि अन्य जनों की

होगा। ये व्यक्ति भली-भाँति जानते हैं कि एक अमुक कवि ने कुल कितने ग्रन्थों की रचना की है; कितने आज तक प्रकाशित हो चुके हैं; प्रकाशित ग्रन्थों में से कितने उपलब्ध हैं; जो उपलब्ध हैं वे अनुमानतः किस प्रदेश में मिल सकते है। कहने की आवश्यकता नही कि वे लोग किसी योग्य एवं जिज्ञासु प्रकाशक को हर प्रकार की जानकारी सहर्ष देंगे।

रामदास के ग्रन्थों के प्रकाशन का प्रश्न

आज तक किसी प्रकाशक ने विशेषज्ञ की सहायता लेकर रामदास स्वामी के समग्र ग्रन्थ प्रकाशित नही किये। काव्येतिहास-संग्रह में श्री जनार्दन बालाजी मोड़क ने काफी ग्रन्थ शुद्ध रूप मे प्रकाशित कराये है; उनके उपरान्त पिछले पन्द्रह वर्षों में अनुसन्धानकर्त्ता की तत्परता से प्रकाशन का कोई प्रयत्न हमारी दृष्टि में नही आया। "समग्र" कहकर सर्वश्री तेण्डुलकार, माड़गाँवकर, गोन्धलेकर आदि प्रकाशकों ने विशिष्ट ग्रन्थों को अवश्य प्रकाशित किया, पर वे अपूर्ण हैं, इसका पता, प्रकाशित ग्रन्थो का विचार कर तुलना करने से चल जाता है। अतः आगे कभी किसी प्रकाशक के मन में रामदास के समग्र ग्रन्थ प्रकाशित करने का विचार आये तो उसके हितार्थ उन ग्रन्थों की सूची दे रहा हूँ जो मुझे ज्ञात हैं।

कोल्हापुर में नारायणबोवा कावनईकर नामक एक युवक विवेचक रामदासपथी थे। वे गत वर्ष दिवगत हुए। उन्होने रामदास के अनेक ग्रन्थों का संग्रह किया है। गुरु-परम्परा द्वारा उन्हें "दासबोध" की एक प्रति प्राप्त हुई थी। प्रतीत होता है कि वह प्रति स्वयं रामदास के जीवन-काल मे तैयार की गई थी अर्थात् वह दो-सौ वर्ष पुरानी है। उनके पास अन्य ग्रन्थ भी थे जो उनके शिष्य श्री शेवड़े महोदय ने मुझे दिये है। उनकी तथा अन्य जानकारी के आधार पर निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है। इस सूची में गोन्धलेकरवाले ग्रन्थों में जिनका उल्लेख नही हो पाया है, ऐसे प्रकरणों के नाम भी दिये जा रहे हैं। गोन्धलेकरवाला ग्रन्थ = माड़गाँवकर वाला ग्रन्थ + कुबड़ी।

(१) एकवीस (हि०: इक्कीस) समासी (२) चतु.समासी (३) सप्तसमासी (४) दासप्रबोध (५) अक्षरमालिका (६) कृतनिर्वाह (७) चतुर्थयोग (८) पंचमान (९) मानपंचक (१०) मुसस्त्र (११) इक्कीसवाँ दशक (१२) श्लोकबद्ध रामगीता (१३) चतुर्थमान (१४) हनुमान की आरती (१५) संकल्प (१६) भूपाली (१७) अनामक प्रकरण (१८) अष्टाक्षरी पचीकरण (१९) गद्य-पद्य पंचीकरण।

इनके अतिरिक्त रामदास के समय मे रचे गये निम्न स्फुट पद हैं—

(१) मनोहरस्वामी कृत भ्रारती (२) कल्याणस्वामी कृत भ्रारती (३) मनोहर-स्वामी कृत कटाव[1] (४) मनोबोध की भ्रारती।

मेरे संग्रह में उपलब्ध उपर्युक्त रचनाएँ गोन्धलेकर के ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं की गई हैं। इनमें से कुछ रचनाएं ग्रन्यत्र अवश्य छप चुकी है। इनके अतिरिक्त रामदास की कितनी ही रचनाएँ आज भी बिखरी हुई हैं। रामायण के तीन काण्ड प्रसिद्ध ही हैं, शेष उपलब्ध नहीं हैं। उद्धवसुत केशव-शिष्य लक्ष्मणकृत पोथीबद्ध जीवनी में स्थान-स्थान पर रामदास के पद एवं प्रसंग उद्धृत किये गये हैं। गोन्धलेकर के ग्रन्थ में उनमें से बहुत-सी सामग्री भ्रा ही नहीं पाई है। इस प्रकार बहुत-सी रचनाओं का अभी पता लगाना शेष है, अतः आज जितनी उपलब्ध हैं भ्रौर विभिन्न संस्करणों में स्थान पा चुकी हैं उन्हीं के विषय में नीचे लिखा जा रहा है।

सनातनधर्म-सस्थापक "दासबोध" की रचना

श्रीसमर्थ रामदास का सबसे प्रचण्ड एवं लोकप्रिय ग्रन्थ "दासबोध" है जिसमें बीस दशक तथा दो सौ समास हैं। उसकी रचना दस-पन्द्रह वर्षों में होते-होते वह शक-सम्वत् १५८१ (सन् १६६० ई०) में पूर्ण (दासबोध: दशक ६, समास ४) शक-सम्वत् १५७८ (सन् १६५६ ई०) में वामन पण्डित से श्रीसमर्थ भेंट करने आये थे, उस समय दासबोध लिखा जा रहा था। रामदास के सम्बन्ध में वामन पण्डित ने जो श्लोक रचना की है उसमें कहा है: ग्रन्थाश्चापि जगत्प्रबोधपटवः संसारमार्गासिनः (चरित्र; पृ० ३०४)। सन् १६५५ ई० में उद्धव गोसावी ने इन्दौर से जो पत्र रामदास को भेजा है उसमें लिखा है—

> मला वाटतें, अन्तरी त्वा वसावें।
> तुझ्या दासबोधासि त्वा बोधवावें॥[2] (चरित्र; पृ० ३०५)

सन् १६५९ ई० के दिसम्बर में अफजलखाँ का वध करने के बाद शिवाजी रामदास से मिलने गये थे। उसी दिन अठारहवें दशक का "उत्तमपुरुष-निरूपण" नामक छठा समास रामदास ने पूरा किया (चरित्र, पृ० १७३)।

---

[1] कटाव: मुक्त लयवाली प्रवाहबद्ध पद्य-रचना। मराठी के अमृतराय नामक कवि ने इस प्रकार की काव्य-रचना कर कटाव लोकप्रिय बनाया—अनु०।

[2] "मुझे लगता है कि तुम मेरे हृदय में बस जाओ और अपने मुख से अपने दासबोध का बोध कराओ"—अनु०।

बखर में विकारी सम्वत्सर की शक-सख्या १५७१ भूल से लिखी गई है। वास्तव में होनी चाहिए १५८१। सन् १६४६ ई० में रामदास ने शिवाजी को दासबोध के तेरहवे दशक का "लघुबोध" नामक छठे समास का कथन किया है (चरित्र; पृ० १२६)। शक्-सम्वत् १५६६ (सन् १६४४ ई०) में तारण सम्वत्सर मे रामदास कृष्णा नदी के तट की ओर गये थे (चरित्र; पृ० ७०)। चरित्र मे तारण-सम्वत्सर के लिए १५५६ शक-सख्या दी गई है जो त्रुटिपूर्ण है। तारण-सम्वत्सर के समय शिवाजी की आयु सत्रह वर्ष की है, ऐसा अगली पंक्ति मे ही लिखा गया है (चरित्र; पृ० ७० पंक्ति ३)। अतः शक-सम्वत्सर १५६६ ही खरा उतरता है। इसके अतिरिक्त बखर में लिखा है कि रामदास शक-सम्वत् १५५४ (सन् १६३२ ई०) मे अंगिरा सम्वत्सर में पंचवटी से पृथ्वी-पर्यटन को निकले और ठीक बाहर वर्षोपरान्त लौटे। इससे भी उनके कृष्णा-तट पर आने का शक-सम्वत् १५६६ निश्चित करना पड़ता है। शक-सम्वत् १५६६ (सन् १६४४ ई०) में रामदास छत्तीस वर्ष के थे। इसी के लगभग "दासबोध" का प्रारम्भ हुआ और समाप्ति शक-सम्वत् १५८१ (सन् १६६० ई०) में हुई। सन् १६५६ ई० के दिसम्बर में यदि अठारहवें समास की रचना की जा रही थी तो शक-सम्वत् १५८१ के फाल्गुन में अर्थात् सन् १६६० ई० के मार्च-अप्रैल में बीसवां दशक समाप्त होना, ग्रन्थ का पुनः पठन तथा सशोधन होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। संशोधन करते समय छठे दशक के चौथे समास में रामदास ने गत कलि की गणना ४७६० बतलाई है। इस प्रकार ग्रन्थ की रचना लगातार पन्द्रह वर्षों तक होती रही। ग्रन्थ-समाप्ति के समय समर्थ पचास की आयु पार कर चुके थे और शिवाजी बत्तीस वर्ष के थे। रामदास ने तीस-पैंतीस की आयु में, अपने यौवन-काल में "दासबोध" का प्रारम्भ किया और पचास की पक्वायु में अर्थात् अनुभवपूर्ण अवस्था में समाप्त किया।

शक-सम्वत् १५५४ (सन्१६३२ ई०) में जबकि रामदास नासिक के पास पंचवटी में निवास कर रहे थे उन्होंने यवनो द्वारा पादाक्रान्त महाराष्ट्र का उद्धार तथा सनातनधर्म की संस्थापना करने का संकल्प किया था। उसी संकल्प का मूर्तिमान अवतार "दासबोध" है। निर्माण की अवस्था में अनेक ऊँच-नीच स्त्री-पुरुषों ने परम आस्था से उसे श्रवण किया था और समाप्ति के पश्चात् सारे महाराष्ट्र में उसकी अनेक प्रतियों का वितरण किया गया था। इस देश में मुद्रण कला का प्रारम्भ होने के बाद तो अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। "दासबोध" पुरानी चाल के लोगों का तो कण्ठमणि ही है; नयी चाल के सुधारकों एवं उद्धारकों का भी अतिशय प्रिय ग्रन्थ है।

"दासबोध" किस प्रकार की कृति है ? वह काव्य है अथवा इतिहास अथवा वेदान्त सम्बन्धी धर्म-ग्रन्थ ? उसका प्रमेय क्या है, प्रयोजन क्या है ? फल क्या है ? उसके पठन से पाठक के मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है ? कई प्रश्न सहसा उपस्थित हो जाते हैं। उनका उत्तर देने का अल्प प्रयत्न नीचे किया जा रहा है।

रामदासकृत कवित्व की व्याख्या

समग्र दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि "दासबोध" काव्य-ग्रन्थ नही है। वह पद्यमय अवश्य है, पर उसमें निरूपण किये गये विषय काव्य-विषय के अन्तर्गत नही आ सकते। गीता, अमरकोश, वैयासिकन्यायमाला, ज्ञानेश्वरी, अनुभवामृत, यथार्थदीपिका, अष्टांगहृदय, लीलावती आदि पद्य-रचनाएँ काव्य के अन्तर्गत नहीं आती; उसी प्रकार दासबोध भी नही आता। रामदास अपने को कवि कहते हैं, परन्तु उनके "कवि" का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। उनके मतानुसार कवि गद्य अथवा पद्य रचनाकार तो होता ही है, वह नाना शास्त्रो का ऊहापोह भी करता है। यही नही, उसकी रचना प्रसादपूर्ण होनी ही चाहिए। इसका वर्णन रामदास ने पहले दशक के सातवे समास मे किया है। "ढीठ" तथा "पाठ" के अन्तर्गत आनेवाली कविता सच्चा कवित्व नहीं वह केवल मनोरजन है, ऐसा उनका मत है।

जरा-सी बात कहना। तत्काल प्रत्युत्तर देना।
शीघ्र कविता करना। ज्ञान वह नही॥(५-५-२६)

नाना गति, नाना व्युत्पत्ति। नाना मति, नाना स्फूर्ति।
नाना धारणा, नाना धृति। उसका नाम कवित्व है॥

शंका, आशंका, प्रत्यन्तर। नाना वाक्य शास्त्राधार।
निश्चित करने पर संशय टूटता है। निश्चयपूर्वक॥

नाना प्रसंग, नाना विचार। नाना तत्वचर्चा सार।
नाना योग, नाना विवर। वह कवित्व है॥

नाना साधन, पुरश्चरण। नाना तप, तीर्थाटन।
नाना सन्देह मिटाना। वह कवित्व है॥

जिससे अनुताप हो। जिससे लौकिक लज्जित हो।
जिससे ज्ञान उत्पन्न हो। वह कवित्व है॥

जिससे सद्वस्तु का ज्ञान हो। जिससे आभास टूटता हो।
जिससे भिन्नता मिटती हो। वह कवित्व है॥ (१४-३-४४ से ५१)

रामदास की कवित्व की व्याख्या उपरिनिर्दिष्ट है। विषय, सन्देह, संगति पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त—शास्त्र के पाँच तत्त्व रामदास के कवित्व को साकार करते हैं। कविता-ग्रन्थ वही है जिसमें तत्त्वचर्चा, योग, विवरण आदि का अन्तर्भाव हो। कवित्व का ग्रन्थबद्ध होना अनिवार्य नहीं; वह आचरणबद्ध भी हो सकता है। साधन, पुरश्चरण, तप, तीर्थाटन, धैर्य, धृति भी कवित्व के अंग हैं। सारांश, जिन वस्तुओं, विचारों एवं आचार में ईश्वर का अंश है वह सब रामदास के मतानुसार कवित्व है। आधुनिक भाषा में इसका यह अर्थ है कि जो भी कुछ प्रतिभा-परिपूर्ण है वह कवित्व है। रामदास की कवित्व की कल्पना आज की प्रतिभा की कल्पना है। हम देख ही रहे हैं कि जगत् प्रतिभावान स्त्री-पुरुषों के नेतृत्व में चलता है। इसी को लक्ष्य कर रामदास ने कवियों को, अर्थात् प्रतिभावान व्यक्तियों को पुरुषार्थ के वैभव, स्वधर्म के आश्रय, अध्यात्मरत्नों की खान, योगियों के गुप्त पन्थ, मोक्ष के आधार, भाग्यवानों के भूषण, सुख के संरक्षक, स्वदेश के उद्धारक आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया है। इस दृष्टि से देखने पर समर्थ का दासबोध स्वयं एक प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थ प्रतीत होता है।

क्या 'दासबोध' में कविता है ?

दासबोध प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थ भले ही हो, पर आज कविता की जो परिभाषा की जाती है उसकी कसौटी पर वह नहीं उतरता। आधुनिक भाषा में हम जिसे काव्य कहते हैं उसमें रसात्मकता का होना नितान्त अनिवार्य है। कवि का कार्य है किसी सांसारिक विषय अथवा प्रसंग को लेकर उसे नौ रसों से रुचिर बनाकर दिखलाना। कवि के ग्रन्थ में सन्देह, संगति, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त आदि शास्त्रीय परम्परा को स्थान देना, काव्य की आत्म-समाधि भंग करना है। 'दासबोध' में यह परम्परा आद्योपान्त पायी जाती है। अतः आधुनिक व्याख्यानुसार दासबोध काव्य-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। रामदास के रामायण आदि काव्य-ग्रन्थ रसात्मक हैं जिनमें कुछ प्रसंग तथा विषय लिये गये हैं, 'दासबोध' में ऐसा नहीं पाया जाता। 'दासबोध' में वेदान्त का गूढ़ निरूपण है; रिकामे-कोंडे का वर्णन है, कीर्तन कैसे किया जाय, इसका वर्णन है, राजनीति है; व्यवहार-नीति है; चातुर्य-निरूपण है; कवि, तापस, योद्धा, गुरु, शिष्य आदि के विस्तृत वर्णन हैं—नाना वस्तुएँ हैं। उन तमाम वस्तुओं को परमार्थतः काव्य-माला में गूँथना अपरम्पार प्रतिभा का प्रदर्शन करना है।

जो लोग रामदास के 'दासबोध' की गणना काव्य-ग्रन्थों में करते हैं उनसे भूल हो ही गई है। वह यह कि वर्णनों एवं विवेचन के प्रवाह में दृष्टान्तों

की बहुलता 'दासबोध' की विशेषता है। पर ध्यान में रखना होगा कि दृष्टान्तों की योजना अन्य काव्यग्रन्थों की भाँति चमत्कृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से नहीं की गई है; प्रत्युत विषय का परिपोषण ही एक मात्र उद्देश्य रहा है। एक अन्य कारण यह भी है कि ग्रन्थ वक्तृता-प्रचुर है; एक भी गन्दा और फीका वाक्य उसमें नहीं मिलेगा। प्रवाह कुछ इस प्रकार अप्रतिहत बढ़ता है, शब्दों की वह सम्यक् योजना है और विवेचन-पद्धति कुछ ऐसी मनोहारिणी है कि विवेचित विषय गहन होते हुए भी काव्य की भाँति आल्हाद प्रदान करता है। साथ ही भाषा अत्यन्त सादी, सरल एवं व्यर्थ अलंकारों से रहित है। देखने में सहज परन्तु मेहनत से प्राप्त वक्तृत्व पढ़कर पाठक को प्रतीत होता है कि जैसे कोई काव्य-ग्रन्थ पढ़ रहे हो। अत्यन्त गहन शास्त्रीय ग्रन्थों की वक्तृत्वपूर्ण तथा कवित्व-सदृश भाषा में की गयी रचनाएँ अन्य भाषाओं में भी मिलती हैं। हम्बोल्ट का विश्व-विषयक "कॉसमॉस" नामक ग्रन्थ, क्रिस्टोफर नार्थ के भू-गर्भ-विषयक ग्रन्थ, वोल्तेर का "चौदहवें लुई का मन्वन्तर" नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ रामदास के 'दासबोध' जैसी रचनाएँ हैं। यह सत्य है कि तीनों यूरोपीय ग्रन्थकार रामदास की लेखन-शैली की मोहकता अपेक्षित अंशों में नहीं उतार पाये हैं। तीनों लेखक उच्च प्रतिभा के प्रभु थे। तीनों ने शास्त्रीय विचारों का प्रदर्शन मोहक एवं काव्य प्रचुर पद-पद्धति में किया है पर केवल इतने से ही उन्हें कवि नहीं माना जाता। जो शब्दरचना तथा पद-पद्धति कवि की प्रतिभा को जाग्रत करती है उसी को उन लेखकों ने स्वीकार किया है; परन्तु वर्णित विषय शुद्ध शास्त्रीय है।

रामदास पर यही बात लागू होती है। रामायण काव्य के रचयिता के रूप में उनकी गणना कवियों में करनी पड़ती है, परन्तु केवल दासबोध का विचार करें तो उन्हें कवि कहना उचित न होगा। हाँ, रामदास की परिभाषा के आधार पर प्रतिभावान स्त्री-पुरुष को—वह कवि हो, गणितशास्त्री हो, वेदान्ती हो, योद्धा हो, चित्रकार हो, साधु हो, दाता हो, अथवा शिल्पकार हो—बेखटके कवियों की पाँत में बिठाया जा सकता है। दासबोध के कर्ता के नाते रामदास को काव्य-रचयिता कवि कहना अनुपपन्न होगा। समर्थ तो प्रसादपूर्ण उपदेश-ग्रन्थों के रचयिता हैं। रामदास ने ग्रन्थ-निरूपण का वर्णन सप्तम दशक के नवम समास में किया है। ग्रन्थत्व के जो लक्षण वहाँ दिये गये हैं, वही कवित्व के सच्चे लक्षण हैं।

कवियों की श्रेणी तथा श्री पांगारकर

रामदास-द्वारा निरूपित कवित्व की व्यापकता या सूक्ष्म विचार न कर

पाने के कारण श्री पांगारकर जैसे अनेक आधुनिक वक्ताओं तथा महाराष्ट्र-कविता का आस्थापूर्वक अध्ययन करने वाले जिज्ञासुओं ने मुकुन्दराज का परमामृत, ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी, रामदास का दासबोध आदि शास्त्रीय ग्रन्थों को कविता के अन्तर्गत स्थान दिया है। रामदास ने कवियो की तीन श्रेणियाँ बतलाई हैं: (१) ढीठ कवि, (२) पाठ कवि, (३) प्रासादिक कवि। श्री पांगारकर की भाँति मैं भी तीन श्रेणियाँ स्वीकार करता हूँ। मृत बिल्ली पर कविता लिखने वाला काउपर, नरगिस पर पंक्तियाँ रचनेवाला वर्ड्स्वर्थ अथवा बबूल के पेड़ पर अन्योक्तियाँ कहनेवाला कृष्णशास्त्री "ढीठ कवियों" में आते है। इन कवियो की रचनाएँ पढकर मन चमत्कृति से भर जाता है। गट्टूलाल जैसे आशु कवि अथवा अनुप्रासो के जाल मे उलझनेवाले वामन पण्डित, मोरोपन्त, भारवि जैसे कवि अथवा पोप, जान्सन जैसे अनुकरण-प्रिय एवं अनुवादक कवि "पाठ-कवि" हैं। इन कवियो की रचना काफी हठपूर्वक अवतरित होती है जिसमे चमत्कृति का सामर्थ्य नही होता। डोरी पर चलनेवाले नट का करतब देखकर हृदय कौतुक करना चाहता है; इन कवियों की शब्दालंकारयुक्त रचना देखकर वही भावना उत्पन्न होती है।

इन दोनो वर्गो से भिन्न वर्ग की कविता वह है जो रामदास द्वारा "प्रासादिक" कही गई है। इस कोटि के कवि व्यवहार का पाठ देते हैं, अनिष्ट से रक्षा करने का ममतापूर्ण शब्दों में उपदेश देते हैं। व्यास, वाल्मीकि, मुक्तेश्वर, कालिदास शेक्सपीयर, लोपड, बीणा आदि इसी कोटि के कवि है। यह वर्ग रामदास के "प्रासादिक" प्रतिभावान कवियों का है जो लौकिक भाषा में महाकवि कहलाते हैं। रामदास महाकाव्य रचयिताओं के साथ ही तपस्वी, योद्धा, शास्त्रज्ञ आदि महाप्रतिभावान व्यक्तियों की गणना करते हैं और उन्हें कवि की उपाधि से अभिहित करते हैं। महाकवियों को राष्ट्रोद्धारक पुरुषों के साथ गिनना उचित ही कहा जायगा क्योंकि उनका सामर्थ्य अलौकिक है। परन्तु इन्हीं महाकवियों की कोटि मे विद्यावीरो, रणवीरों, सभावीरों, शास्त्रवीरों आदि की गणना देखकर श्री पागारकर जैसे व्यक्ति आश्चर्य व्यक्त करते हैं। रामदास एक ही शब्द में अनेक अर्थों का अभिव्यक्त करते हैं। वे कवि को वीर की, उद्धारक की, श्रेष्ठ नेता की दृष्टि से देखते हैं, केवल तुक्कड़ कवि की दृष्टि से नहीं देखते। रामदास का आशय ध्यान में न आने के कारण पागारकर महोदय ने ज्ञानेश्वरी, दासबोध आदि ग्रन्थों को काव्य-ग्रन्थ माना है और चूँकि वे ग्रन्थ भक्ति रसपरिपूर्ण हैं अतः पांगारकर महोदय ने महाराष्ट्र-काव्योदधि मे अवगाहन कर जल्दबाजी में यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया कि

"प्रासादिक" कवि यूरोपीय कवियों से नितान्त भिन्न भक्तिमार्गी कवि हैं। उनका कथन है कि यूरोपीय कवियों में भक्तिमार्गी कवि नहीं हैं; महाराष्ट्र-कवियों में समस्त कवि भक्तिमार्गी हैं अतः केवल भक्तिमार्गी कवि "प्रासादिक" कवि हैं; इसका यह भी अर्थ हुआ कि अन्य देशों के कवि या तो "ढीठ कवियों" में आते हैं या "पाठ कवियों" में। ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्विध कोटिक्रम मात्र भ्रममूलक है; फिर भी भ्रम का पूर्ण उन्मूलन करने के उद्देश्य से यूरोपीय कवियों की ओर मुड़ता हूँ।

यूरोपीय कवि

'दासबोध' के चौदहवें दशक के तीसरे समास में रामदास ने कवित्व के लक्षण गिनाये है। वे कहते हैं कि जो कविता मात्र शृंगारिक, हास्यरस प्रचुर, विनोद-परिपूर्ण तथा कुटिल है वह अधम कोटि की कविता है। शेष कविता, रामदास के मतानुसार प्रासादिक है। प्रासादिक कविता वह है जो संसार का खोखलापन दिखलाती है, विरक्ति का उदय कराती है और भक्ति की प्रशंसा करती है। उक्त न्यायानुसार अधिकांश यूरोपीय कविता प्रासादिक कही जायगी। चॉसर की "दि लीजेण्ड ऑफ गुड विमेन", बटलर का "हूडीब्रास", शेरिडन के शृंगारिक नाटक आदि कुटिल काव्य-समर्थ द्वारा वर्णित अशिष्ट काव्यान्तर्गत आयेंगे। उनसे मन की रंगीन वृत्तियों का मनोरंजन होता है, नरदेह को सार्थक बनाने के साधनों का उनमें कोई उल्लेख नहीं। यूरोपीय सारस्वत में "कुटिल" कविता कुछ कम नहीं है।

उदात्त भावनाओं को जाग्रत करनेवाली, मलिनता का कोश फोड़कर आत्मा को परमात्मा से परिचित करनेवाली कविता भी वहाँ कम नहीं। शेक्सपीअर के लगभग सभी नाटकों में उदात्त भावनाओं का ऊहापोह पाया जाता है। टायमन में सम्पत्ति की चंचलता; ऑथेल्लो में ईर्ष्या की निघृंणता; हैम्लेट में असन्तोष-वृत्ति की दुष्टता उत्कट चातुर्य के साथ प्रस्तुत की गयी है। गेटे की उत्कृष्ट रचना "फॉस्ट" संसार की असारता, माया-मोह, ईश्वर का वात्सल्य, भक्ति की शक्ति तथा धर्म की सनातनता अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से की गयी है। शिलर, रासिन, ह्यूगो, टेनीसन आदि प्रासादिक कवियों का उद्देश्य मनुष्य को सर्वोत्तम परात्पर आत्मा की ओर ले जाना है—विस्तार का भय न होता तो वह सिद्ध किया जा सकता था। केवल धर्म एवं भक्ति के गान गानेवाले उत्कृष्ठ कवियों की भी कमी वहाँ नहीं है। मिल्टन की समग्र कविता भक्तिप्रचुर है। "पैराडइज लॉस्ट", पैराडाइज रिगेण्ड", "सॅम्सन" आदि ग्रन्थ

बाइबिल में वर्णित प्रसंगों पर आधारित है। दान्ते ने "इन्फर्नो" में दिखलाया है कि नीच लोग किस प्रकार रौरव-यातना भुगतते हैं। इसके अतिरिक्त अपने यहाँ की अभंग, भूपाली जैसी ईश्वर-स्तुतिपरक कविताएँ यूरोप की किसी भी भाषा में असख्य हैं। कोई साहित्य ऐसा नही हो सकता जिसमें भक्तिरस की कविता का नितान्त अभाव हो।

यह कथन करना कि केवल महाराष्ट्र में भक्तिमार्गी कविता पायी जाती है, एकदम भूल है। उसी प्रकार यह कहना कि सारे महाराष्ट्र-कवि भक्तिमार्गी है, गलत है। मुक्तेश्वर का "भारत", रघुनाथ पण्डित का "नल-दमयन्ती", रामजोशी के "फटके", होनाजी की "लावनियाँ" और शाहीरों के "पोवाड़े" भक्तिपरक काव्य किस आधार पर कहे जा सकते हैं? अन्य राष्ट्रों की भाँति महाराष्ट्र में भी भक्तिमार्गी कवियों के अतिरिक्त अन्य मार्गी कवि हैं। और वे केवल "ढीठ" अथवा "पाठ" कवि नहीं "प्रासादिक" भी हैं। सारांश, यहाँ के कवियों की कोटि अन्य देशों के कवियो से भिन्न नही है; उनके लक्षण हमारे कवियों पर बहुत अच्छी तरह लागू होते हैं। भेद कवियों में नही, भेद रामदास के विवेचन मे नहीं, भेद पांगारकर महोदय के मस्तिष्क मे है। हमारे कवियों ने नाटकादि की रचना नहीं की, इसी कारण न्यूनता दिखलाई पड़ती है और भेद प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र-सारस्वत की, अध्ययनाभाव के कारण, परीक्षा करने में सर्वथा अनधिकारी एव अनुपयुक्त विल्सन जैसे विदेशियो ने मराठी कवियों की कोटियो के सम्बन्ध में जो निरर्गल प्रवाद फैलाये हैं उनका प्रभाव भी हमारे यहाँ के रसिक पाठकों पर जाने-अनजाने पड़ता ही है। अतः एक ओर आगन्तुक एवं अपक्व संस्कारो को हटाकर और दूसरी ओर पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सारस्वत का स्वबुद्धिपूर्वक विचार कर महाराष्ट्र-सारस्वत के विषय मे निर्णय करना चाहिए। अस्तु।

'दासबोध' का प्रतिपाद्य विषय तथा उद्देश्य

'दासबोध' मे यदि वर्तमानकालीन परिभाषा के अनुसार काव्य नही है तो क्या है? यह प्रश्न पहली बार नही उपस्थित किया गया है स्वयं रामदास के जीवन-काल में भी यही पूछा जाता था (कुवड़ी : दशक १ ओवी ५)। कुछ लोग उसे समुच्चयवाद का ग्रन्थ कहने लगे; कुछ प्रतिपादन करने लगे कि उसमें त्रिकाण्ड-निरूपण है और कुछ लोगों को प्रतीत हुआ कि दासबोध केवल व्यवहार का पाठ पढ़ाता है। तीनों कथन सत्य हैं। दासबोध में ज्ञान, कर्म भक्ति तथा व्यवहार का निरूपण किया गया है। वेदान्तियों ने उसमें ज्ञान पाया, कर्ममार्गियों ने कर्म का ऊहापोह, केवल भक्तिमार्गियों को भक्ति की

महिमा दिखाई दी और केवल व्यवहारवादियों को व्यवहारनीति की प्रमुखता की प्रतीति हुई। यह हुई लोगों की दृष्टि। देखें कि स्वयं दासबोध के रचयिता की क्या दृष्टि थी? दासबोध के प्रथम दशक के प्रथम समास में स्वयं ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का स्वरूप स्पष्ट किया है—

(१) नाना प्रकार की द्विधाएँ निवारण कर, नाना संशय छेद कर, नाना आशंकाएँ हटाकर, भक्ति वैराग्य, मोक्ष-प्राप्ति, आत्मज्ञान का उपदेश करना दासबोध का प्रमुख उद्देश्य है।

(२) उद्देश्यानुषंग से नाम मतों, कवित्व, चातुर्य, राजनीति, गुरुत्व, शिष्यत्व आदि व्यवहार-ज्ञान का निरूपण किया गया है।

(३) निरूपण के नित्यपाठ से अज्ञान नष्ट होता है, माया में जकडे हुए जन मुमुक्षु बनते हैं, उनमें वैराग्य-भाव जगता है, कुलक्षण सुलक्षण बनते हैं, धूर्त एवं विचक्षण समयज्ञ बनते हैं, आलसी साक्षेपी बन जाते हैं, मूर्ख को दक्षता प्राप्त होती है।

मोक्ष-दर्शन दासबोध का मुख्य हेतु है, उपदेश मुख्य साधन तथा मुमुक्षा मुख्य फल। इसे विस्तार से समझाना आवश्यक है।

इस अखिल जगत् में समस्त जंगम वस्तुओं में नित्य वस्तु मात्र एक है। उसे शुद्ध ज्ञान कहते हैं (दशक ५, समास ६)। शुद्ध विमल ज्ञान ही स्वरूप-ज्ञान कहा जाता है। शुद्ध ज्ञान पदार्थ-विज्ञान से भिन्न है। रामदास पदार्थ-विज्ञान को "बहुधाज्ञान" कहते हैं और उसका निरूपण उन्होंने पाँचवें दशक के पाँचवें समास में किया है। उसमें शास्त्र अथवा यूरोपीय जिसे विज्ञान कहते हैं उसका समावेश होता है। उसमें पशुज्ञान, रोगज्ञान, औषधिज्ञान, यन्त्रज्ञान, धातुज्ञान, शस्त्रज्ञान, वस्त्रज्ञान, गीतज्ञान, तर्कज्ञान, शब्दज्ञान, अन्तर्ज्ञान आदि समस्त वर्गीकरणात्मक विज्ञानों का अन्तर्भाव होता है। ये विज्ञान माया द्वारा उत्पन्न किये गये दृश्य विस्तार का मात्र वर्गीकरण हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। यह शुद्ध ज्ञान नहीं, यह तत्त्वज्ञान नहीं यह सब अविद्या है, माया है, मोह है। यह केवल अनित्य वस्तुओं की सूची है। अनित्यता के परे ज्ञान है वही नित्यज्ञान है, उसी को आत्मज्ञान कहते हैं।

नित्य आत्मा के ज्ञान तथा अनित्य पदार्थों के विज्ञान को "नित्यानित्य-विवेक" कहा जाता है। क्षेत्री और क्षेत्र या द्रष्टा और दृश्य या नित्य और अनित्य के सम्बन्ध में जो विवेक रखना चाहिए वह सारे ज्ञान का मुकुट-मणि है। क्षेत्री, द्रष्टा अथवा आत्मा सत्, शाश्वत, निरुपाधि तथा निर्विकार है। क्षत्र, दृश्य अथवा देह असत्, अशाश्वत, सोपाधि तथा सविकार है (६,५)।

आत्मा सूक्ष्म, देह स्थूल है। आत्मा स्वयम्भू, माया परभू है। माया टूट जाती है, ब्रह्म नहीं टूटता। आत्मा तथा परमात्मा में भेद है। सबसे प्रमुख भेद है कि आत्मा स्वतन्त्र एवं स्वाधीन है, माया परतन्त्र एवं पराधीन है।

जब स्वतन्त्र आत्मा परतन्त्र आत्मा से मिलती है, आत्मा को माया घेरती है, आत्मा माया से दग्ध की जाती है तो वह सदेह बन जाती है। आत्मा माया द्वारा घेरी जाती है तो उसके विष के प्रभाव से वह सुख-दुख भोगती है (दशक १३, समास ६)। वह आत्मा जो अब तक स्वतन्त्र थी, अब बद्ध हो जाती है।

माया का बन्धन ही नरदेह का जन्म है। आत्मा ने एक बार नरदेह प्राप्त की कि प्रपंच और तापत्रय का प्रारम्भ हुआ। 'दासबोध' के तीसरे दशक के दसों समासों में जन्म से लेकर मृत्यु तक भोगे जानेवाले तापत्रयों का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। तापत्रय का एकमात्र कारण *त्रिगुणात्मक माया है।* सत्व, रज एवं तम का न्यूनाधिक्य होते ही भ्रान्ति उत्पन्न होती है और अहंकार जन्म पाता है। मैं यह हूं, मैं वह हूं, मैंने यह किया, मैंने वह किया, मैं बुद्धिमान हूं, मैं कर्तृत्ववान हूं, मैं दूसरों को मारूंगा, पराजित करूंगा आदि पागलपन के चक्र में उलझकर मनुष्य प्रपंच और तापत्रय में मग्न हो जाता है। संसार के मोह और बन्धन से आँखों में नशा-सा छा जाता है और मनुष्य अपनी वास्तविकता भूल जाता है। अतः उसकी गणना मूर्खों अथवा कठ-विद्वानों में होने लगती है (दूसरा दशक)। मूर्खता और अज्ञान के लक्षण एक बार मन में प्रवेश कर जायें तो दुख का पारावार नहीं रहता। एक दूसरे को और दूसरा पहले को पीड़ा पहुँचाने लगता है। यह क्रम कभी टूटता नहीं। प्राणी यह नहीं जान पाता कि क्रम क्यों नहीं रुकता, दुख क्यों होता है, दुख सुख जैसा क्यों प्रतीत होता है, और वह घबरा उठता है। कालान्तर में वह देह और प्रपंच से उकता जाता है, द्वेष करने लगता है और तिरस्कार करने लगता है। वह विश्वास करता है कि नरदेह एक असत्य है जिसका दुख से निकट सम्बन्ध है। वह फिर भी यह नहीं जान पाता कि सत्व, रज तथा तम में से तम का अधिक सेवन करने से ही भयानक स्थिति हुई है; नरदेह का बुरे कार्यों की भांति सत्कार्यों में भी उपयोग किया जा सकता है; वह नरदेह की निन्दा करने लगता है। वही स्थिति होती है कि नाच न जाने, आँगन टेढ़ा। बिगड़ता खुद है पर जिस देह के आश्रय में रहता है उस पर अपनी असफलता का दोष मढ़कर अलग होना चाहता है।

अन्तर्गत कलह की विपत्ति में कहीं सद्गुरु से भेंट हो जाय तो भाग्योदय *हुआ समझिए*; न हो तो संस्कृति के भँवर में घूम-घूमकर तल की ओर मनुष्य

खिचता जाता है। नरदेह की सार्थकता समाप्त होकर महोदधि मे डूबकर निरय की राह पर चलने लगता है।

रामदास के 'दासबोध' की प्राथमिक भूमिका यही समाप्त होती है। यहाँ तक यह निरूपित किया गया कि संसार दुखमय है, आत्मा देह प्राप्त कर संसारी बनी कि तापत्रय के चक्र में उलझ गई। स्पष्ट है कि उक्त निरूपण वेदान्त के सभी ग्रन्थों मे आया हुआ है, समर्थ रामदास के ग्रन्थ में भी है। आगे चलकर दुख से छुटकारा पाने के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है वह रामदास के पूर्वकालीन संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थों में भलीभाँति किया जा चुका है। 'दासबोध' में उसी ज्ञान का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। 'दासबोध' की विशेपता यह है कि तत्कालीन महाराष्ट्र को जिस प्रकार के निरूपण की आवश्यकता थी, ठीक वैसा ही रामदास ने किया है। गीतादि ग्रन्थों में पाया जानेवाला विवेचन सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है, तथा सूत्रशैली में निबद्ध है। दासबोध मे यह बात नहीं। दासबोध मे गीता का ही विवेचन है; पर वह तत्कालीन महाराष्ट्र को लक्ष्य कर स्पष्ट भाषा में विस्तारसहित किया गया है।

दासबोध की विशेपता

ससार के तापत्रय में झुलसनेवाले मनुष्य को सद्‌गुरु मिल जाय तो उसके उपदेश और सत्संग से जो चमत्कार होता है वह वर्णनातीत है। वही नरदेह जो अब तक निन्द्य प्रतीत होती थी, अब वन्द्य तथा स्तुत्य बन जाती है। गुरु के उपदेश से दृष्टि का विकार मिट जाता है। हमारा भी कोई कर्तव्य है, कुछ साध्य है, जिसके काम देह आ सकती है, न होती नरदेह—केवल पशुदेह होती तो साध्य के हित कुछ भी कर पाना असम्भव होता, आदि लक्ष्यों का ज्ञान होता है और दुर्लभ नरदेह के प्रति आनन्द होता है (दशक १, समास १०)। यह जो अपूर्व चमत्कार है उसके लिए आवश्यक है सद्‌गुरु की भेंट। यह लाभ कोई छोटा-मोटा लाभ नही, क्योंकि नरदेह को मिट्टी में मिला देनेवाले गुरु टके सेर मिल जाते हैं (दशक ५, समास २)। चाहे जो और चाहे जैसा काम करके पेट भरने की सशुल्क विद्या पढानेवाले पामर गुरु, किसी भी काल में बहुत सस्ते मिलते हैं। परन्तु अविद्या का समूल नाश कर, समस्त आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रियोंसहित अहंकार को दमन कराना सिखाकर भवसागर के पार ले जानेवाला गुरु बिरला ही होता है। ऐसा गुरु मूल्य देकर नही मिलता। वह तो पूर्वपुण्यसंचित व्यक्तियो को ही मिलता है। परन्तु

पूर्वपुण्य को सुफल बनाने के लिए स्वयं गुरु को अवतीर्ण होना पड़ता है। यदि समाज मे अविद्या का प्रसार होता है तो वह मात्र शिष्यों का दोष नहीं उसका उत्तरदायित्व बहुत अंशो मे गुरु पर होता है। यदि समाज अथवा समुदाय में पाखण्ड फैलता है, दु:शासन का ज़ोर होता है तो दोष केवल असच्छिष्यों का नहीं, असद्गुरु का भी है (दशक ५, समास ४)। शिष्य अज्ञानी होता है अतः उसे जली-कटी सुनाने से क्या होगा ? केवल सद्गुरु ही समाज का मार्ग-दर्शन करा सकता है (दशक ५, समास ३, ओवी ५)। सद्गुरु सर्वज्ञ होता है, ज्ञान अनुभव विरक्ति स्वीकृत कर समाज का नेतृत्व ग्रहण करने का सहज अधिकारी होता है; वह शिष्य-समुदाय अर्थात् समाज को सच्ची राह न दिखाये तो कौन दिखाये ? यदि सद्गुरु उपदेश देने को प्रस्तुत है तो सच्छिष्य सुनने को प्रस्तुत है। मेघ-चातक की भाँति कृष्णार्जुन सदृश मेल हुआ तो परमार्थ का विचार कर पाने मे कौनसी आपत्ति है ?

परमार्थ क्या है ?

रामदास कहते हैं कि परमार्थ कुछ और नहीं, वह तत्वमसि है, "तू ब्रह्म है"—वाली भावना है (दशक १३, समास २, ओवी २०)। उसका अनुभव कर पाना ही परम अर्थ है। अन्य शब्दों में यही अर्थ आत्मा की परमात्मा से सायुज्यता होना है। माया के बन्धनो से छुटकारा पा कर मुक्त स्थिति प्राप्त करना परमार्थ-प्राप्ति है।

परमार्थ-लाभ, मोक्ष-प्राप्त, तत्वमसि-स्थिति, मुक्त स्थिति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ? मुक्ति ज्ञान-साधना से मिलती है अथवा योग-साधना से, अथवा कर्म साधना से या भक्ति साधना से ? बन्धनों से छुटकारा मिले कैसे ? रामदास ने अनेक प्रश्न उपस्थित कर पाँचवें दशक के सातवें समास से बीसवें दशक के दसवें समास तक समर्पक उत्तर दिया है। यहाँ उत्तरों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रायः समस्त जीवो को विशेषतः मनुष्य-जीवधारियों को चार कोटियों मे विभाजित किया जा सकता है : बद्ध, मुमुक्षु, साधक एवं सिद्ध। बद्ध मनुष्य प्रपंच में फँसा रहता है; जो पश्चात्ताप करता है वह बद्धावस्था से छुटकारा पाने की इच्छा करता है। गुरु के उपदेश से बद्धावस्था की तामस-वृत्ति समाप्त हो जाती है और वह अनुभव करने लगता है कि मैं अब स्वतन्त्र हूँ, बद्ध नहीं। अब तक वह जो अपनी बद्धावस्था का अनुभव करता था वह भ्रान्ति थी—

बन्धनों में कोई आबद्ध नहीं। भ्रान्ति में पड़े हुए हैं।
देहाभिमान दृढ है। इसीलिए ॥(५-६-५७)

बन्धन-भ्रान्ति के समाप्त होते ही मुमुक्षा उदित होती है। मोक्ष की अपेक्षा इसी अवस्था में की जा सकती है। उसके उत्पन्न होने पर मनुष्य सद्‌वृत्ति का महत्व जानने लगता है। वह परोपकारी बनता है। निरभिमानी व्यक्ति ही साधक बन सकता है, परन्तु संशय से मुक्ति नहीं मिलती। जो संशय-मुक्त हो जाता है; जिसे 'तू' और 'वह' की एकता की द्विधाहीन प्रतीत हो जाती है, वह सिद्ध कहलाता है।

समाज में उपर्युक्त चार प्रकार के लोग होते हैं। वेदान्त कहता है कि सबको मुक्ति मिल सकती है; रामदास का मत इससे भिन्न नहीं।

सिद्ध जाने-पहचाने स्वतन्त्र व्यक्ति हैं। साधक भी उसी स्थिति में पहुँचने की तैयारी करता है। मुमुक्षु भी स्वतन्त्र स्थिति मे पहुँचने की उत्कट इच्छा करता है। आशय यह कि तीनों कोटियों के लोग या तो मुक्ति, मोक्ष अथवा स्वतन्त्रता की स्थिति में पहुँच चुके होते हैं या पहुँचने की राह पर होते हैं। शेष रहे बद्ध लोग। उन्हें सिद्ध एवं साधक मुमुक्षु की सहायता से मुक्ति के मार्ग पर जाने का प्रयत्न करना पड़ता है (२-६-६६)। प्रयत्न सफल हुआ तो सब परमार्थ-लाभ प्राप्त करते हैं, जन्म की सार्थकता इसी में है। उसके उपरान्त कोई ऐसी वस्तु नहीं रह जाती जिसे पाने का प्रयत्न करना पड़े। मनुष्य जाति का उद्धार उसी में निहित है। उद्धार करते समय जो प्रयत्न किये जाते है, जिस आन्तरिक उथल-पुथल का अनुभव करना पड़ता है वही मनुष्य जाति का इतिहास कहलाता है। वह प्रयत्नशीलता, वह इतिहास हजारों वर्षों से निर्माण होता रहा है और जब तक यच्चयावत् मनुष्य को परमार्थ-लाभ नहीं होता तब तक इसी प्रकार निर्माण होता रहेगा।

'दासबोध' में प्रतिपादित तीन मार्ग

'दासबोध' का अधिकांश भाग इस महत्वपूर्ण विवेचन से परिपूर्ण है कि सिद्ध एवं साधकों को (२-८-२४) मुमुक्षुओं की सहायता से (२-६-३८) किस प्रकार बद्ध जनों का उद्धार करना चहिए। विवेचन के अन्तर्गत उद्धार के तीन मार्ग दिखलाए गये हैं—नीति-स्थापना, धर्म-स्थापना तथा राज्य-स्थापना। इनके साथ ही (१) हरिकथा-निरूपण (२) निश्चित की गई राजनैतिक गति-विधि तथा (३) आचार के सिद्धान्तों की आवश्यकता वर्णन की गई है (११-६-४)। तीनों स्थापनाओं की आवश्यकता क्या है ? ये वे उपाय हैं जिनसे

समाज अनन्य बनता है, अर्थात् अन्यतन्त्र या परतन्त्र तथा बद्ध नहीं रहता (११-५-३)। यदि हम चाहते हों और आवश्यकता अनुभव करते हों कि समाज मुक्त हो, स्वतन्त्र हो, परमार्थ का उपासक बने तो सिद्धों एवं साधकों को तीन उपायों की योजना करनी चाहिए। समाज के परमार्थोपासक बनने में समाज का हित तो है ही; सिद्धों का हित कम नहीं। समाज के दुख और विपन्नावस्था को देखकर सिद्धों को भी दुख होता है। समाज के दुख एवं विपन्नावस्था के अनुपात में सिद्ध भी दुखी होते हैं, विपन्नता एवं बद्धता का अनुभव करते हैं। अतः समाज को माने समाज के व्यक्तियों को बन्धनमुक्त होने का मार्ग-दर्शन कराते समय सिद्ध भी बन्धनमुक्त हो सकते हैं। तात्पर्य, तीनों उपायों की योजना करने में सबका हित होता है।

सबसे पहले नीति-स्थापना करनी चाहिए। बद्धजनों में नीति का अत्यन्त लोप पाया जाता है (५-७)। वे स्वधर्म, भूतदया, आत्मज्ञान से नितान्त अपरिचित होते हैं, उन पर निन्दा, द्वेष, अनीति, भ्रष्टाचार, कपट, कलह, पाखण्ड पिशुनता, क्रूरता, कातरता, दुराशा आदि का प्रबल आवरण होता है। पहला कार्य आवरण को अलग करना है। यह नीतिपूर्वक किया जा सकता है। नीति से मलिन वृत्ति विमल होकर मनुष्य में सुधार होता है। सत्व, रज, तम माया के जो तीन गुण है उनमे से कौनसा ग्राह्य है और कौनसा अग्राह्य इसका पता गुरु के उपदेश से चल गया तो एक बहुत बड़ा काम सम्पन्न हुआ समझना चाहिए। नीति-शिक्षा तथा नीति-स्थापना का हितकारी महत्व भली भाँति स्पष्ट करने के उद्देश्य से रामदास ने 'दासबोध' का दूसरा दशक तथा पहले दशक का दसवाँ समास लिया है। यह प्रस्ताव प्रस्तुत कर कि देह अनीति की भाँति नीति के हितार्थ काम में लाई जा सकती है, रामदास ने दूसरे समास मे बुद्धिमान एवं मूर्ख, कुविद्या एवं सुविद्या, सतोगुण एवं रजोगुण का निरूपण किया है। अज्ञानी नीति नही जानते इसलिए यदि वे कुलक्षणी बन जायें तो कोई आश्चर्य नही। अज्ञानियों को उपदेश से सुधारा जा सकता है। अज्ञानियों के अतिरिक्त विद्वन्मान्य कठ-विद्वानों का जो वर्ग होता है, उसे सुधारना बहुत विकट कार्य है। वे कठ विद्वान बहुश्रुत एवं व्युत्पन्न मति होते हैं, ब्रह्मज्ञान की डींगें हांकते हैं परन्तु क्रोध, मत्सर, अभिमान तथा दुराशा उन पर सवार होती है अतः वे स्वयं स्वधर्म की निन्दा करते हैं, भक्तिमार्ग का मजाक उड़ाते है और भूतदया भूल जाते हैं और अज्ञानियो से वही कराते है। अस्वलक्षणयुक्त कठ-विद्वानों को सुधारना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार अज्ञानियो परन्तु पढ़न्तू अनीतिमान लोगों की नीति सुधारने का प्रयत्न करना और उसके लिए संस्था स्थापित करना परमार्थ-सोपान की पहली सीढ़ी है।

परमार्थ प्राप्ति का दूसरा साधन है धर्म स्थापना। धर्म का अर्थ है परमेश्वर की उपासना अथवा भक्ति। भक्ति नौ प्रकार की होती है (दशक ४) जिसमें आत्मनिवेदन सर्वश्रेष्ठ है। शेष आठ प्रकार की भक्ति में आत्मा तथा परमात्मा में भेद की स्थिति हो सकती है। भक्ति का विषय परमात्मा तथा भक्ति करने वाला भक्त दोनों में भिन्नता है, ऐसा आठ प्रकारों में कदाचित् प्रतीत होता है; किन्तु नवें प्रकार की भक्ति में भक्त के मन में एकता का वह भाव उत्पन्न होता है जो विभक्ति को नष्ट कर देता है। इसी उपासना को आत्मज्ञान कहा जाता है। रामदास के मतानुसार उपासना एव ज्ञान दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। उपासना ज्ञान स्वरूपिणी है, उपासना ही ज्ञान है (२०-४-२०) ऐसा रामदास ने बारम्बार कहा है। अध्यात्म का श्रवण, देवता पूजन, भजन, स्नान सन्ध्यादि धर्म सबका अन्तर्भाव उपासना में होता है। सारांश, कर्म तथा ज्ञान उपासना मार्ग अथवा भक्तिमार्ग के अग हैं। भक्तिमार्ग में प्रतिमाओं का पूजन बतलाया गया है, पर रामदास उच्च स्वर में घोषित करना नहीं भूलते कि प्रतिमाएँ परमात्मा के मात्र चित्र हैं। परमात्मा को पहचानना महत्व की बात है इसलिए रामदास दसवें दशक के नवें समास की छठी और सातवीं ओवी में बतलाते हैं—

महान व्यक्तियों की मृत्यु होती है। उनकी "मूरतें' देखी जाती है।
वैसी ही गति है। उपासना की ॥ (२०-९-६)

सारांश, मनुष्य की कल्पनानुसार निर्मित परमात्मा की प्रतिमा में स्वयं परमात्मा का ध्यान करना ही उपासना है। प्रतिमाएँ चाहे जैसी हों, चाहे जो नाम धारण करती हो, ध्यान में रखने की बात यह है कि वे सब एक ही परमात्मा की प्रतिमाएँ हैं; एक ही परमात्मा के नाम हैं, लोग उस अनिर्वचनीय वस्तु को खण्डोबा, विठोबा, नारायण, कृष्ण, लक्ष्मी, विष्णु, राम आदि नाना प्रकार के नामों से पुकारते है (दशक ११, समास २); परन्तु यह न भूलना चाहिए कि वह अनिर्वचनीय वस्तु एक है। स्वधर्म, कुलधर्म, वर्णाश्रम-धर्म सब एक ही उपासना-धर्म के अर्थात् भक्तिमार्ग के अन्तर्गत आते हैं। लोगों को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त करना ही उन्हें परमार्थ-साधना की ओर बढाना है। अतः भक्तिमार्ग की स्थापना अथवा धर्म की स्थापना करना मुक्ति का महान् साधन है। धर्म-स्थापना करने वाले नर ईश्वर का अवतार होते हैं, यह भी जोर देकर रामदास ने कहा है (१८-६-२०)। भक्तिमार्ग का सार है आत्मज्ञान; शकाएँ-प्रतिशंकाएँ आशंकाएँ दिखलाकर सब भाँति समग्र दासबोध में रामदास ने उसका निरूपण किया है।

समाजोद्धार का तीसरा साधन : राज्य-स्थापना

नीति तथा धर्म की स्थापना करने से मोक्ष, मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता-रूपी परमार्थ का अंशतः लाभ होता है। पर हम चाहे कि लाभ पूरा हो, अप्रतिहत हो, कोई कठिनाई कभी पैदा न हो तो एक अन्य साधन की आवश्यकता है। वह साधन है राज्य स्थापना। ऐसी बात नहीं कि समाज के सभी मुमुक्षु नीतिमान हों। एक बहुत बड़ी संख्या बद्धजनों की अर्थात् मुक्ति पराङ्मुख व्यक्तियों की भी है। नीतिमान न्याय की ओर एव अनीतिमान अन्याय की ओर प्रवृत्त होते है; दोनो मे परस्पर विरोध होता है। विरोध समाज को तत्व से अर्थात् परमार्थ से परावृत्त करता है जिससे मुमुक्षु समाज तथा आत्मा की हानि होती है। रक्षक हीन समाज में मुमुक्षुओं की संख्या बद्धजनों की संख्या से स्वभावतः कम होने से केवल नीति के बल पर अनीतिमान लोगों को कब्जे में रखकर नीति विजयी नही हो सकती। इसीलिए नीति की रक्षा और अनीति का उच्छेदन करने के लिए दण्ड देनेवाली शक्तिशालिनी संस्था की आवश्यकता होती है। राज्य-संस्था वही संस्था है।

जो नीति की, वही धर्म की बात है। स्वधर्म के विरुद्ध बद्धजनों के समाज में अखण्ड व्यवहार चलते रहते है। पाखण्डी तथा नास्तिक देवता और धर्म के विरुद्ध कमर कसे रहते है और उनकी सहायता वे परधर्मी करते हैं जिनकी परमात्मा-विषयक कल्पनाएँ अपने से भिन्न हैं। वे सदा देवता और धर्म का विरोध करते हैं। आर्यों के सिद्धों तथा साधकों ने जिस परमार्थ को अत्यन्त उग्र तपस्या से और सौभाग्य से पाया है और जो समस्त अर्थों में परमश्रेष्ठ है उसके सम्बन्ध में परधर्मीजनों को कुछ भी ज्ञान न होने से और उनमें तमोगुण की विशेष प्रबलता होने से तथा बद्धावस्था में मोहमय पदार्थ सुखों के प्रति सम्पूर्ण आसक्ति होने से वे परमार्थ प्रवण संस्थाओं का तिरस्कार ही नहीं करते; बल्कि उन्हें उखाड़ फेंकने की मेहनत भी करते हैं। इन दुष्टों और अधर्मों से धर्म की रक्षा करनेवाली, दण्ड दे सकनेवाली संस्था की आवश्यकता होती है। जहाँ न्याय और धर्म का प्रसार हुआ और मुमुक्षु-वर्ग का उदय हुआ वहाँ राज्य-संस्था निर्माण करने की अत्यन्त आवश्यकता होती है। सच देखा जाय तो परमार्थ की खोज करनेवाले समाज मे नीति धर्म पर निर्भर करने वाली राज्य संस्था अपने आप अवतीर्ण होती है।

रामदास ने स्थान-स्थान पर राज्य संस्था के सिद्धान्त का उत्कृष्ट वर्णन किया है। व्यक्तिभूत नरदेह का आश्रय लेकर रहनेवाली आत्मा चेतन-रूप है; पर देहावरण मे उलझ जाने से आत्मा की चेतना पर जंग चढ़ जाती है।

अतः परात्पर आत्मा से, जो पूर्ण चेतना का अक्षय आगार है, सायुज्यता प्राप्त
करनी हो तो अपूर्ण चेतना को अधिक पूर्ण चेतना के अधिष्ठान का आश्रय
लेना होगा। अथवा अन्तरात्मा की सत्ता से सृष्टि
राजा की सत्ता से (फौजें) चलती हैं। चलती है।।
पर यह तात्विक बात है। भेद केवल चेतना का है। (१५-३-४) राजा
अथवा राज्य संस्था श्रेष्ठ चेतना का अधिष्ठान है। इस सिद्धान्त को एक दूसरा
दृष्टान्त देकर समर्थ रामदास स्पष्ट करते हैं :

दोनों ओर फौजें खडी हैं। ऊँचे सिंहासन पर राजा आसीन है।
इसका विचार कीजिए। अन्तःकरण में। (१५-३-२)।

दोनों ओर लाखों सैनिकों की फ़ौजें होती हैं और राजा उच्च सिंहासना-
धिष्ठित होकर अधिक अधिकारपूर्वक आदेश देता है उसी प्रकार लाखों
व्यक्तियों के समाज को परमात्मा-रूपी राज-संस्था अधिक चेतन स्वर में
आदेश देती है।

विवेक के कारण बहुत बड़े बन गये। इसीलिए महान् अवतारी कहलाये।।
मनु चक्रवर्ती राजा बने। उसी न्याय से।। (१५-३-५)

आज तक जिन अवतारी राजाओं ने राज्य स्थापित किये वे सब विवेक के
उच्च चेतना के महान् अधिष्ठान थे। मनुष्यों के फैलाव में राजा परमात्मा के
साध्य का तत्वरूपी धागा है (१५-३-१)। गीता में भी कहा गया है कि जिसे
मनुष्य-समाज में राजा कहा जाता है वह मैं परमात्मारूप हूँ (१०-२७)।

इस प्रकार रामदास की मान्यता है कि राजा परमेश्वर है और राज्य-
संस्था में परमेश्वर का अधिष्ठान है उसी प्रकार जैसे जीवात्मा का अधिष्ठान
शरीर है। राज्य-संस्था का मुख्य कार्य धर्म तथा नीति की सहायता करना
है, सहायता लेना है (११-६)। धर्म तथा नीति का मार्ग परमार्थ की खोज
करनेवाला है, अतः राज्य-संस्था का मुख्य हेतु समाज को परमार्थ की ओर
प्रवृत्त करना है। यह वही परमार्थ है जो मुक्ति, मोक्ष, स्वतन्त्रता आदि
विभिन्न नामों से पहचाना जाता है। इस प्रकार आत्यन्तिक मोक्ष अर्थात्
सायुज्यता का हेतु ध्यान में रखकर मानव-समाज चले तो वह नीति, धर्म
तथा राज्य का आश्रय ग्रहण करता है। आश्रय ग्रहण कर वह राजनीतिक,
नैतिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। प्राप्त वस्तु अनेक शतियों

तक बनी रहे तो पूर्ण स्वतन्त्रता का लाभ होकर वह परमात्मा से एकाकार होता है अर्थात् आत्मा अपने असली घर पहुँच जाती है।

नीति, धर्म तथा राज्य स्थापित करने की पद्धति

रामदास यही कहकर चुप नहीं रहे कि परमार्थ-प्राप्ति की नीति, धर्म तथा राज्य नामक संस्थाओं को स्थापना करनी चाहिए बल्कि उन्होंने परम कारुणिक बुद्धि से स्थापना की पद्धति का निरूपण अनेक स्थानों पर किया है। संसारोद्धार के लिए सिद्धों को साधनों के रूप में एकान्त में वास्तविकता का अध्ययन करना चाहिए, उत्तम गुणो को संग्रह करना चाहिए; लोगों को शिक्षित बनाना चाहिए और प्रचण्ड समुदाय बनाने चाहिए (११-१०-१८)। लोगों के समुदाय स्थापित कर, मण्डलियाँ बनाकर भूतदया का बीजारोपण करने से नीति की संस्थापना होती है क्योंकि चेतना की दृष्टि से सबका हृदय समान है (१०-१-१५)। चेतना की दृष्टि से समानता होने के कारण मनुष्य सबको आत्मवत् मान सकता है (१२-१०-२२)। रामदास नीति-स्थापना का इस प्रकार विचार करते है। उनका कथन है कि धर्म-स्थापना के लिए ब्राह्मणों, सन्तों एव भक्तों की मण्डलियाँ स्थापित करनी चाहिए (१६-६-१४); परमात्मा के ज्ञानपूर्वक भजन तथा सकीर्तन से दसों दिशाओं को गुंजा देना चाहिए। ऐसा करने से कर्मठ कर्ममार्गी ब्राह्मण, ज्ञानमार्गी सन्त तथा सब भजन-प्रिय जातियों के भक्त परमार्थ के निमित्त एकत्र आएँगे; मत तथा मन से एक बनेंगे। यह कार्य सिद्धों द्वारा ही किया जा सकता है:

ऐसे जो महानुभाव हैं। उन्हे समुदाय बनाना चाहिए ॥
भक्तियोग से देवाधिदेव को। अपना बनायें ॥(१२-१०-३२)

सिद्ध, साधक अथवा महानुभाव समुदाय अथवा मण्डलियाँ ही क्यों स्थापित करें? क्या एक-एक मनुष्य को उपदेश देने से काम नहीं बनेगा? उसका उत्तर देते हुए रामदास कहते हैं:

हम अचानक मर जायें। भजन कौन कराये?
इसलिए भजन करायें। बहुत जनों से ॥(१२-१०-३३)

किसी मत अथवा विचार के सम्पूर्ण एवं सफल प्रसार के लिए एकाकी मनुष्य की अपेक्षा अनेक मनुष्यों द्वारा निर्मित भिन्न-भिन्न मण्डलियाँ अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं। अकेला मनुष्य कुछ अधिक नहीं कर सकता। महान् कार्य की सिद्धि अनेकों के सहयोग से होती है (१२-१०-३७)। यह क्रम पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलना चाहिए। पर जल्दबाजी से काम नहीं बनता।

धीरे-धीरे शिष्य बनायें। धीरें-धीरे अन्त तक ले जायें
विवेकपूर्वक ॥ (१२-१०-४४)

धर्म-स्थापना की पद्धति तथा साधनों का सविस्तार ऊहापोह समर्थ रामदास ने दासबोध के अनेक समासों में किया है; मैंने ऊपर केवल दिग्दर्शन कराया है। जिज्ञासुओं को मूल 'दासबोध' पढ़ना चाहिए।

राज्य की स्थापना जो परमार्थ की ओर ले जानेवाली तीसरी राह है, समुदाय-द्वारा सम्पन्न होती है। इस कार्य के लिए विशाल समुदाय की आवश्यकता होती है और उसे बलशाली बनाकर सतत् तैयार रखना पड़ता है (१६-६-२२)। एक ऐसे समुदाय के स्थापित होने के पश्चात् चारों ओर मनुष्य मात्र में परमार्थ-बुद्धि उत्थान पाने लगती है (१५-२-२७)। हमीं अन्य जन हैं; हमीं सम्पूर्ण राष्ट्र हैं—यही भावना राजनीतिक दृष्टि से परमार्थ-बुद्धि कहलाती है। समुदाय के हृदय में इस भावना के घर कर लेने से नीति तथा धर्म-जैसी इष्ट एव आवश्यक संस्थाओं की रक्षा के लिए लोग निष्ठापूर्वक राजनीति में भाग लेते हैं। जो समुदाय या समाज उक्त प्रकार का कार्य-विस्तार तथा संकोच करता है, धक्के और रेले सहता है वही देखते-देखते उन्नति करता है, परमार्थ प्राप्त करता है (१५-३-७)। बिना कड़ी मेहनत के संसार में राज्य नहीं प्राप्त हुआ करता (१८-७-३) और बिना प्राप्त किए नीति एवं धर्म सुरक्षित नहीं रह पाता। सिद्धों एवं साधकों को राजनीतिक समुदाय निर्माण करने चाहिए। ऐसा आदेश देकर समर्थ रामदास व्यक्तिमात्र से कहते हैं कि उसे देश के या उसके प्रतिनिधि के समुदाय में सुख से रहना चाहिए। विलग व्यक्ति ऐसे आश्रय के अभाव में नहीं जी सकता।

आत्माराम रक्षक न हो। तो कोई भी पीटता है। (१६-१०-३०)

इस प्रकार समुदाय बनाकर राज्य-स्थापना करना नीतिमान तथा धर्मनिष्ठ नेताओं तथा उनके अनुयायियों के लिए हितकारी है क्योंकि दोनों की सहायता से जीवात्मा को परमार्थ का, मोक्ष का, मुक्ति का पूर्ण, स्वतन्त्रता का लाभ होता है।

परमार्थ सबका विश्राम है। परमार्थ जन्म की सार्थकता है।
परमार्थ संसार में उद्धार कराता है। परमार्थी राज्यधारी है।
(१-६-२०,२१, २३)

श्रीमद्भगवद्गीता तथा दासबोध

रामदास के 'दासबोध में किया गया विवेचन श्रीकृष्ण के गीता-उपदेश से

कोई सैद्धान्तिक भिन्नता नहीं रखता। देश तथा युग की परिस्थितियों की दृष्टि से निरूपण तथा विवेचन में परती-मामगान का भेद है। गीता में जो निरूपण किया गया है यह गीता-कालीन समाज की स्थिति के अनुकूल था। समाज की स्थिति में परिवर्तन हो जाने पर यह नवीन परिस्थितियों के लिए विशेष उपयोगी नहीं था और भिन्न निरूपण की आवश्यकता थी। नयी परिस्थितियों को लक्ष्य कर शिवगीता, रामगीता, गुरुगीता, गर्भगीता, उत्तरगीता, अवधूतगीता, ब्रह्मगीता, हंसगीता, पाण्डवगीता, मनुगीता, गणेशगीता, यमगीता आदि नाना प्रकार की गीताएँ रची गईं। उसके उपरान्त केवल तत्कालीन महाराष्ट्र पर लागू होनेवाली तेरहवीं शती में ज्ञानेश्वरी-गीता मराठी में लिखी गई। उक्त गीता का तत्कालीन समाज पर क्या प्रभाव पड़ा इसका विचार अन्यत्र किया जायगा। इस समय इतना ही कह सकते हैं कि ज्ञानेश्वरी-गीता का रामदास-कालीन युग में कोई उपयोग नहीं था। तेरहवीं शती के महाराष्ट्र और सत्रहवीं शती के महाराष्ट्र में बहुत अन्तर था। भाषा, नीति, रीति रिवाज, धर्म आदि के सम्बन्ध में विलक्षण तथा शोचनीय भेद दिखाई पड रहा था। ऐसी स्थिति में तीन सौ वर्ष पूर्व की गीता किस काम आ सकती थी? उसकी प्राचीन भाषा तथा टीकात्मक अनावश्यक विस्तार सत्रहवीं शती के समाज को किस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट कर सकता था? अतः फर्क को ध्यान में रखकर, वेदान्त के सिद्धान्तानुसार रामदास ने 'दासबोध' की स्वतन्त्र रचना की। 'दासबोध' किसी ग्रन्थ की टीका नहीं है। स्वकालीन नैतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को सम्पूर्णतः ध्यान में रखकर उसकी स्वतन्त्र बुद्धि से रचना की गई। गीता तथा वेदान्त के सिद्धान्तों को तो इसमें आधार माना ही गया है, परन्तु गीता के सिद्धान्तों में विपर्यास उत्पन्न होकर जो एक प्रकार की ऐकान्तिकता अब तक बनी हुई थी और जो अब तक कुछ अंशों में बनी हुई है, वह 'दासबोध' में टाली गई प्रतीत होती है।

गीता, सच देखा जाय तो कोई नैराश्यवादी, कातर्यवादी अथवा आलस्यवादी ग्रन्थ नहीं है। फिर भी उन संन्यासियों और वैरागियों के वर्ग ने जिसे जनता "मुक्त" मानती थी, सारे लौकिक धर्मों का त्याग कर दिया; वह दूसरों पर भार बनकर अपना पेट भरने लगा और इस प्रकार लोकोद्धार का महान कार्य भूल गया। संन्यास समस्त कर्मों का त्याग नहीं है; गीता में उच्च स्वर में घोषित किया गया है कि सच्चा संन्यास वह है जब मनुष्य समस्त कर्म अन्य जनों की भाँति अथवा उनसे श्रेष्ठ रूप में करते हुए भी

उसके फल के प्रति निष्काम बना रहता है। इस सिद्धान्त को ताक पर रख कर संन्यासी जन परोपजीवी तथा स्थाणु वनस्पतियों की भाँति जीवन-यापन करने लगे। रामदास ने 'दासबोध' के भिक्षा-निरूपण में प्रतिपादित किया है कि आलस्यमय जीवन-क्रम सिद्धों तथा संन्यासियों के स्वभाव के विरुद्ध है। परमार्थ के ज्ञानी सिद्धों को चाहिए कि वे साधक के रूप में लोगों को परमार्थ का मार्ग दिखलायें—यह बात रामदास ने अनेक स्थानों पर स्पष्टता तथा विस्तारसहित बतलायी है जो 'दासबोध' की एक अन्यतम विशेषता है। गीता में व्यापकता से बतलाया गया है कि नीति तथा भक्ति की प्राप्ति व्यक्ति किस प्रकार कर सकता है; परन्तु दस-पाँच उल्लेखों को छोड़ दें तो कहीं यह नहीं प्रतिपादित किया गया कि मनुष्य को समाज-बद्ध बनाकर नीति एवं धर्म की ओर किस प्रकार प्रवृत्त किया जाय। 'दासबोध' के प्राण इसी विवेचन में बसते हैं। दूसरे, गीता में राज्य-संस्थापना के विषय में—नराणाञ्च नराधिपम्—जैसे कुछ खण्डवाक्यों के अतिरिक्त स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। 'दासबोध' में स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है कि राज्य-संस्था ईश्वर की देह है। सारांश, गीता जिन विषयों के प्रति मुग्ध है, उन्हें 'दासबोध' स्पष्ट शब्दों में अंकित करता है।

विस्तार तथा स्पष्टतापूर्वक परमार्थ तत्प्रवण साधनों का विवेचन रामदास न करते तो तत्कालीन महाराष्ट्र-समाज की बद्धावस्था अर्थात् परतन्त्र स्थिति से मुक्त होने की कतई सम्भावना नहीं थी। गीताकालीन समाज ने रामदास कालीन समाज की विपदाओं का सामना नहीं किया था। मान लिया जाय कि गीता भारतीय युद्ध (महाभारत) के समय रची गई तो यह भी मान्य करना पड़ेगा कि उस समय देश गृह-कलह में डूबा हुआ था, दोनों दल युयुत्सु थे, एकधर्मी थे; परन्तु राज्यसंस्था विनष्ट नहीं हुई थी। यदि मान लें कि गीता भारतीय युद्ध के हज़ार-पाँच सौ वर्ष बाद रची गई तब भी यहाँ प्रतीत होता है कि उसका मुख्य उद्देश्य सांख्य तथा बौद्ध मतों का एकीकरण करना था। रामदास के युग की समस्या सांख्य अथवा बौद्ध मत का वेदान्त से एकीकरण करने की नहीं थी; न यह प्रश्न था कि धर्मराज्य जो हिन्दुओं के अधिकार में था किसे दिया जाय। समस्या एकदम भिन्न थी; राज्य-संस्था परधर्मी म्लेच्छों के अधिकार में जा चुकी थी; नीति एवं धर्म का प्रायः उच्छेद हो चुका था, हिन्दू समाज बिलकुल बिखर चुका था।

कलि-धर्म-निरूपण में तथा अन्यत्र रामदास ने हिन्दू समाज के बिखराव का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। जब से म्लेच्छों ने महाराष्ट्र पादाक्रान्त

किया तब से सारे महाराष्ट्र में अभूतपूर्व चमत्कार दिखायी पड़ने लगे। राजाओं और उमरावों का वैभव देखकर जनता अपने आचार-विचारों, शास्त्र-सिद्धान्तों, रीति-रिवाजों, देवता-धर्म को बेकार समझने लगी। अपने देवताओं को त्याग कर लोग दाऊद-उल-मुल्क उर्फ "दावलमलक" नामक मुसलमान पीर को भजने लगे। अनेक व्यक्तियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। ब्राह्मणों का बुद्धिनाश हुआ। शुद्र एवं मतिमूढ़ लोग ब्राह्मणों को शास्त्र पढ़ाने लगे। शुद्ध ब्राह्मणों के समान रहने लगे। ब्राह्मणों में आपसी टण्टे-बखेड़े बढ़ने लगे। चातुर्वर्ण्य नष्ट हो गया। चारों ओर अराजकता छा गई। इस प्रकार नीति तथा धर्म का प्रभाव समाप्त हुआ और हिन्दुओं का राज्य म्लेच्छों के हाथ में पहुँचा तो हिन्दू बुरी तरह मुसलमानों के चंगुल में फँस गये। तीर्थ-क्षेत्र बरबाद हो गये, मूर्तियाँ तोड़ दी गईं, स्त्रियाँ भ्रष्ट की जाने लगी। धर्म का पूरा लोप हो गया। इस भयंकर स्थिति में रामदास ने नासिक में शक-सम्वत् १५५४ अर्थात् सन् १६६२ ई० में नीति, धर्म तथा राज्य स्थापित कर जनता को परमार्थ की ओर प्रवृत्त करना निश्चित किया। उसी निश्चय का फल है—दासबोध। दासबोध में गीता की भाँति यह नही कहा गया कि अनीतिमान भाई-बन्दों को मारकर राज्य प्राप्त करने में पाप नही, बल्कि इस बात पर जोर दिया गया है कि नीति, धर्म तथा राज्य-संस्थाएँ जो पूर्णतः डूब चुकी हैं, क्यों और किस प्रकार स्थापित की जायें। रामदास के उपदेश का सार यह है कि नीति, धर्म तथा राज्य परमात्मा के अर्थात् परमार्थ के अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्रता के मूर्त्त रूप हैं अतः उन्हें स्थापित करना, उन्हें आश्रय देना मुमुक्षुओं के लिए नितान्त आवश्यक है।

महाराष्ट्र-धर्म

रामदास का निरूपण वैसे तो हिन्दुस्तान के समस्त आर्य जनों पर समान रूप से लागू होता है; पर उनका लक्ष्य महाराष्ट्र की ओर प्रमुखता से था। प्रायः समस्त भारत तथा महाराष्ट्र का अधिकांश प्रदेश म्लेच्छ संस्कृति द्वारा ग्रस्त किया जा चुका था। अतः शेष "महाराष्ट्र देश" (१५–२–४) को लक्ष्य कर रामदास ने उपदेश दिया है। परमार्थ के मुख्य साधन नीति, धर्म तथा राज्य मूर्त होकर अवतीर्ण हो सके इसके लिए केवल महाराष्ट्र देश प्रस्तुत था। उसी को उद्देश्य कर रामदास ने "महाराष्ट्र-धर्म" शब्द का प्रयोग किया है। महाराष्ट्र-धर्म में प्रयुक्त "महा" को निकालकर शेष "राज्य-धर्म" शब्द से कौनसा अर्थ अभिव्यक्त होता है, देखने योग्य है। 'परमार्थ-

प्रवण नीति, धर्म तथा राज्य सारे भारत के लिए समान हैं; परन्तु महाराष्ट्र-धर्म केवल महाराष्ट्र देश के लिए है। महाराष्ट्र-धर्म महाराष्ट्र का कर्तव्य है; यह कर्तव्य जो परमार्थ-प्रवण नीति, धर्म तथा राज्य के प्रति महाराष्ट्र देश का होगा। मैंने "मराठों के इतिहास के साधन" ग्रन्थ के पहले और चौथे खण्डों की प्रस्तावना मे महाराष्ट्र-धर्म का विस्तृत विवेचन किया है। स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानाडे ने सिद्ध किया कि महाराष्ट्र-धर्म को अंग्रेजी "रिलीजन" का समानार्थी मानना त्रुटिपूर्ण है। रानाडे महोदय ने अपनी त्रुटि को आगे चलकर एक व्याख्यान मे स्वीकार किया। श्रीमती रमाबाई द्वारा सद्यः प्रकाशित रानाडे महोदय के धर्म-व्याख्यान में महाराष्ट्र-धर्म स्पष्टतया अंग्रेजी के "पेट्रियाटिज्म" के समान माना गया है। इतिहासकार सरदेसाई का ध्यान इस तथ्य की ओर नही गया अतः उन्होंने अपनी "मराठी रियासत" में रानाडे के पूर्वोक्त कथन को उद्धृत किया है। हम आर्यों का जो सनातन धर्म है उसके प्रति महाराष्ट्र-धर्म अभिमान रखता है। महाराष्ट्र धर्म को धर्म की भाँति नीति तथा राज्य पर भी गर्व है। अतः सनातन धर्म को महाराष्ट्र धर्म कैसे माना जा सकता है? परन्तु इस प्रश्न का समाधान विस्तारपूर्वक अन्यत्र किया जा चुका है; उसकी पुनरुक्ति यहाँ नहीं करूँगा।

आधुनिक यूरोपीय शास्त्रों की कसौटी पर

अब तक हमने रामदास के परमार्थ-प्राप्ति विषयक विचारो का पृथक्करण किया, अब देखना होगा कि वे विचार आधुनिक यूरोपीय शास्त्रों की कसौटी पर कहाँ तक खरे उतरते हैं।

मानव-समाज की हजारों वर्षों पुरानी प्रयत्नशीलता पर कई प्रकार से विचार किया जा सकता है।

(१) मानव-समाज के साद्यन्त इतिहास कर अध्ययन कर कई शास्त्रज्ञ देखते है कि उसकी प्रयत्नशीलता का वास्तविक अर्थ क्या है। इससे यही पता चलता है कि समाज अमुक प्रकार के चरित्र धारण करता रहा है। कल वही समाज क्या करेगा इसकी जानकारी आगामी व्यवहार द्वारा मिलती है। इतिहास भविष्यवाणी नही करता। इस पद्धति को *समाज की प्रयत्नशीलता* का विचार करने वाली ऐतिहासिक पद्धति कहा जाता है।

(२) प्रयत्न-रत समाज कैसा रूप अथवा शरीर धारण करता है इसका विचार कई शास्त्रज्ञ करते हैं। प्रयत्न करते समय समाज एकसत्तात्मक बना रहता है अथवा बहुसत्तात्मक चातुर्वर्ण्य स्वीकार करता है अथवा एक जाति

बनाकर रहता है, इसका विचार किया जाता है। इसे समाज की प्रयत्नशीलता का विचार करने वाली शारीरिक पद्धति कहते हैं।

(३) कई शास्त्रज्ञ समाज के रूपों अथवा चरित्रों का, उनके लक्षणों का निदान करते हैं। इस पद्धति को लाक्षणिक पद्धति कहा जाता है।

(४) तीनों पद्धतियों से भिन्न एक और पद्धति है जिसके अनुसार समाज के चरित्रों, लक्षणों अथवा शरीर की ओर पूरी तरह ध्यान न देकर उन व्यक्तियों की दृष्टि का विचार किया जाता है जो समाज का संचालन करते हैं। इस पद्धति को आत्मिक, तात्विक अथवा वैवेकिक पद्धति नाम से पहचाना जाता है जिसके अन्तर्गत समाज तथा मनुष्य की संचालिका—आत्मा—की प्रयत्नशीलता की ओर ध्यान दिया जाता है। आत्मा का स्वभाव, रूप, कार्य, अन्तिम उद्देश्य आदि प्रश्नों का ऊहापोह कर देखा जाता है कि समाज किस ओर बढ़ रहा है।

इन चार पद्धतियों को यूरोपीय विद्वान क्रमशः (१) हिस्टॉरिकल, (२) मॉर्फोलॉजिकल, (३) फिजियोलॉजिकल तथा (४) सायकोलॉजिकल अथवा फिलोसॉफिकल अथवा रॅशनल पद्धति कहते हैं। रामदास ने 'दासबोध' में चौथी—आत्मिक, तात्विक अथवा वैवेकिक पद्धति का अनुसरण किया है। यूरोप में श्लेगेल, हीगेल, आदि दार्शनिकों ने इसी पद्धति को स्वीकार किया है जो प्रसिद्ध है। स्पष्ट है कि जो व्यक्ति दर्शनशास्त्र के आत्मज्ञान के पीछे दौड़ता है वह इसी पद्धति का अनुसरण करता है। मनुष्य यदि आत्मा है तो उसकी प्रत्येक गतिविधि का विचार आत्मा की दृष्टि से करना होगा। अन्य दृष्टियों से विचार करना मात्र एकांगिता होगी। यों उसका भी अपना एक महत्व तथा उपयोग है परन्तु मानव-समाज की प्रयत्नशीलता के अन्तिम उद्देश्य का विचार करना हो तो आत्मिक अथवा तात्विक पद्धति को स्वीकार करना पड़ेगा।

जिन शास्त्रज्ञों ने पहली तीन पद्धतियों को स्वीकार किया है उनके मतानुसार समाज अथवा राज्य की प्रयत्नशीलता का अन्तिम उद्देश्य सुखवृद्धि, राजपुरुष के सुख-साधन आदि है। ब्लन्शले आदि इतिहासज्ञों एवं राजनीतिज्ञों की मान्यता है कि समाज अथवा राज्य-स्थापना का मुख्य एवं अन्तिम उद्देश्य राष्ट्रीय गुणों की पूर्ण वृद्धि करना है। हमारे विचार में समस्त मानव-जाति के प्रचण्ड एवं अव्याहत प्रयत्नों के अन्तिम उद्देश्य की परीक्षा उपर्युक्त विचारकों द्वारा नहीं की जा सकती; क्योंकि वे समाज के मात्र बाह्य तथा

आन्तरिक रूप की ओर ध्यान देते हैं। उस रूप को दूर कर शुद्ध तथा विमल निरुपाधिक आत्मस्वरूप की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर जिन विचारकों ने मानव-समाज की गतिविधियों का विचार किया है उनमे रामदास के विचार हीगेल से बहुत समानता रखते हैं। हीगेल वेदान्तवादी दार्शनिक था। उसने अध्यात्म-दृष्टि से "फिलोसॉफी आफ् हिस्ट्री" नामक ग्रन्थ मे मानव-समाज के अन्तिम उद्देश्य का विवरण दिया है। नीचे उसका सारांश देकर रामदास-कृत निरूपण से तुलना की गई है।

हीगेल का ऐतिहासिक तत्वज्ञान

हीगेल के मतानुसार ससार आत्मा तथा माया, दो इकाइयों से निर्माण हुआ है। जो चिरस्वरूपमय है वह आत्मा है; जो पचभूतात्मक है वह माया है। मानव-समाज के इतिहास मे पचभूतों का याने नदियाँ, पहाड़, हवा, पानी आदि का अत्यधिक महत्त्व है। किन्तु मायात्मक पंचभूतों की अपेक्षा मानवेतिहास में आत्मा का महत्व कई गुना अधिक है। अतः प्रधान घटकात्मक आत्मा की प्रगति के तथा मूर्त अवतार के इतिहास को मानव का इतिहास कहना उचित होगा। माया का प्रमुख लक्षण है जड़ता, परतन्त्रता अथवा बद्धता और आत्मा का प्रमुख लक्षण है सूक्ष्मता, स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष। आत्मा स्वयम्भू, स्वतन्त्र तथा स्वसम्वेद्य है अर्थात् स्वयं को जाननेवाली है और वह अपने रूप की अर्थात् मोक्ष, मुक्ति किम्वा स्वतन्त्रता की खोज में रहती है। खोज के प्रयत्न को ही मानव-इतिहास कहा जाता है।

हीगेल आगे चलकर कहता है कि मानवेतिहास का निरूपण करने पर दिखायी देता है कि हम सब मनुष्य मुक्त हैं अथवा मुक्त होने की पात्रता रखते है। इसका पता यूरोपीय—जर्मन समाज को चल चुका है। ग्रीक तथा रोमन लोगो को इतना ही पता चल पाया था कि कुछ ही मनुष्य मुक्त होने की पात्रता रखते हैं और पौर्वात्य हिन्दू चीनी आदि लोगों को इतना ही मालूम था और है कि केवल एक मुक्त है। तीन समाजों की आत्मा के मुक्त स्वरूप के विषय में तीन भिन्न कल्पनाएँ होने से यूरोपीय पूर्ण स्वतन्त्र हैं; ग्रीक-रोमन अंशतः स्वतन्त्र थे तथा हिन्दू एवं चीनी पूर्णतः परतन्त्र अथवा बद्ध हैं।

इस प्रकार बद्धता, मुमुक्षा तथा मुक्ति आत्मा के इतिहास का—संसार के इतिहास का क्रम है। आशय यह कि मानव-समाज की प्रयत्नशीलता का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति, मोक्ष अथवा स्वतन्त्रता है। यही स्वतन्त्रता, यही मोक्ष यही स्वसम्वेद्यता आत्मा की "तत्ता" किम्वा तत्व है। मुमुक्षु इसी तत्व से

एकाकार होने की इच्छा कर आत्मा, धर्म, नीति अथवा राज्य का रूप धारण करता है। तीसरे रूप राज्य के चरित्र को राजनीतिक इतिहास के नाम से पहचाना जाता है।

आत्मा का राज्य के रूप में अवतीर्ण होना स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त करने का मार्ग पा लेना है। मार्ग पा लेनेवाले सीजर, नेपोलियन आदि वीर पुरुषों में बसनेवाले रज, तम तथा सत्व गुण संसार को उद्धार तथा प्रगति की ओर अर्थात् आत्मा को अपनी "तत्ता" अथवा तत्व की ओर पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। ऐसे ही पुरुषों को अवतारी अथवा वीर पुरुष कहा जाता है।

चूँकि राज्य परमात्मा अथवा जीवात्मा की "तत्ता" का अधिष्ठान या मूर्त रूप है इसीलिए वही राज्य सर्वोत्तम है जहाँ राज्य के हित तथा उसकी इकाई—मनुष्य—के हित मे कोई भिन्नता नही रह जाती।[1] अभिन्नता प्रस्थापित करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को आत्मा के तत्व अर्थात् परमार्थ से परिचित होना पड़ेगा। परिचय कराने का कार्य राष्ट्र की शिक्षा देनेवाली संस्थाओं की भाँति अन्य संस्थाओं का है। संस्थाओं के सहयोग से राज्य की इकाई—व्यक्ति—में अध्यात्म-ज्ञान की ओर ले जानेवाले सात्विक एवं राजस गुणों का प्रादुर्भाव होता है। उपर्युक्त विभिन्न संस्थाओं का विचार हीगेल ने अपने "फिलोसॉफी ऑफ हिस्ट्री" नामक ग्रन्थ में नहीं किया; किन्तु रामदास ने 'दासबोध' में अवश्य किया है।

---

१ इस सिद्धान्त का उल्लेख प्रो० सेल्बी ने पूना के एक भाषण में किया था। मेरे मतानुसार वह वर्तमानकालीन स्थिति पर पूरी तरह लागू नहीं होता। जहाँ राजा और प्रजा दोनों की नीति, धर्म तथा राज्य-विषयक समान कल्पनाएँ होंगी वहीं उक्त सिद्धान्त पूरी तरह लागू होगा। यदि राजा गोमांस-भक्षक हो और प्रजा गोमांस-भक्षण अनीतिमय मानती हो अथवा राजा ईसाई धर्म को परोक्ष या अपरोक्ष में प्रोत्साहित करता हो और प्रजा उसका विरोध करती हो, अथवा राजा स्वजनों को पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता देता हो और प्रजा की स्वतन्त्र नागरिकता के अधिकारों पर प्रतिबन्ध रखता हो, तो राजा और प्रजा का परमार्थ किस प्रकार समान हो सकता है? हीगेल ने जो कहा है कि संसार की विभिन्न जातियों के लोग "नेशनलिज्म" की ओर बढ़ रहे हैं, उसकी ओर कदाचित प्रो० सेल्बी ने ध्यान नहीं दिया, ऐसा प्रतीत होता है।

हीगेल के विचारों और 'दासबोध' में समानता

उपर्युक्त संक्षिप्त पृथक्करण से प्रकट होगा कि रामदास और हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों में बहुत समानता है। दोनों में एक भेद अवश्य है, वह यह कि हिन्दुओं के मतानुसार एक मुक्त है, शेष बद्ध है, यह जो हीगेल ने कहा है वह भ्रामक है। उसने इतिहास-विषयक व्याख्यान सन् १८२२ से १८३१ ई० के बीच दिये हैं। उस समय तक महाराष्ट्र के इतिहास का यूरोप को जरा भी ज्ञान नहीं था, न हीगेल सत्रहवीं शती में आत्मा की "सत्ता" की खोज करने के लिए मराठों-द्वारा किये गये उत्कट प्रयत्नों से परिचित था। उपनिषदों की भाँति यदि हीगेल रामदास के ग्रन्थों का अवलोकन करता तो भली भाँति जान लेता कि जिस प्रकार हिन्दुओं ने आत्मा की "सत्ता" की खोज की थी उसी प्रकार रामदास और शिवाजी ने उक्त "सत्ता" को मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया था।

सच तो यह है कि रामदास ने स्पष्टतः कहा है कि मुक्ति सबको उपलब्ध हो सकती है—

सब लोग बन्धनमुक्त हैं। भ्रम के कारण भूले हुए हैं ॥ (५-६-५७)

कहना न होगा कि महाराष्ट्र के इतिहास तथा साहित्य के प्रति अज्ञान के कारण हीगेल से उपर्युक्त भूल हो गई है। इसके अतिरिक्त, हीगेल ने जिस समय भाषण दिये थे उस समय भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विपरीत बन चुकी थी। विपरीत स्थिति का मिल आदि ग्रन्थकारों ने विपरीत वर्णन किया और हीगेल ने उन्हें आधार मानकर सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में भारतवर्ष में जो सात्विक गुणों का ह्रास हुआ उसका दोष महाराष्ट्र की जनता को दिया जाय, तो एक बार सुन लेना पड़ेगा। किन्तु यदि अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध के सौ वर्ष पूर्व सद्गुणों की जो वृद्धि महाराष्ट्र में पायी जाती है उसे आँख-ओझल करें तो पक्षपात करना होगा। पक्षपात की भावना मनुष्य को कुछ ऐसा अन्धा और कृतघ्न बना देती है कि जिसे निष्पक्षपाती दृष्टि निःसंशय उत्तम कहेगी उसे पक्षपाती व्यक्ति निन्द्य एवं त्याज्य दिखाते हुए आनन्दित होगा। भारत में कोई वस्तु यूरोप की अपेक्षा महान् हो तो महानता दोष मानी जाती है, ऐसी स्थिति में जो वस्तु सचमुच छोटी हो और क्षुद्र हो उसे और भी तुच्छ माना जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। महाभारत इलियड की अपेक्षा बृहदाकार है अतः वह उच्च कोटि की रचना नहीं है; द्वितीय बाजीराव फ्रेडरिक दि ग्रेट की तुलना में छोटा दिखाई देता है अतः वह तो और भी छोटा हुआ। यूरोप में योगी नहीं है

इसलिए योगी बुरे हैं; हिन्दुस्तान में इलोरा की गुफाएँ हैं इसलिए वे बुरी हैं। जो वस्तुएँ यूरोप में नहीं हैं हिन्दुस्तान मे वही होती हैं; जो वस्तुएँ यूरोप में है, हिन्दुस्तान मे वही नही है– इसलिए हिन्दुस्तान की सभी वस्तुएँ समान रूप मे निन्द्य है। ऐसा इसलिए माना जाता है कि हिन्दुस्तान राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नही है। इसी कारण हीगेल ने हिन्दुओं के नाम यह बक दिया है कि "वन इज फ्री।" सद्‌गुण के कारण समस्त मुमुक्षु स्वतन्त्र होने की पात्रता रखते है यह वेदान्त ने, गीता ने और रामदास ने बारम्बार कहा है; स्वयं हीगेल ने मोक्ष का सिद्धान्त वेदान्त से लिया है और फिर भी वह उक्त कथन करता है तो निस्सन्देह वह पक्षपाती, दुरभिमानी, दुराग्रही तथा महाराष्ट्र के इतिहास से अनभिज्ञ है। यूरोपीयो का दुराग्रह मिटाने के लिए और यह सिद्ध करने के लिए कि तीन सौ वर्षों से जिस प्रकार यूरोपीय लोग परमार्थ की ओर अग्रसर होते दिखायी पड़ रहे है उसी प्रकार मराठे भी प्रयत्नशील थे; इधर एक इतिहास-वेत्ता ने एक ग्रन्थ निर्माण किया है। वह है रानाडे महोदय का मराठों का इतिहास। ग्रन्थ की बहुत सी छोटी-मोटी बाते जानकारो की स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सकती फिर भी रानाडे का यह सिद्धान्त कि मराठों का इतिहास विश्व के इतिहास की एक इकाई बनने की योग्यता रखता है, सबकी मान्यता प्राप्त करेगा। रानाडे का ग्रन्थ यदि सौ वर्ष पूर्व लिखा जाता तो हीगेल को विश्वेतिहास के तत्वदर्शन मे हेर-फेर करना अनिवार्य हो जाता। इसका यह अर्थ नहीं कि यदि यूरोपीयो ने मराठों के इतिहास को नगण्य माना है तो वह सदा ही नगण्य बना रहेगा; कोई उसका पुछवैया न होगा। अस्तु।

अब तक के पृथक्करण तथा तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट होगा कि 'दास-बोध' किस कोटि का ग्रन्थ है। दासबोध उन ग्रन्थों मे है जिन्हे इतिहास का तत्वज्ञान कहते है। इतना अवश्य है कि 'दासबोध' की विचार-अभिव्यक्ति की पद्धति ऐतिहासिक नही; आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक है। परमार्थ-प्राप्ति से प्रारम्भ कर दिखलाया गया है कि नीति, धर्म तथा राज्य-संस्थाओं का उदय किस प्रकार होता है।

रामदास तथा अन्य सन्त

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामदास इतिहास-तत्व निरूपण करनेवाले प्रथम महाराष्ट्रीय ग्रन्थकार हैं। एकनाथ, तुकाराम आदि साधु-सन्त नीति तथा भक्ति की ओर अधिक उन्मुख थे। नीति तथा भक्ति के गीत गानेवाले साधु-सन्तों ने भी महाराष्ट्र का अत्यन्त हित किया है, इसमें सन्देह नही; परन्तु

राष्ट्रीय और राजनीतिक दिशा में विचार करने का महत्व उन्होंने नही जाना। रामदास और उनके पूर्ववर्ती सन्तो मे सबमे बड़ा भेद यही है। पूर्ववर्ती साधु-सन्त एकदेशीय थे, रामदास सार्वदेशिक सन्त थे। इसके अतिरिक्त एक अन्तर यह भी है कि पहले के सन्तो ने ब्राह्मणो के दोष दिखलाने का मानो व्रत लिया था। उनकी रचनाओं एवं उक्तियो का परिणाम यह हुआ कि चातुर्वर्ण्य-घटित महाराष्ट्रीय समाज के नेता— ब्राह्मणों का महत्व कम होने लगा। स्वजनो के दोषों को उजागर करना बुरा काम नही, पर दोष दिखानेवालों का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व सही मार्ग दिखलाना और अपने आचरण द्वारा उसकी सत्यता सिद्ध करना होता है। इस उत्तरदायित्व के अज्ञान तथा दोषाविष्करण से मनोभंग तथा मानभंग हुआ और समाज मे अराजकता छा गई; बिखराव चारों ओर दिखाई पडने लगा। सन्तो की ऐकान्तिकता का यही पर्यवसान था जिसका प्रतिकार रामदास की सार्वदेशिकता ने किया। रामदास ने दोष-दर्शन तो कराया ही परन्तु चातुर्वर्ण्य-घटित समाज के समस्त व्यक्तियो के लिए अत्यन्त करुणा-बुद्धि से सुरक्षित मार्ग का सकेत भी किया है। हजारों वर्षों का हमारा इतिहास हमारी चातुर्वर्ण्यबद्धता का साक्षी है। कहा नही जा सकता कि आगे कितनी शतियो तक चातुर्वर्ण्य रहेगा इसीलिए चातुर्वर्ण्य का अस्तित्व पूरी तरह स्वीकार कर देश के हितैषियो को दोष तथा उनके परिहार का मार्ग दिखलाना चाहिए। *यूरोपीय समाज का असन्तोष तथा "सोशलिस्टिक"* झुकाव देखते हुए यदि वहाँ के दूरदर्शी विद्वान् विचार कर रहे हैं कि उनके समाज को प्रायः चातुर्वर्ण्य का आश्रय कभी न कभी लेना पडेगा तो हम अपने यहाँ की सन्तोष-प्रवण सस्था को तोड़कर असन्तुष्ट समाजस्थिति की ओर उन्मुख हों तो उससे देश का कल्याण नही हो सकता। इसी महत्वपूर्ण पार्श्व-भूमि पर रामदास ने अपने उपदेश का सूत्र प्रस्तुत किया है।

दासबोध के रूप के विषय मे संक्षेप मे जो कुछ बतलाने-योग्य था वह अंशतः बतला चुके है। उसके सम्बन्ध मे और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। यदि मराठों के सत्रहवीं शती के इतिहास के विषय मे विचार करने का अवसर मिला तो सविस्तार लिखने का इरादा है।[1]

रामदास तथा शिवाजी का सम्बन्ध

रामदास की जीवनियाँ उपलब्ध हैं इसलिए उनके काल-निर्णय के विषय

---

[1] इसके आगे 'दासबोध' के विभिन्न संस्करणों मे पायी गई अशुद्धियों एवं अपपाठों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उसकी अल्प-रोचकता ध्यान मे रखकर अनुवाद प्रस्तुत नही किया गया—अनु०।

से मतभेद को स्थान नहीं। पर प्रत्येक घटना की तिथि का कालक्रम निश्चित करना आधुनिक अनुसन्धानकर्ताओं पर निर्भर करता है। यह तभी हो सकता है जब गंगाधर स्वामी की शक सम्वत् १६४० (सन् १७१८ ई०) में लिखित बखर प्रकाशित हो। तब तक अनुक्रम के बखेड़े में न पड़ना ही उचित होगा। शेष रहा रामदास के ग्रन्थों तथा विचारों का राष्ट्रीय महत्व जिसका दिग्दर्शन ऊपर करा चुके है। उससे अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन नेताओं तथा सामान्य जनों पर रामदास के विचारों ने कैसा प्रभाव डाला था। उससे यह भी स्पष्ट होगा कि जो लोग आजकल यह अनर्गल प्रलाप करते सुनाई पड़ते है कि शिवाजी और रामदास का कोई उल्लेखनीय सम्बन्ध नही था; शिवाजी ने सामान्य गुरु-दीक्षा लेने के निमित्त रामदास को अपना गुरु बनाया था; उनकी बातों मे कहाँ तक सत्य है। रामदास प्रतापगढ़ की भवानी के दर्शनों के लिए गये थे तो उन्होंने देवी से मनौती की थी कि मेरे राजा की रक्षा कर। परली [१] के उत्सव में शिवाजी-विरचित पद तथा अभंग गाये जाते हैं। इन दोनों तथ्यों को ध्यान मे रखने से ज्ञान होता है कि रामदास और शिवाजी के बीच कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध था। सिद्ध किये जा चुके तथ्यों को पुनः प्रमाणित करने से क्या लाभ ? जब तक 'दासबोध' विद्यमान है और जब तक इतिहास सत्रहवीं शती में मराठों द्वारा स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का साक्षी है तब तक, अव्यवस्थित; चित्तवालों को छोड़कर अन्य लोगों के विश्वास के लिए रामदास तथा शिवाजी के सम्बन्धों को नये सिरे से सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं।

'दासबोध' में योगमार्ग के प्रतिपादन का अभाव

उपर्युक्त सारांश, निरूपण, पृथक्करण तथा टीका का अध्ययन कर यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि रामदास ने यदि भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग का विस्तृत ऊहापोह किया है तो योगमार्ग का क्यों नहीं किया। क्या वे योगमार्ग को परमार्थ-प्राप्ति के योग्य नही मानते थे ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वेदान्त मे मूलतः योगमार्ग को प्रमुखता नही दी गई है। रामदास कट्टर अद्वैतवादी थे, अतः उन्होंने योगमार्ग का विवेचन नहीं किया तो अनुचित नहीं किया; बल्कि उन्होंने हठयोग का उपहास किया है। रामदास ने अगद्गुरुओं पर व्यंग्य किया है कि हमारा गुरु जल पर चल सकता है, धरती के नीचे जीवित रह सकता है; वह वीरमन्त्र जानता है।

---

[१] परली या सज्जनगढ़ वर्तमान सातारा के निकट वह गढ़ी जहाँ सम्प्रदाय-निर्माण करने के उद्देश्य से रामदास ने निवास किया—अनु०।

हठयोग के बल पर अद्भुत चमत्कार दिखलाने वाले पाखण्डियों का रामदास तिरस्कार करते हैं। क्या शिवाजी और क्या रामदास— दोनों धोखाधड़ी करने वाले नहीं थे, फिर वह आचार की हो अथवा विचार की। योग के निरूपण के अभाव का एक कारण यह था। दूसरा यह कि योगाभ्यास सामान्य जन समूह के बूते की बात नहीं। जिस व्यक्ति को निर्जन तथा शान्त स्थान, नियमित तथा सात्त्विक आहार उपलब्ध हो, जो एक एवं शान्त वृत्तिवाला हो वही योग का नाजुक और मिहनतवाला अभ्यास कर सकता है। भीड़ में धक्के खानेवाले, दिनरात दौड़-धूप करनेवाले संसारी मनुष्य योगाभ्यास कब कर पायेंगे और कर भी पाये तो उससे क्या प्राप्त होने चला है? अतः रामदास ने योग-साधन का उपदेश नहीं दिया तो निस्सन्देह उचित ही किया है। स्वयं समर्थ ने कसरती योगाभ्यास नहीं किया, न कभी अद्भुत चमत्कार दिखलाया। हनुमन्तस्वामी ने समर्थ रामदास के चमत्कार दिखलाने का वर्णन किया है, पर वह हनुमन्तस्वामी की कल्पना का चमत्कार प्रतीत होता है। रामदास के चमत्कारों का वर्णन कर हनुमन्तस्वामी ने स्वयं अपने अज्ञान का हास्यास्पद प्रदर्शन किया है। इससे दिखाई देता है कि रामदास और हनुमन्तस्वामी के काल में कितना अन्तर था। रामदास-कालीन जनता धर्मनिष्ठ थी, हनुमन्तस्वामी-कालीन जनता अन्धश्रद्ध थी। रामदास के युग को विचक्षणों का युग कहें तो हनुमन्तस्वामी के युग को अज्ञानी बौड़मों का युग कहना चाहिए। सारांश, प्रतीत होता है कि समर्थ के मतानुसार योगमार्ग परमार्थ-प्राप्ति की दृष्टि से विशेष श्रेयस्कर नहीं था। कसरतवाले योग की अपेक्षा भक्तियोग तथा ज्ञानयोग समाज का कल्याण कर सकते हैं, ऐसा उनका निश्चित मत था।

२० | उपन्यास

मराठी उपन्यास-साहित्य के तीन घटक तथा उनका सम्बन्ध

पिछले अस्सी वर्षों में महाराष्ट्र में जिन गद्य-ग्रन्थों की रचना की गई है उनमें संख्या की दृष्टि से उपन्यासों को शीर्ष-स्थान देना पड़ेगा। अमरीका, इंगलैंड फ्रान्स, जर्मनी, रूस, इटली आदि प्रत्येक पश्चिमी देश में प्रति वर्ष, प्रति मास नाना प्रकार के उपन्यास प्रकाशित होते हैं; हमारे देश में पिछले अस्सी वर्षों में उसके आधे तक प्रकाशित नहीं हुए। फिर भी महाराष्ट्र-साहित्य का एक बड़ा अंश उपन्यासों द्वारा व्याप्त किया गया है इसलिए उन्हें आँख-ओझल नहीं किया जा सकता। उपन्यास-साहित्य (१) छोटी कथाएँ (२) तिलिस्मी कथाएँ तथा (३) वास्तविकता-निदर्शक कथाएँ—तीन घटकों से तैयार हुआ है। पश्चिम में भी उपन्यास साहित्य इन्हीं तीन घटकों से निर्मित हुआ है और उसकी उद्‌भावना की ऐतिहासिक परम्परा भी हमारी परम्परा से मेल खाती दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् सबसे पहले "ईसप की कहानियाँ" "बालमित्र"[1] "पंचोपाख्यान"[2] "वैतालपच्चीसी" आदि छोटी-छोटी कहानियाँ लिखी गईं; उसके पश्चात् "मुक्तामाला",[3] "मजुघोषा"[4] "विचित्रपुरी"[5] आदि तिलिस्मी कथाओं ने जन्म पाया; और अन्त में इधर कुछ वर्षों में "आजकालच्या गोष्टी" (आजकल का कहानियाँ), "पण लक्षांत कोण घेतो"[6] (पर ध्यान कौन देता है), "जग हे असे आहे"[7] (दुनिया ऐसी है), "नारायणराव आणि

---

[1] बर्क्विन के 'चिल्ड्रन्स फ्रेण्ड' का सदाशिव काशीनाथ छत्रे द्वारा सन् १८२८ में प्रकाशित मराठी अनुवाद—अनु०।

[2] लालजी रघुनाथ ओक: १८३७ अनु०।

[3] लक्ष्मण मोरेश्वर हलबे: १८७१—अनु०।

[4] नारो सदाशिव रिसबुड: १८६८—अनु०।

[5] केशव लक्ष्मण ओरवेकर: १८७०—अनु०।

[6] तथा

[7] हरि नारायण आपटे: १८९३ तथा १८९९—अनु०।

(ग्रौर) गोदावरी"[1] "शिरस्तेदार"[2] (सरिश्तेदार), "वेणू"[3], "वाईकर भटजी"[4] ग्रादि वास्तविकता-निदर्शक ग्रथवा यथार्थवादी कहानियां प्रस्तुत की गई। हमारे उपन्यास-साहित्य की ये तीन सीढियां है।

उक्त परम्परा की पहली सीढी में ही ग्रगली दोनों की जड़े दिखलायी देती हैं। तिलिस्मी उपन्यास बीजरूप में ईसप की कहानियों, पंचोपाख्यान ग्रादि छोटी-मोटी ग्रद्भुत कथाग्रों में निहित हैं। इसी प्रकार ग्राज की यथार्थवादी रचनाएँ "बालमित्र" से निकली प्रतीत होती हैं। ग्रगली ग्रौर पिछली सीढियों का जो सम्बन्ध दिग्दर्शित किया गया है उससे प्रकट होता है कि सबसे पहले जो छोटी कहानियां प्रकाशित हुई वे ग्रद्भुत तथा यथार्थवादी—दो प्रकारों में विभाजित है। उन प्रकारों का ग्रागे चलकर परिपोष हुग्रा ग्रौर पहले प्रकार से तिलिस्मी उपन्यासों ग्रौर दूसरे से यथार्थवादी उपन्यासों का प्रादुर्भाव हुग्रा। हम देखते है कि जीवसृष्टि के कनिष्ठ प्राणियों में द्वैधीभाव से सन्तान-वृद्धि होती है; वही बात ग्रन्थ सृष्टि में भी दिखायी देती है। हमारे यह ठीक ऐसा ही हुग्रा है। तिलिस्मी ग्रौर यथार्थवादी उपन्यासों का उपर्युक्त वंशवृक्ष देखने से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार जीवसृष्टि में पूर्वजों के गुण-दोष वशजों में ग्राते दृष्टिगोचर होते है उसी प्रकार ग्रन्थ सृष्टि में भी होने चाहिए। उपर्युक्त तीनों सीढ़ियों के पूर्वग्रन्थों तथा उत्तरग्रन्थों के लक्षणों की परीक्षा करने पर विश्वास होता है कि उक्त प्रतीति सिद्धान्त बन सकती है।

विदेशी साहित्य-विधाओं का ऋण

छोटी-छोटी कहानियों की पुस्तक "बालमित्र कॉच" से ली गई एक प्रसिद्ध ग्रंग्रेजी पुस्तक का उत्कृष्ट मराठी ग्रनुवाद है। "जग है ग्रसें ग्राहे", "वाईकर भटजी" "पुरी होस फिटली"[5] (शौक पूरा हुग्रा), "रायवाड्यातील कट"[6] (रायवाड़ा का षड्यन्त्र), "मथुरा"[7] "नाहीच ना ऐकायचें"[8] (नहीं सुनोगे),

---

१ महादेव विट्ठल रहालकर : १८८४—ग्रनु०।

२ विनायक कोण्डदेव ग्रोक : १८८२—ग्रनु०।

३ गणेश विनायक लिमये : १८८६—ग्रनु०।

४ 'विकार ग्राफ् वेकफील्ड' के ग्राधार पर 'धनुर्धारी' द्वारा प्रकाशित : १८९८—ग्रनु०।

५ गिरिजाबाई केलकर : १९१६–ग्रनु०।

६ रेनॉल्ड्स के 'राई हाउस प्लॉट' का ग्रनुवाद : १८९७—ग्रनु०।

७ इस नाम का नाटक प्रसिद्ध है, उपन्यास का पता नहीं चलता—ग्रनु०।

८ रामकृष्ण बलवन्त नाटेकर : १८९२—ग्रनु०।

"शिलादित्य"[1], "करण वाघेला"[2] (वघेला) आदि यथार्थवादी रचनाएँ अनेक सामान्य एवं विशेष अँग्रेजी और फ्रेंच ग्रन्थों के रूपान्तर हैं। ईसप की कहानियाँ पचोपाख्यान, वैताल पच्चीसी आदि संक्षिप्त अद्‌भुत कथाएँ ग्रीक तथा संस्कृत ग्रन्थों के दूर के रूपान्तर हैं। उसी प्रकार 'अरबी भाषेंतील सुरस गोष्ठी' (अरबी भाषा की रोचक कहानियाँ), "अजब ऐनेमहाल"[3] (विचित्र शीशमहल), "रासेलस",[4] "हातिमताई"[5] आदि तिलिस्मी उपन्यास अनेक प्रसिद्ध विदेशी ग्रन्थों के उत्कृष्ट अनुवाद है। साराश, इधर के अनेक तिलिस्मी तथा यथार्थवादी उपन्यास पूर्ववर्ती विदेशी तिलिस्मी तथा यथार्थवादी ग्रन्थों के रूपान्तर, भाषान्तर अथवा सूचनान्तर है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि चूँकि वे रूपान्तर, भाषान्तर अथवा सूचनान्तर है इसलिए निकृष्ट रचनाएँ है। इसका कारण यह कि विदेशी भाषाओं से आये हुए ग्रन्थो मे से कुछ इतनी अच्छी तरह रूपान्तरित किये गये हैं कि वे आज अनेक वर्षो से आबालवृद्ध पाठकों का मनोरंजन कर रहे है और मराठी के श्रेष्ठ उपन्यासों मे गिने जाते है। फिर भी एक न्यूनता तो है ही; वह यह कि वे रचनाएँ हमारी मौलिक प्रतिभा की औरस सन्तान नही है। जो अखण्ड भेद असली और नकली, औरस और दत्तक, अपने और पराये, घर और बाहर, स्वामित्व और उधार के बीच होता है वही अभेद्य द्वैत वर्तमान विदेशी अनुवादों और अपनी भाषा में अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा निर्मित स्वतन्त्र ग्रन्थ-रचना के बीच होता है। हमारी आत्मा, हमारा स्वभाव, हमारा उत्साह, हमारी महत्वाकांक्षाएँ, हमारा पुरुषार्थ नकलों, अतिथि-सदृश, दत्तक, रचनाओ मे बिलकुल नहीं पाया जा सकता। किसी अन्य के सुन्दर शिशु को हम कौतुक की दृष्टि से देखते है उससे लाख गुना स्नेह अपने नन्हे प्यारे पुत्र को देखकर उमडता है। उधार ली गई रचनाओं के विषय में यही बात पाई जाती है।

---

[1] शकर मोरो रानाडे : खं० १-१८७९ और खं० २-१८९०—अनु०।

[2] प्रकाशन, १८९९—अनु०।

[3] हरी कृष्ण दामले—फारसी की एक हजार एक दिनो की अद्‌भुत एवं मनोरंजक कहानियो के पांच खण्ड : १८९३—अनु०।

[4] कृष्णशास्त्री चिपलूणकर द्वारा जॉन्सन की रचना का अनुवाद : १८७३ —अनु०।

[5] डंकन फार्बस पर आधारित कृष्णराव माधव प्रभु द्वारा रचित : १८५४ —अनु०।

ऐसी बात नहीं कि अनुवादित ग्रन्थों से मनोरंजन नहीं होता। कुछ अंशों में निस्सन्देह होता है। अरबी कथाओं के सिन्दबाद या नादिर को देखकर या रासेलस के दार्शनिक भाषणों को पढ़कर चित्त का रंजन अवश्य होता है, किन्तु भोज या विक्रमादित्य के ठाट देखकर और चन्द्रापीड़ या शरच्चन्द्र के भाषण पढ़कर मन की जो स्थिति होती है उसकी तुलना उपर्युक्त मनोरंजन नहीं कर पायेगा। कोई भावी मराठी ग्रन्थकार सिन्दबाद, जिनकला, ज्ञान विपवजोट, गार्गीचुमा जैसे अद्भुत पात्र अपनी कल्पना सृष्टि में निर्माण करे और सहृदय पाठक विश्वास करने लगें कि वे महाराष्ट्रीय अद्भुत सृष्टि के पात्र हैं तो उनसे अनन्त काल तक जिस प्रकार का मनोरंजन, सदुपदेश तथा अन्तःस्वभाव का सन्तोष प्राप्त होगा वह भला आगन्तुक ग्रन्थों के विदेशी पात्रों की उपलब्धि से कहाँ प्राप्त होने वाला है? अपनी रूखी-सूखी में जो मजा है वह दूसरे की चिकनी-चुपड़ी में नहीं। अस्तु।

मराठी के अधिकांश उपन्यास इसी योग्यता के हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि मराठी में मौलिक उपन्यासों का नितान्त अभाव है। मौलिक ग्रन्थों में कुछ तिलिस्मी हैं तो कुछ यथार्थवादी। तिलिस्मी उपन्यासों में "मुक्तामाला", "रत्नप्रभा"[1], "मंजुघोषा", "विचित्रपुरी" तथा यथार्थवादी उपन्यासों में "आज-कालच्या गोष्टी[2]", "पण लक्षात कोण घेतो", "वज्र", "नारायण राव व गोदावरी" आदि प्रसिद्ध हैं।

पहले तिलिस्मी उपन्यासों पर विचार करें।

तिलिस्म कल्पनाप्रसूत है

सामान्यतः प्रत्येक जीव और विशेषतः मनुष्य लाखों वर्षों से सृष्टि का सब ओर से परिचय पाने का प्रयत्न कर रहा है। अनुभव से वह जान चुका कि सृष्टि कार्य-कारण की शृंखला से बद्ध है परन्तु शृंखला की एकाध कड़ी का ही उसे पता चल पाया है, शेष कड़ियों के बारे में पूरा अज्ञान है। सिद्धान्त की बात है कि जिस कड़ी का ज्ञान नहीं है उसमें मनुष्य कोई हेर-फेर करने की स्थिति में नहीं है। नित्य का अनुभव है कि जहाँ सृष्टि का कुछ भाग कार्य-कारण शृंखला से बद्ध है और मनुष्य को विश्वास है कि कारणों को उपस्थित कराने से कार्य नियमपूर्वक होकर रहेगा वहाँ भी कारणों को मनचाहा

---

१. लेखक : लक्ष्मणशास्त्री हलबे, रचनाकाल १८७८ ई०—अनु०।

२. लेखक: हरि नारायण आपटे। आपटे की यथार्थवादी कथाओं का संग्रह—अनु०।

उपस्थित कराने का सामर्थ्य न होने से कार्य की अपेक्षित उपलब्धि नहीं होती। साराश, सृष्टि की अधिकाश, मूर्तामूर्त वस्तुएँ ऐसी ही हैं जिन पर मनुष्य का अल्पाश मे अधिकार नहीं, हेर-फेर करने की सामर्थ्य नही। अपनी निर्बलता का वास्तविक ज्ञान ही तिलिस्म की नींव है। प्रत्यक्ष तथा वास्तविक सृष्टि में अपने किये कुछ नही हो सकता, यह जानकर मनुष्य कल्पना-सृष्टि में तिलिस्म की दुनिया मे विहार करने लगता है। यथार्थ-सृष्टि का गुलाम कल्पना-सृष्टि का बादशाह बन जाता है। यथार्थ की असम्भावनाएँ कल्पना मे सम्भावनाएँ बन जाती है। तिलिस्म की यही अजीब दुनिया तिलिस्मी उपन्यासों का विषय है। हवा मे चलनेवाले मनुष्य, अनिन्द्यसौन्दर्यवती स्त्रियाँ, अखिलगुणालंकृत राजकुमार, असम्भाव्य रामराज्य, नाना प्रकार की वस्तुएं तिलिस्मी दुनिया मे पायी जाती हैं। यथार्थ सृष्टि की प्रत्येक व्यंग्यमय वस्तु तिलिस्मी दुनिया मे अव्यंग्यमय दिखलायी देती है। सूत्ररूप मे कहे तो यथार्थ संसार की अपूर्णता तिलिस्मी दुनिया मे पूर्णता-प्राप्त रूप मे मिलती है।

काल्पनिक सृष्टि तथा साहित्य

काल्पनिक सृष्टि के असख्य उदाहरण संसार के प्रत्येक देश की संस्थाओं मे, विचारों मे और साहित्य मे मिलते है। धर्म, नीति, वेदान्त, इतिहास, गणित, नाटक, उपन्यास, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यशास्त्र, कानून, कविता—सर्वत्र अद्भुत चमत्कारों का अस्तित्व है। धर्म की ईश्वर-विषयक कल्पना, नीति की आत्यन्तिक सुख की कल्पना, वेदान्त की सच्चिदानन्द की कल्पना, इतिहास की सुराज्य की कल्पना, गणित की शून्य विषयक कल्पना, नाटक की अघटित घटना, चित्रकला की सौन्दर्यातिशयता की कल्पना, कानून की मौलिक अधिकारों की कल्पना—समस्त कल्पनाएँ वास्तविक सृष्टि की नही, बल्कि अद्भुत सृष्टि की है। फिर भी उनके जैसी वास्तविक कल्पनाएँ अन्यत्र उपलब्ध नही। समस्त सस्थाओ, विचारों तथा शास्त्रों के मूल मे कल्पना का अस्तित्व है। कल्पना की महिमा अनिर्वचनीय है। इसी कारण संसार के प्राचीनतम साहित्य, वेदों से लेकर आज के रद्दी-से-रद्दी यूरोपीय यथार्थवादी उपन्यास में कल्पना का न्यूनाधिक पुट अनिवार्यतः पाया जाता है।

अद्भुतता का न्यूनतम पुट देखना हो तो गणित-शास्त्र देखिए। शून्य, बिन्दु, अणु आदि अद्भुत कल्पनाएँ गणित का मूलाधार हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अद्भुत कल्पनाओ का गणित मे नितान्त अभाव है, सर्वत्र यथार्थ ही दिखाई देगा। व्याकरण के सम्बन्ध मे भी यही कहना होगा। शंकर के डमरू अथवा मनुष्य के उच्चारण-यन्त्र से ओंकार की जो ध्वनि निःसृत हुई, वही

समस्त शब्दों का मूलभूत आधार है। कहने का आशय यह कि विज्ञान भी किसी-न-किसी अद्भुत कल्पना पर आधारित है; विज्ञान के बाहर दृष्टिगोचर होनेवाली प्रत्येक वस्तु मे अद्भुतता का न्यूनाधिक अंश विद्यमान है।

विज्ञान-बाह्य वस्तुओ मे अद्भुतता उत्कट विहार करती है। काव्य, नाटक, उपन्यास, चित्र-मूर्ति-स्थापत्य कलाएँ, नृत्य-गान आदि ललित कलाएँ, अद्भुतता की देवी की कर्मभूमि है। ललित कलाएँ केवल एक अद्भुत कल्पना लेकर नही जी सकती। प्रत्येक विपदा के समय विभिन्न अद्भुत कल्पनाओ का सहयोग अनिवार्यतः लेना पडता है। बिना मेघो को सजीव माने काव्य रुक जाता है। बिना दैवी बिचवई के नाटक का नायक और नायिका का मिलन हो ही नही सकता। ललित कलाओ मे नाना प्रकार की अद्भत युक्तियाँ तथा कल्पनाओं की योजना पग-पग पर करनी पडती है। योजना एक उचित अनुपात में और तारतम्यभाव से की गई हो तो रसिक आनन्द प्राप्त करता है; यदि अनपेक्षित अतिरेक हो तो वह ऊब जाता है। ललित कलाओ की अद्भुत कल्पना तथा विज्ञान की अद्भुत कल्पना मे बहुत अन्तर है। यदि विज्ञान की प्रत्येक अद्भुत कल्पना का परिष्कार तर्काधिष्ठित होता है तो ललितकलाओ की अद्भुत कल्पना तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो को खूँद कर बढ जाती है। विज्ञान मे कार्य-कारण-भाव विजयी होता है, ललित कलाओ मे उसे कोई नही पूछता। विज्ञान के सकुचित प्रदेश और अद्भुतता के विस्तृत विश्व मे अक्षरशः धरती-आसमान का अन्तर है।

यहाँ तक हमने अद्भुतता की जगड्वाल व्याप्ति का स्थान-निर्देश किया; किन्तु उसकी यथार्थ कल्पना कराने के लिए किंचित् गहन विचार कर उसका ऐतिहासिक परम्परागत रूप दिखलाना आवश्यक प्रतीत होता है। एक बार परम्परा ध्यान मे आ जाय तो ज्ञात होगा कि तिलिस्मी उपन्यास का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है और उसने मनुष्य की प्रगति मे सहायता तक पहुँचाई है।

अद्भुतता की ऐतिहासिक परम्परा

पश्चिमी गोलार्द्ध मे शब्दबद्ध किया गया सबसे प्राचीन उपन्यास यहूदियों का "ओल्ड टेस्टामेण्ट" है। शास्त्र-सिद्ध कार्य-कारण भाव का नितान्त निरादर कर लिखा गया साहित्य ससार मे कही हो सकता है तो वह "ओल्ड टेस्टामेण्ट" की तिलिस्मी कथाओ मे है। "ओल्ड टेस्टामेण्ट" की रूप के अद्भुत कथानक की बराबरी की वस्तु सारे ससार मे केवल भारत मे पाई जाती है। भारत के राजा शिवि की कथा, हरिश्चन्द्र की कथा, दमयन्ती की कथा अथवा सावित्री की कथा, ये सब तिलिस्मी उपन्यास के अनुपम उदाहरण है। "इ

टेस्टामेण्ट" मे ईसा का कथानक तो अत्यन्त अद्भुत है। उसकी बराबरी हमारे यहाँ के दधीचि मुनि की कथा ही कर सकती है वाइबिल के आगे बढ़ें तो मध्ययुगीन ईसाई सन्तो की तिलिस्मी कहानियाँ है। उनकी तुलना में हमारे यहाँ के साधु सन्तों के चमत्कारपूर्ण सन्त-चरित्र द्रष्टव्य हैं। यूनान मे प्लेटो उर्फ अफलातून नामक एक विख्यात दार्शनिक एव प्रबन्धकार हो गया है; उसके समग्र ग्रन्थ तिलिस्मी कथाओ से भरे है।

अफलातून ने स्वर्ग, पाताल, यक्ष, किन्नर, सुराज्य, कुराज्य, आदि के विषय मे जो तिलिस्मी बातें लिखी हैं उन्हे पढकर यूरोपीय प्रोफेसर उस पर लट्टू हैं। वे विद्वद्रत्न यदि हमारे अग्नि, वायु, वाराह पुराणो का अध्ययन करें तो उन्हे निरभिमानपूर्वक स्वीकार करना पडेगा कि आर्यावर्त के पुराणकार अफलातून को अद्भुत सृष्टि की निर्माण-कला के सम्बन्ध मे हजारों अद्भुत बातें सिखा सकते थे। प्रेतो की आत्माएँ किस श्वान को भगाकर किस डोगी पर सवार होती है और कौनसा सुख या दुख कितने वर्षो तक भोगती है, इसका जो विवरण अफलातून ने दिया है उसे एकत्र सकलित करें और उसकी तुलना हमारे गरुडपुराण मे वर्णित प्रेतों के पारलौकिक चरित्रों से करें तो गरुड़पुराण के रचयिता व्यास के सामने अफलातून दूध-पीता बच्चा दिखाई देगा। यह उपमा केवल विवरण के विस्तार तक सीमित नहीं है। राजनीति, व्यवहार-नीति, वेदान्त, शब्दशास्त्र, सगीत आदि नाना शास्त्रों के प्रमेयो के सम्बन्ध मे वह पुरातन यवन अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने की हिम्मत नही कर सकेगा। अफलातून ने अपने देश की धार्मिक पुराण कथाओं को अपने ग्रन्थो मे गूँथा है; वही बात भारतीय पुराणों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

अद्भुत कल्पनाओं का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट हो जायगा कि यूरोपीय धर्मग्रन्थों, सन्त-चरित्रो तथा तत्व-प्रबन्धों की अद्भुत कथाओं और हमारे यहाँ इतिहास तथा पुराणों की अद्भुत कथाओ मे बहुत समानता है। एक महत्वपूर्ण समानता और भी है। यथार्थवादी उपन्यासकार की सगर्व दर्पोक्ति सुनने मे आती है कि यथार्थवादी उपन्यासों का समाज पर जो प्रभाव पड़ता है उसका एक-सहस्रांश तक तिलिस्मी उपन्यासों का नही पड़ता। यथार्थवादियों की यह मान्यता अनुभवजन्य नही है। फिलिस्तीन के "ओल्ड टेस्टामेण्ट" की अद्भुत कथाओ ने यूरोप के वन्य लोगों के हृदय पर दो हज़ार वर्षों से अधिकार कर लिया है, रामायण, महाभारत और पुराणो की अद्भुत कहानियो ने कम-से-कम ढाई हज़ार वर्षों से हिन्दुस्तान के हिन्दू समाज का नियन्तृत्व स्वीकार किया है। पुराण तथा

महाभारत की अद्भुत कथाओं के प्रसंगो को हिन्दू धर्मशास्त्र मे पूर्वापरता दी जाती है और उनके पात्र उपमान के रूप मे स्वीकार किये जाते है। सावित्री की कथा हिन्दू-स्त्रियों के पातिव्रत की परम्परा का वर्णन करती है और महाभारत के कृष्ण, भीष्म, धर्मराज, द्रोण, अर्जुन अभिमन्यु आदि के उदाहरण अर्वाचीन महाराष्ट्र के इतिहास मे बारम्बार दिये गये है। पुराण की अद्भुत कथाएँ जिन्हे आज इतिहास मान लिया गया है वास्तव मे इतिहास का अंश नहीं बन सकतीं। इतिहास काल, स्थल, प्रसग तथा कार्य-कारण-भाव की शृंखला द्वारा आबद्ध होता है; उपन्यास मे चारो का पूर्ण अभाव रहे फिर भी कोई हानि नही होती।

तात्पर्य यह कि पुराणो की कथाएँ केवल तिलिस्मी कहानियाँ है, इसमे कोई सन्देह नही, फिर भी हम देखते है कि उन्होने समाज की तमाम गति-विधियो पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। क्या ईसाई समाज, क्या मुसलमान, क्या बौद्ध, क्या हिन्दू समाज—प्रत्येक धर्म की अद्भुत कथाओ ने उस धर्म के अनुयायियों को जैसे अपने अधिकार मे कर लिया है। दूर क्यो जायँ, गाणगा-पुर मे नृसिह सरस्वती नामक एक सिद्ध पुरुष हो गये है। 'गुरुचरित्र' नामक एक अद्भुत उपन्यास जो उनके एक शिष्य द्वारा लिखा गया था, महाराष्ट्र मे अत्यन्त विख्यात है। ग्रन्थ ने हजारो व्यक्तियो को कुछ इस प्रकार प्रभावित किया है कि लोग नित्यनियमानुसार उसका पठन करते हैं।

यह विवेचन धर्मान्तर्गत अद्भुत कथाओ का हुआ। धर्म के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे भी तिलिस्म का कैसा सार्वत्रिक प्रसार हो चुका है, यह भी दिखाया जा सकता है। सब देशों में बालको के लिए चिड़ियो-कौवो की कहानियाँ प्रचलित हैं। उनमे तिलिस्म के अतिरिक्त क्या है? जर्मनी के ग्रिम बन्धुओ ने बालोपयोगी अद्भुत कथाओ का विशाल सग्रह तैयार किया है। अद्भुत कथाएँ बालको पर कुछ ऐसी छाप छोड जाती है कि उनका स्वभाव और नैतिकता का निर्माण इन्ही अद्भुत कथाओ के श्रवण से होता है। इसी को ध्यान मे रखकर यूरोप में "जैक दि जायण्ट किलर" जैसी नयी-पुरानी बाल-कथाएँ सचित्र प्रकाशित की जाती हैं। कुछ देशो मे प्रौढायु तथा अर्द्ध-शिक्षित व्यक्तियों के लिए लोककथाएँ प्रचलित हैं जो नीति तथा व्यवहार की शिक्षा देती है। हमारे देश मे भी दामाद की, अतिथियों की और पति-पत्नी की अनेक प्रकार की कथाएँ प्रचलित है जिनमे अद्भुतता का विचित्र समावेश पाया जाता है। इसके अतिरिक्त केवल स्त्रियो के लिए कहानियाँ है ही। अतः यह नही कह सकते कि अद्भुतता का प्रभाव नगण्य है। बच्चो के खेल में लडकियो की घमाचौकड़ी में, स्त्रियों के व्रतोद्यापन मे तथा पुरुषो के मनोरंजन मे, राजा के

राजमहल मे, किसान की झोपड़ी में, सुशिक्षित तथा अशिक्षित जनों में—सर्वत्र अद्‌भुतता का अखण्ड अधिराज्य है। इसी अधिराज्य में सुख से रहनेवाले हलवे, रिमवूड आदि सज्जनो ने इधर मराठी मे अद्‌भुतता से भरी कहानियाँ लिखी हैं। वे प्राचीन कहानियों के जोड़ की नही है, फिर भी महाराष्ट्र के भावी तिलिस्मी उपन्यासो के अग्रदूत के रूप में उनका स्वागत करना चाहिए।

तिलिस्मी उपन्यासों-कथाओं की ऐतिहासिक-परम्परा पुरातन तो है ही, इसके सिवा आज तक जिन शक्तियों ने समाज पर अपना अधिकार करना चाहा है, उनके लिए अद्‌भुतता अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है। धरती पर कोई नया धर्म अवतीर्ण हो और वह जन-साधारण में प्रसार पाना चाहता हो तो उसे चाहिए कि वह अपने रूखे सिद्धान्तों का भेप त्याग दे और अद्‌भुत कथाओं का बाना पहन कर जनता के बीच रहे तो विजय निश्चित है। नीति ने अपने प्रसार के लिए सतत धर्म का अनुकरण किया है। यही नही, इतिहास, ज्योतिष, वैद्यक शास्त्रादि ने लोकप्रियता पायी है तो इसी बाने के कारण पायी है। यह कथन कदाचित् असम्भाव्य प्रतीत होगा, किन्तु उसकी सत्यता व्यवहार के दो-चार उदाहरणों से सिद्ध हो जाएगी। फलित-ज्योतिष क्या चीज है, सब जानते हैं। फलित-ज्योतिष पर संस्कृत मे नाना ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पर वे जन-साधारण की समझ मे पूरी तरह तो क्या, अंशमात्र तक नही आते। जहाँ समझ ही न काम दे वहाँ कौन उसे छूने चला है? यही बात ध्यान मे रखकर अठारहवी शती मे फलित-ज्योतिष ने तिलिस्म की उपासना कर शनि, बुध, गुरु आदि ग्रहों की अद्‌भुत लीलाओं का वर्णन रोचक कथाओं मे किया। जो लोग जानते हैं कि जन-साधारण कथाओं और उनमें भी तिलिस्मी कहानियों को कैसे चाव से पढ़ता-गुनता है, उन्हें यह बतलाने की आवश्यकता नही कि अज्ञ और सुज्ञ जनो में "शनि-महात्मा" का कितनी बार पारायण होने लगा था और फलित-ज्योतिष के साथ पुरोहित-पुराणिको, बटमारों और अड़ोसी-पड़ोसियो के ग्रह उच्चता प्राप्त कर चुके थे। शनि-महात्म्य का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि शनि देवता है, जो उसका पूजन नहीं करेगा वह, स्वयं परमात्मा ही क्यों न हो, दुखी होगा। अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि फलित ज्योतिषी से पूछकर कि शनि का चक्कर कब प्रारम्भ होगा, नैवेद्यादि समर्पित कर विधिपूर्वक शनि-देवता की आराधना करे।

फलित ज्योतिष की सफलता देखकर नीतिज्ञ भी पीछे न रहे और उन्होंने सत्यनारायण को तिलिस्म का रूप दे दिया। सत्य का परित्याग करने वालों मे किसकी क्या अवस्था हुई, आदि विवरण अद्‌भुतता का पुट देकर सत्य-नारायण की कथा मे दिया गया है। नीति का समाज में प्रचार होने पर

याशाओं के शौकीन पुरातन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन आर्यों ने तीर्थ-क्षेत्रों के तथा उनकी उत्पत्ति के वर्णनों को समाविष्ट करने वाले सैकड़ों तिलिस्मी उपन्यास प्रस्तुत किये। सारांश यह कि अनेक उद्देश्यों से अनेक अद्भुत कथानक निर्माण किये गये और आज भी किये जा रहे हैं। अन्य धर्मों का आश्रय लेने पर डूबने वाले और ईसा की भक्ति करने पर तिरने वाले मनुष्यों की कथाएँ ईसाई मिशनरियों ने प्रकाशित की हैं। वे भी तिलिस्मी उपन्यासों से कम नहीं। आजकल समाचारपत्रों में दवाओं के विज्ञापन अद्भुतता के आवरण में छापे जाते हैं। उनका यही उद्देश्य है कि अद्भुतता द्वारा पाठकों का मनोरंजन हो और वे एक बार आकर्षित हो जाय तो आवश्यकता पड़ने पर सबसे पहले एक विशेष औषधि को याद करें। आशय यह कि किसी भी मत का धुआँधार प्रचार करना हो तो तिलिस्म की सहायता लेनी चाहिए। प्रार्थना-समाजियों की उत्कट इच्छा हो कि अपने धर्म का प्रचार हो तो उन्हें चाहिए कि वे अद्भुत कथाएँ लिख-लिखकर दिखलाएँ कि उनके कितने अनुयायियों का उद्धार हुआ है। कदाचित इसी से उनके धर्म का बोलबाला हो तो हो। अस्तु। स्वशस्त्राभिमानी, स्वदेशाभिमानी, स्वधर्माभिमानी, स्वेतिहासाभिमानी व्यक्तियों के सम्मुख कुलीन एवं पुरातन तिलिस्मी उपन्यासों की जितनी स्तुति की जाय उतनी कम ही होगी।

अद्भुत कल्पनाओं की सामर्थ्य का आधार

तिलिस्मी उपन्यास की अलौकिक सामर्थ्य का आधार क्या है? हम देखते हैं कि यथार्थवादी उपन्यास में जिन बातों की कल्पना तक करना निषिद्ध है वही बातें तिलिस्मी उपन्यास में खुले आम घटित होती दिखाई जाती है, इसका क्या रहस्य है? शांकरभाष्य की जटिल विचार-पद्धति अथवा बादरायण की रूखी सूत्रमाला से लोग सनातन धर्म से जितने परिचित हुए होंगे उसकी अपेक्षा भगवद्गीता की अद्भुत कथा में धर्म की ओर अधिक प्रवृत्त हुए हैं। गजेन्द्र-मोक्ष जैसी तिलिस्मी कथाओं अथवा सन्त-विजय जैसे अद्भुत जीवन-चरितों ने धार्मिक जनों की भीड़ लगा दी; उनके सामने भाष्य और गीता के अभिमानी चाहें दोनों को मिला कर गिनें, क्षुद्र कीटकवत् प्रतीत होते हैं। तिलिस्मी उपन्यासों में आखिर कौनसी विशेषता है कि जिससे वह सबको मोहित करता है? इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य के स्वभाव में मिलता है। तर्कशास्त्राधिष्ठित सिद्धान्त परम्परा से प्रत्येक वस्तु का आकलन कर पाने की योग्यता तथा इच्छा समाज के कम—बहुत कम व्यक्तियों में पाई जाती है। अधिकांश व्यक्ति सिद्धान्त और तर्क का प्रश्न उठा कि दूर हो जाते है। धर्म,

नीति अथवा विज्ञान-सम्मत एकाध सिद्धान्त व्यवहार मे आया हुआ देखकर जन-साधारण उसे अधिकतर स्थूल रूप में स्वीकार करने की उत्सुकता दिखलाता है—वह उदासीन नहीं होता। आवश्यक नहीं कि वह व्यवहार जहाँ सिद्धान्त-सचार करता है, मनुष्यों के बीच का ही हो। देवताओं, दानवो, यक्ष-किन्नरों का ही हो तो कोई हर्ज नहीं। आवश्यक इतना ही है कि व्यवहार मनुष्यों के ढग का हो। सुलभता एवं अल्पप्रयास मनुष्य की विशेषताएँ है, तिलिस्मी या अद्भुततावादी उपन्यासों की आवश्यकता के वही मुख्य कारण है। सब मनुष्यों की बुद्धि तथा ग्रहण-शक्ति आज की अपेक्षा अधिक पैनी और दृढ होती तो अद्भुतता को कोई न पूछता। यही नहीं, तमाम शास्त्रों में अत्यन्त रूखे शास्त्र वेदान्त का बोलबाला होता और उसके सिद्धान्तों को औपन्यासिकता से शर्करावगुण्ठित करने की आवश्यकता न होती। किन्तु मनुष्य की क्या कहे जो बडी-बड़ी आवश्यकताओ की पूर्ति अद्भुतता को मध्यस्थ बनाकर कर लेता है।

महाराष्ट्रीय मन पर अद्भुतता का प्रभाव

अद्भुतता की जो परम्परा ऊपर वर्णन की गई है उससे एक विचित्र तथ्य ध्यान मे आता है। आजकल महाराष्ट्र में पुकार उठ रही है कि समाज का एक बहुत बड़ा अश उपन्यासो का अपेक्षाकृत अधिक भक्त बनता जा रहा है और उपन्यास-भक्ति से उसका कोई लाभ नही होगा। पर उपन्यास पढ़ने और सुनने का प्रचार महाराष्ट्र मे नया थोडे ही है। पिछले आठ सौ वर्षों का मराठी साहित्य देखिए तो मालूम होगा कि यहां के जन-साधारण की मत-धारा अद्भुततावादी उपन्यासों के पठन-श्रवण से ही बनी है। गीता, महाभारत, रामायण तथा पुराण एव सन्त-चरित्रों की अद्भुत कथाओं का अनुवाद आठसौ वर्षों मे कम-से-कम पच्चीस बार तो मराठी में हो ही चुका है। हम देख रहे है कि अन्य साहित्य के अभाव में अद्भुततावादी साहित्य की लहरें लगातार महाराष्ट्रीय जनता के कर्ण-तट को स्पर्श करती रही है तो ऐसी स्थिति में स्वीकार करना होगा कि अद्भुततावादी उपन्यास महाराष्ट्रीय जनता के मन का एकमात्र स्वामी रहा है। साक्षर लोग इन उपन्यासो को फुरसत के समय तो पढ़ते ही थे, इनके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव और नगर के मन्दिरों में देव-दानवों की कथाएँ सब वर्गों के स्त्री पुरुषों को प्रतिदिन सुनानेवाले हजारों पुराणिक भी थे जो पुराण-पठन के उपलक्ष्य में दो जनो का सीधा पाकर सन्तुष्ट हो जाते थे। इनके अतिरिक्त विशेष अवसर पर कथावाचक श्रोतृ-चातकों को ज्ञानामृत पिलाने को उत्सुक रहते थे। इंगलैण्ड-अमेरिका मे पैसे

लेकर अपने उपन्यास सुनानेवाले कुछ [illegible]

भुततावादी उपन्याम सुनानेवालो, [illegible]

है। अतिवाद महाराष्ट्रीय समाज की [illegible]

वादी कथा-उपन्यासो का प्रचार अन्य [illegible]

है। वस्तुस्थिति तथा परम्परा के कारण [illegible]

बीस वर्ष पहले हुई तो कोई आश्चर्य नहीं।

आत्मलीन बाह्य उद्देश्यरहित उपन्यास-[illegible]

"मुक्तामाला", "मंजुघोषा' आदि अर्वाचीन [illegible]

धार्मिक संस्थाओ के काम के उपन्यासो म [illegible]

किन्ही मतों के प्रसारार्थ रचे गये, अर्वाचीन [illegible]

नही दिखाई देता; उद्देश्य दिखा देना सम्भव [illegible]

स्त्री-पुरुषो का वियोगादि सहकर अन्त म [illegible]

उल्लेखनीय निष्कर्ष उन उपन्यासो मे नहीं [illegible] नहीं [illegible] था।

जाता है कि उपन्यासकार इससे अधिक कुछ [illegible]

संस्कृत मे "कादम्बरी", "दशकुमारचरित' आदि [illegible] भी नहीं। जिस

प्रकार कोई बाह्य उद्देश्य नही उसी प्रकार उन उपन्यासो [illegible] कुछ उन

युग मे वे उपन्यास लिखे गए उसमे महाराष्ट्रीय समाज की स्थिति कुछ इस

प्रकार की थी कि वह कोई व्यवहार अथवा दूरदर्शी नीति लेकर नहीं चल

रहा था। सन् १८५० से १८६० ई० तक सारा समाज किंकर्तव्य-विमूढ हो गया

था। इधर तीस-पैंतीस सालो मे हम लोग जो भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न

करने को उद्यत है उनका उस युग मे पता तक नहीं था, और पेशवाई के युग

की नीति और कार्य पूरी तरह विस्मृत हो चुका था। अत केवल मनोरंजनार्थ

उपन्यास लिखे गये। नमूने के लिए पूर्ववर्ती अद्भुत कथाएँ थी ही, उन्ही को

विरामादि चिह्न देकर सही-गलत गद्य वाक्य लिखकर अनुवादित किया गया।

कथाओं की विशेषता केवल अद्भुतता थी इसलिए उनमे अतिमानवीय घटनाओ

का समावेश किया जाना एकदम स्वाभाविक था। उपन्यासो के पाठकों मे

मराठा सरदार, जागीरदार और इनामदार लोग प्रमुख थे। यो मैंने बनिया-

बक्काल और पण्डे-पुरोहितो को उपन्यास पढते हुए देखा है, परन्तु उपन्यासो

के पात्र सुखासीन, आलसी, खुशहाल, उच्च वर्ग के व्यक्ति होते थे। वेदशास्त्र-

सम्पन्न लक्ष्मणशास्त्री हलवे अपने उपन्यासों के उपलक्ष्य मे खण्डेराव गायकवाड[1]

की ओर से वार्षिक पुरस्कार पाते थे, इससे विदित होगा कि बड़े लोगो मे

---

[1] बड़ौदा के महाराज (शासन-काल सन् १८५७-७१ ई०)—अनु०।

उपन्यासों के प्रति कैसा रुझान था। प्रसिद्ध है कि उपलब्ध उपन्यासों में नमक-मिर्च लगाकर और थोड़ा नया मसाला डालकर अपनी इच्छानुसार हेर-फेर करके मनपसन्द कहानियाँ सुनानेवाले लोग स्व० जमनाबाई[1] जैसे श्रीमानों के आश्रित थे।

तिलिस्म और यथार्थ का संगम

आत्मलीन उपन्यासो में भी आगे चलकर परिवर्तन होता गया। सन् १८६० ई० के पश्चात् लोग आत्म-परीक्षा करने लगे और सस्ती तिलिस्मी कहानियों से दूर होते गये। यह परावर्तन एकाएक नहीं हुआ। "मुक्तामाला", "मंजुघोषा" आदि उपन्यासों का सूर्य माध्याह्नाचल पहुँचा ही था कि "विचित्र-पुरी" जैसे एक-दो उपन्यास क्षितिज पर दिखाई देने लगे। "विचित्रपुरी" है तो तिलिस्मी उपन्यासों की कोटि की रचना, परन्तु उसकी विशेषता यह है कि वह किसी विशेष उद्देश्य से लिखी गई है। और उसमे अनेक अद्‌भुत बातों का उपहास किया गया है। "विचित्रपुरी" के प्रमुख पात्रों का इतिहास अत्यन्त अद्‌भुत है किन्तु उसका नायक और उसके मित्र भूत-प्रेतों और पिशाच-राक्षसों के कट्टर शत्रु दिखलाए गए हैं। इस प्रकार वहाँ तिलिस्म तथा यथार्थ का संगम दिखाई पडता है। संगम इसी प्रकार हो सकता है। तिलिस्म से एका-एक यथार्थ की ओर छलांगें मार कर पहुँच जाना असम्भव है। यूरोप में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। सोलहवी शती तक यूरोप के स्पेन, पुर्तगाल, फ्रान्स आदि देशों में तिलिस्मी उपन्यासों का कुछ ऐसा बोलबाला था कि धर्म और विज्ञान की दृष्टि से यूरोप ने जब आत्म-परीक्षा कर अपना सुधार करना निश्चित किया तब तिलिस्म और यथार्थ का संगम हुआ और तिलिस्म यथार्थ की ओर मुड गया। राबले की "गार्गाचुआ" और "पान्ताग्रूएल" की कथा तिलिस्म का बाना पहनकर उतरी है किन्तु प्रकट किये गये विचार आद्योपान्त यथार्थवादी हैं। सॅरवान्तिस के "डॉन क्विक्जोट" के बारे में यही कहा जायगा। डॉन क्विक्जोट पूर्ववर्ती उपन्यासों और उनमे वर्णित अद्‌भुत वीरों का उपहास करने के उद्देश्य से लिखा गया है, पर उनका ढंग अद्‌भुततावादी उपन्यास जसा ही है। लसाज के "जिल ब्ला" नामक उपन्यास की यही बात है। सारांश यह कि साहित्य मे जो परिवर्तन होता है वह सीढ़ी-दर-सढ़ी होता है।

यथार्थवाद की प्रधानता तथा श्रेष्ठ पाश्चात्य साहित्य

"विचित्रपुरी" मे अद्‌भुतता तथा यथार्थ का संगम हो जाने के पश्चात्

---

[1] उपर्युक्त की पत्नी—अनु०।

ऐसे उपन्यास जिनमें केवल यथार्थवाद की प्रधानता हो, सन् १८७० ई० के बाद लिखे जाने लगे और आज भी लिखे जाते है। यथार्थवाद की प्रेरणा मराठी-लेखकों को अंग्रेजी से मिली। इस देश मे अद्भुततावादी उपन्यास अनादि या कम-से-कम दो-ढाई हजार वर्ष पुराना तो है ही, पर यथार्थवादी उपन्यास की ऐसी कोई परम्परा नहीं। वह प्रवाह विदेशी है और उनका रूप भी विदेशी है। यूरोप के यथार्थवादी उपन्यास के सर्वोत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट प्रवाहों के उद्गम-स्थान तक पहुँचकर प्रेरणा पानेवाले लेखक हमारे यहाँ कम ही हैं, बल्कि हैं ही नहीं। अंग्रेजी उपन्यासकारों में रद्दी किस्म के रेनॉल्ड्स के दो कौड़ी के उपन्यासों का आस्वाद करनेवाले बोडम हमारे यहाँ बहुत हैं। रेनॉल्ड्स को छोड़कर आगे बढ़नेवाले पाठक मिसेज वुड, लॉर्ड लिटन आदि सामान्य लेखकों तक जाकर रुक गये। उनके आगे बढ़नेवाला एकाध रसिक हो तो हम नहीं जानते; और हो भी तो उद्गम तक पहुँचकर उसके सौन्दर्य को पूरी तरह आत्मसात् करनेवाले का तो नितान्त अभाव है।

वास्तविकता यह है कि यथार्थवादी उपन्यासकार के नाम से प्रसिद्ध होने की इच्छा रखनेवाले हमारे लेखकों को अपनी कला के इतिहास का, परम्परा का, ग्रन्थ-सम्पत्ति का तथा उसके मर्म का पर्याप्त ज्ञान प्रायः नहीं है। लेखन-कला के मर्मज्ञ और उठाईगीरा जादूगर के बीच भेद कर पाने और किसका अनुकरण करें इसका निश्चय कर पाने की शक्ति हमारे यहाँ के लेखकों मे नहीं है। घबराये हुए नौसिखुआ बच्चे की भाँति वे हर नयी वस्तु को सर्वोत्तम मान लेते हैं। मन के उथलेपन और एक प्रकार की नवीनता के कारण हर वस्तु को मराठी में लाने और इस प्रकार अपनी मातृभाषा की सेवा करने का श्रेय पाने के अतिरिक्त वे कुछ नहीं कर पाते। आजकल के मराठी कथा-उपन्यासकार अधिकांश मे इसी कोटि के हैं। अनुवाद पर पेट भरनेवाले तो असंख्य हैं, एकाध मौलिक लेखक के दर्शन हो जाते हैं, परन्तु यह कहते हुए हमें दुख है कि वह सामान्य अंग्रेजी अथवा फ्रेंच उपन्यासकार की किसी मामूली रचना से ही प्रेरित होता है। विदेशी उपन्यासकार का कथानक और पात्र लेकर उन्हे मराठी नाम देना, रीति-रिवाजों मे उचित हेर-फेर करना और अन्त मूल रचना के समान अथवा प्रतिकूल करना, स्वतन्त्र और मौलिक कहलाने-वाले हमारे लेखक इसके आगे नहीं बढ़ पाये हैं। इसका कारण क्या है? एक अंग्रेज या फ्रेंच, जर्मन या रूसी उपन्यासकार जो कल्पना कर सकता है और लिख सकता है, क्या हमारा लेखक नहीं कर सकता? क्या वहाँ के कलाकार के स्पर्श के अभाव मे हमारे लेखक को कलम स्फूर्ति नहीं पाती? इन सब प्रश्नों का उत्तर यह है कि हमारा लेखक यह सब बातें कर सकता है जो कि

लेखकों ने की है। अन्तर इतना ही है कि हमारा होनहार लेखक विदेशी लेखकों की भाँति मनोयोग से हर प्रकार की मेहनत नहीं करता। मेहनत के अभाव मे वही टिक सकता है जो दैवी प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुआ हो। अन्तिम वाक्यांश कदाचित रहस्यात्मक प्रतीत होगा अत. उसका विशदीकरण अप्रासंगिक न होगा।

अँग्रेजी मासिक पुस्तकों एवं समाचार पत्रों मे क्रमशः प्रकाशित होनेवाले उपन्यासों जैसी रचनाएँ हमारे यहाँ "करमणूक" और "मनोरंजन" मासिक-पत्रिकाओं मे आती रहती हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय तो ज्ञात होगा कि अँग्रेजी पत्रों मे प्रकाशित होनेवाले उपन्यास प्रायः सामान्य कोटि के होते है। सामान्य का यह अर्थ नही कि वे बिलकुल घटिया किस्म के होते हों; आशय यह कि वे उच्चकोटि के नही होते। क्रमशः प्रकाशित होने वाले उपन्यास स्कॉट, डिकन्स, थकरे, बाल्ज़ाक, ह्यूगो, ड्यूमाज ज़ोला, तॉलस्ताय जैसे प्रतिभाशाली उपन्यासकारों की रचनाओं की बराबरी नही कर पाते। अँग्रेजी के मासिक-पुस्तकों वाले उपन्यासो की यह स्थिति हो तो कहना न होगा कि उनका अनुकरण कर लिखे जानेवाले और उनसे होड़ लेने की इच्छा रखनेवाले हमारे उपन्यास किसी काम के नही होते। किन्तु मराठी के उपन्यासों की तुलना की यही एक कसौटी नहीं है। विख्यात् यूरोपीय उपन्यासकारों की उत्कृष्टता किस कोटि की है और यूरोपीय जनमत की प्रगति तथा शिक्षा के कार्य मे उनका क्या योग रहा है, इसका पता संक्षिप्त विवरण देने से चल जायगा।

उत्कृष्ट उपन्यास-साहित्य एवं सामाजिक प्रगति

पिछले तीन सौ वर्षों में लिखे गये यूरोपीय उपन्यासों को दो बड़े भागों में विभाजित किया जा सकता है—व्यक्ति-विषयक उपन्यास और सामाजिक उपन्यास। व्यक्ति-विषयक उपन्यासों में उन काम-क्रोध-मद-मोह-मत्सर आदि षड्रिपुओं के संकोच-विकोच का चित्र उपस्थित किया जाता है जो प्रत्येक व्यक्ति में पाए जाते हैं। चित्र की व्याप्ति व्यक्ति के परे नही जाती। पाठक के मन पर वैयक्तिक नीति का प्रभाव पड़ता है। इस विभाग के उपन्यासो के दो प्रकार हैं—पहले प्रकार के अन्तर्गत वे यथार्थवादी वैयक्तिक उपन्यास आते हैं जिनमे रोज की दुनियां के दो स्त्री-पुरुष लिये जाते हैं, उनकी विशिष्ट आदतों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाता है, उनके सुख-दुखों का चटकीला विवरण दिया जाता है और कभी-कभी पात्रों को पाठकों के मन पर बिम्बित कराने के लिए मकान, बगीचे, पहाड़, नदियाँ आदि के मानचित्र प्रस्तुत किये

जाते है और अन्त में सुख अथवा दुखकारक समाप्ति दिखाकर उपन्यास खत्म कर दिया जाता है। इंगलैंड में सोसायटी लेडीज के [illegible] नॉवेल्स से हमारे उपयुक्त उपन्यास उन्नीस नहीं सिद्ध होंगे। ये उपन्यास मूलतः अवकाशभोगी आलसी स्त्री-पुरुषों के मनोरंजन का विषय है। पश्चिम में ऐसे उपन्यास कुकुर-मुत्तों की भाँति रोज़ उगते दिखायी देते हैं। ऐसी रचनाएं व्यक्ति का कैसे मनोरंजन कर पाती है, यह तो वही जाने, राष्ट्र पर वे कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाती। इस फीके प्रकार के भिन्न वैयक्तिक उपन्यासों का एक अन्य वर्ग भी है जिसका मुख्य लक्षण है किसी एक विकार की तीव्रता का वर्णन। तीन-तीन भागों में लिखे जाने वाले सोसायटी-नॉवेल्स बड़े-बड़े स्त्री-पुरुषों के लिए जान-बूझ कर लिखे जाते हैं इसलिए मान लिया गया है कि वे जितने फीके, गोलमटोल, बेस्वाद, नरम और आवेशहीन होंगे उतनी ही सभ्यता की रक्षा होगी। तीव्रतायुक्त उपन्यास इनसे एकदम भिन्न होते हैं। अर्थात् इंगलैण्ड के मध्य तथा कनिष्ठ वर्ग के स्त्री-पुरुषों के लिए लिखे जानेवाले उपन्यासों में तीव्र विकारों का अप्रतिहत प्रदर्शन किया जाता है। ये उपन्यास भी व्यक्ति-विशेष के प्रिय हों तो हों, समाज पर प्रभाव डालना इनके बूते की बात नहीं। वैयक्तिक उपन्यासों के और भी भेद हैं। स्कूली लडकों के लिए, बनिया-बक्कालों के लिए, मज़दूरों, सैनिकों, यात्रियों और पुलिस वगैरह के लिए नाना प्रकार के उपन्यास उपलब्ध हैं, जिनका प्रमुख उद्देश्य मात्र मनोरंजन है। इनमें गहन विचार नहीं किया जाता। गरजमन्द लेखक, थोडी-बहुत पढ़ी-लिखी युवती स्त्रियाँ उपन्यासों का कारखाना चलाती है। मास्टरी, कारकुनी, दूकानदारी-जैसे व्यवसाय करनेवाले लोग यथार्थवादी उपन्यास-लेखन की बहती गंगा में हाथ धोने को तत्पर हैं; अतः इस कोटि के उपन्यासों की योग्यता के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

व्यक्ति-विषयक उपन्यासों को मैला ढोनेवाली गाड़ियों को छोड़कर आगे बढ़ते हैं तो हमें मनुष्य के उच्च और नाजुक विचार-विकारों का प्रदर्शन करनेवाले व्यक्ति-विषयक उपन्यासों की उपादेयता [illegible] मिलती है। [illegible] उपन्यासों में देशप्रेम, लोकोपकार, वात्सल्य, प्रेम-भावना आदि [illegible] भावनाओं का विश्लेषण दिखायी पड़ता है। गोल्डस्मिथ, फील्डिंग, [illegible] रिचर्डसन्, ऑस्टेन, स्कॉट, थैकरे, डिकन्स, इलियट आदि प्रख्यात [illegible] कारों ने अपना समस्त कौशल इन्हीं में लगा दिया है। [illegible] कारीगरों ने वे पात्र निर्माण किये हैं कि इंगलैण्ड की आम [illegible] जनता उनसे भली भाँति परिचित है। गोल्डस्मिथ का [illegible] अंकल टोबी; फील्डिंग का आलवर्दी; स्कॉट का [illegible]

विकविक; इलियट की रोमोला आदि पात्र अंग्रेजी में प्रसिद्ध हैं । अंग्रेज उपन्यासकारों की पाँत में बाल्ज़ाक, ड्यूमाज़ आदि फ्रेंच उपन्यासकार बिठाये जा सकते हैं । बात इतनी ही है कि कच्ची उम्र के लड़कों में और अनुभवी प्रौढ़ों में जो अन्तर होता है वही अंग्रेजी और फ्रेंच ग्रन्थकारों में है । सत्रहवीं शती की इंग्लिश क्रान्ति तथा अठारहवीं शती की फ्रेंच क्रान्ति में जो भेद है; लन्दन के सेण्ट पॉल के गिर्जाघर और पेरिस के ईफ़ेल-टॉवर की ऊँचाई में जो बेहद अन्तर है; अंग्रेजों के लियरपूल-मेन्चेस्टर की नहर और बैरन लासेप्स द्वारा निर्मित स्वेज की नहर में जो अपरम्पार अन्तर है वही अन्तर अंग्रेज और फ्रेंच उपन्यासकारों में है । ड्यूमाज और उसके सहकर्मियों ने लगभग दो हजार उपन्यास लिखे हैं । इतने उपरिनिर्दिष्ट समस्त अंग्रेज लेखकों ने नहीं लिखे । बाल्जाक भी प्रचण्ड लेखक था । उसने अपने सब ग्रन्थों को "मानवीय नाटक" कहा है । बाल्जाक और ड्यूमाज की लेखन-शैली उत्कृष्ट है और मानवीय विकारों का पृथक्करण करने में उनकी बराबरी कर पाना असम्भव है । प्रायः सभी अंग्रेजी उपन्यासकार व्यक्ति की परिधि को नहीं लाँघते । बाल्जाक तथा ड्यूमाज का झुकाव व्यक्ति की अपेक्षा समाज की ओर अधिक है । समाज के गुण-दोषों का वर्णन करने का चाव फ्रांस, रूस तथा अन्य यूरोपीय देशों में कुछ इस सीमा तक बढ़ चुका है कि उसकी बराबरी अंग्रेजी उपन्यास नहीं कर पायेंगे । इस विषय में इंगलैण्ड का साहित्य यूरोपीय, विशेषतः फ्रांस तथा रूस के साहित्य से बहुत पिछड़ा हुआ है । सामाजिक तथा राष्ट्रीय उपन्यासों की प्रगति फ्रांस और रूस में ही क्यों हुई, इंगलैण्ड में क्यों नहीं और इस सिलसिले में इंगलैण्ड जूठन पर क्यों भूख मिटाता है; स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ-रचना क्यों नहीं करता, आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर मनोरंजक तथा विचित्र तो हैं ही, विचार करने योग्य भी हैं ।

राष्ट्रीय प्रगति का साधन : साहित्य

प्रत्येक राष्ट्र को भीषण संकटों का सामना करना पड़ता है । गुलामी से छुटकारा पाने, अन्याय की शृंखलाएँ भंग करने, सामाजिक कठिनाइयों को दूर करने के समय प्रत्येक राष्ट्र को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है । इसी अवसर पर समाज का आवेग बनाये रखनेवाले, उसके विचारों को इष्ट मार्ग-दर्शन करानेवाले, उद्देश्य का चित्र स्पष्टता से अंकित करानेवाले कुछ सरस्वती के लाड़ले लेखन-कला-कुशल साहित्यकार जन्म लेते हैं । राष्ट्रीय विचारों तथा विकारों का अपने शब्दों से आवेगयुक्त प्रचार करने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर होता है । लेखक नाना प्रकार के शस्त्र लेकर अपना कार्य सम्पन्न करता

है। कोई नाटक की तो कोई इतिहास की, कोई उपन्यास की तो कोई कविता की, कोई समाचारपत्र की तो कोई धर्म-व्याख्यानों की सहायता से अपना कर्तव्य पूरा करता है। अठारहवी शती मे जब अमेरिका के सयुक्त राज्य स्वतन्त्र हुए तब समाज के विचारों के आवेश का यथार्थ दिग्दर्शन टॉमस पेन ने "कामन सेन्स" (सारासार-विचार) जैसे निबन्धो द्वारा तथा जेफर्सन ने "फेडरलिस्ट" (संयुक्त-सत्तावादी) समाचारपत्र के लेखो द्वारा किया था। चौदहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे यही कार्य इटली के व्याख्याताओ ने किया। अठारहवीं सदी में फ्रांस में जो प्रचण्ड राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा धार्मिक क्रान्ति हुई उसके बीज रूसो, वोल्तेर, दिदरो आदि महान् विचारकों, उपन्यासकारों, नाटककारो ने बोये थे। जितनी गहरी उथल-पुथल मचानी थी उतने ही पक्के, महान् ग्रन्थकार थे। पैंतीस-चालीस वर्ष पूर्व अमेरिका में गुलामो को बन्धनमुक्त करने के सिलसिले मे जो गृह-युद्ध हुआ उसकी जड़ में मिसेज स्टो का 'अकल टॉम्स केबिन" उपन्यास है। आज रूस मे पचास-साठ वर्षो से एक विशाल सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन हो रहा है, उसके उपदेशक रूसी उपन्यासकार ही है। साराश, जब कभी कोई राष्ट्र ससार के रंगमंच पर प्रमुख पात्र बनने का साहस करता है तब साहस-सूचक, दर्शक अथवा प्रोत्साहक शब्द किसी-न-किसी रूप मे ग्रन्थकार की लेखनी से या मुख से निःसृत होते है। सत्रहवी और अठारहवी शती मे महाराष्ट्र के हृदय मे सारे भारत को स्वतन्त्र करने का आवेग उठा तो उसका प्रदर्शन मराठी मे लिखी रामायण-महाभारत की कथाओ द्वारा हुआ। रामदास और मुद्गल की रामायण का प्रभाव महाराष्ट्र-समाज पर सबसे अधिक हुआ। ऐतिहासिक सामग्री की खोज मे मैं जब भिन्न-भिन्न जिलों मे घूम रहा था तब मैंने पाया कि रामदास और मुद्गल की रामायण के युद्धकाण्ड का तमाम किलो में और फौज में नित्य पाठ किया जाता था। उन रामायणों के कई चित्र आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं जिनमे रावण और राक्षसों को मुसलमानों की पोशाक पहनाई गई है, चेहरे और रंग भी उन्ही के जैसे है और राम और वानरो को क्षत्रिय और मराठों जैसा दिखलाया गया है।

अंग्रेजी साहित्य की अवनति

- सिद्धान्त है कि महत्वपूर्ण उद्गार संकट के समय मे ही निःसृत होते हैं। जहाँ सकट नही वहाँ महत्वपूर्ण उद्गारो का प्रश्न ही नहीं उठता ; इंगलैण्ड मे यही बात हुई। पिछले पचहत्तर वर्षों से इंगलैण्ड सम्पत्ति की बाढ में जैसे बहा जा रहा है; इसलिए विद्याएँ, कला-कौशल, उद्यम, व्यापार, सम्पन्नता

आदि की ओर वह ध्यान नहीं दे पाया है। कहा जाता है कि व्यापार से धनवृद्धि की; पर इंगलैण्ड की धनवृद्धि का कारण है हिन्दुस्तान। जब तक कारण विद्यमान है तब तक इंगलैण्ड को अन्य देशों की भाँति किसी वस्तु को पाने के लिए आक्रोश करने की अथवा इच्छा तक करने की आवश्यकता नहीं। यदि विद्यमान राजनीतिक, सामाजिक तथा औद्योगिक स्थिति में अमीरी का सुख हो तो उसे कौन बदलने चला है? सन् १८६० ई० तक मिल-जैसे कुछ लोग थे जो अपनी परिस्थितियों में परिवर्तन लाने के इच्छुक थे। पिछले चालीस वर्षों में वह स्थिति तक नहीं रही। आजकल इंगलैण्ड इस फ़िराक में है कि रोमन साम्राज्य की भाँति सारी पृथ्वी पर अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होता है। अंग्रेजी लोग रोमन साम्राज्य के सम्बन्ध में समय-समय पर जो विचार प्रकट करते रहे है उनसे उनकी दूरगामी नीति प्रतीत होती है कि सबसे पहले अश्वेत जातियों को नष्ट कर और उसके पश्चात् जिस प्रकार रोम ने कार्थेज आदि देश पादाक्रान्त कर धीरे-धीरे समस्त ज्ञात पृथ्वी पर साम्राज्य स्थापित किया, उसी प्रकार फ्रांस, जर्मनी, रूस, अमेरिका जैसे देशों को एक-एक कर पादाक्रान्त कर अंग्रेज सौ-दो सौ वर्षों में समस्त विश्व के चक्रवर्ती सम्राट् बन जायें। फ्रांस जैसे अस्थिर राष्ट्र समाज तथा शासन-यन्त्रणा में सुधार करने में निमग्न है, यह अवसर देखकर कोई राष्ट्र फ्रांस की शासन-यन्त्रणा पर स्वयं अधिकार कर लेने की इच्छा करे तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। आवश्यकता यदि है तो अकल की और अवसर की। चूँकि इंगलैण्ड साम्राज्य-विस्तार की ओर उन्मुख है अतः उसके पास सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक जैसे सामान्य सुधारों की ओर ध्यान देने का समय नहीं। यही कारण है कि वहाँ ग्रन्थकार भी इस विषय में लगन के साथ लिखते नहीं दिखाई देते। एक ग्रन्थकार है जो इंगलैण्ड को भली भाँति जानता है—वह है जगप्रसिद्ध रुड्यार्ड किप्लिंग जिसने इंगलैण्ड के अन्तर को भली भाँति उघाड़कर रख दिया है। साम्राज्य-लब्धि इंगलैण्ड का पुरुषार्थ है; वह दूसरी वस्तु नहीं जानता, कोई बतलाये तो सुनना नहीं चाहता। ऐसी प्रतिकूल स्थिति में वे ग्रन्थ जो मानव के अत्युच्च एवं उदात्त विचारों के मन्थन का फल है, इंगलैण्ड में किस प्रकार रचे जा सकते है? स्वतन्त्रता, प्रगति तथा सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधार के सिद्धान्त यदि दूसरा द्वार देखें तो सुविधाजनक होगा।

फ्रांस तथा रूस के साहित्य की श्रेष्ठता

इंगलैण्ड का पुरुषार्थ गलत राह पर चल रहा है इसलिए वहाँ फ्रांस तथा

रूस के राष्ट्रीय या सामाजिक उपन्यासों की भाँति कोई उपन्यास नहीं लिखा जा रहा है। अठारहवीं शती की फ्रेंच क्रान्ति ने फ्रेंच समाज को जिस ओर मोड़ दिया है उस ओर बढ़ जाने में वहाँ के विचारक स्फूर्तनाओं का संकेत करने और अपने समाज को पूर्णता की ओर ले जाने के लिए प्रयत्न-संलग्न हैं। वैज्ञानिकों की भाँति फ्रांस के उपन्यासकार भी विचार करते हैं कि बड़े-बड़े कारखानों, शहरों, कौंसिलों में अनीति किस प्रकार ताण्डव-नृत्य कर रही है, समाज के कुछ वर्ग अन्य वर्गों पर कैसा अन्याय कर रहे हैं, विज्ञान के सामने धर्म का ही नहीं बल्कि धार्मिक सम्प्रदायों तक का कैसे दीवाला पिटता जा रहा है। विक्टर ह्यूगो का उपन्यास "ला मिजरेबुल" या ज़ोला की विख्यात रचना "पेरिस" पढ़कर फ्रेंच समाज भीतर-ही-भीतर धधक उठता है—आग धधकाना ही तो उपन्यासकारों का प्रमुख उद्देश्य है। रूसी समाज की भी वही स्थिति है। फ्रांस की शासन-पद्धति संसार के सब देशों की अपेक्षा अधिक उदार तथा स्वतन्त्र है, इसलिए वहाँ के विचारक बिना प्रतिबन्ध के अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। यही कारण है कि फ्रांस में समाचारपत्रों, मासिक-पुस्तकों, कविताओं, नाटकों, उपन्यासों तथा इतिहास के माध्यम से विचारों का मुक्त प्रदर्शन करने में कठिनाई नहीं होती। रूस में अनियन्त्रित एकाधिकार राजसत्ता का अस्तित्व होने से वहाँ मुद्रण-स्वतन्त्रता नहीं है और लोग उचित प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८४० ई० से अर्थात् गोगोल ने अपना प्रथम उपन्यास प्रकाशित कराया तब से लेकर आज तक रूसी ग्रन्थकारों ने अपने राष्ट्रीय विचार उपन्यास के माध्यम से प्रकट किये हैं। गोगोल, गोन्चारोव, पिसेम्स्की, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव तथा टॉल्स्टॉय रूस के विख्यात् उपन्यासकार हैं। काउण्ट टॉल्स्टॉय की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं "युद्ध और शान्ति", "पुनर्जन्म" और "अन्ना करेनिना"। रूस की नयी पीढ़ी के विचार उपन्यासों ने निर्माण किये हैं। राष्ट्र की रचना ग्रन्थ किस प्रकार कर सकते हैं इसका सर्वोत्तम उदाहरण यही है; इसका अलग से वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं।

टॉल्स्टॉय, ज़ोला, ह्यूगो के उपन्यासों की बराबरी करनेवाला उपन्यास अंग्रेज़ी में खोजकर नहीं मिलेगा। संसार की प्रसिद्ध भाषाओं के उपन्यासों को गिनें तो उनमें इंगलैण्ड के दो-तीन और अमेरिका के एक उपन्यास का समावेश होगा। "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस", "गुलिवर्स ट्रैवल्स", "रॉबिन्सन क्रूसो" और "अंकल टॉम्स केबिन" ये चार उपन्यास हैं जिन्हें छोड़कर अन्य उपन्यासों के सम्बन्ध में अन्य देशों को सामान्यतः कोई जानकारी नहीं। पहली तीन

रचनाओं में अद्भुतता का तमाशा है। चौथी रचना सर्वमान्य है और उसने इतिहास में एक महान कार्य कर दिखाया है। पहली तीन यद्यपि अद्भुततावादी है पर उन्होंने अंग्रेजी को बहुत कुछ दिया है। पहली ने धर्म एवं नीति का प्रसार दिया, दूसरी ने नाना प्रकार के भ्रमों का उपहास करने का श्रेय पाया और तीसरी ने अंग्रेजी युवकों को साहसी यात्री बनाया। तीनों उपन्यास डेढ़ सौ वर्ष पुराने है। उनकी बराबरी करनेवाले उपन्यास अब तक अंग्रेजी भाषा मे नही लिखे गये। अंग्रेजी भाषा की राष्ट्रीयता प्रधान रचनाएँ कुल इतनी ही हैं।

मराठी उपन्यास की स्थिति

ऊपर लिख आये हैं कि अंग्रेजी के श्रेष्ठ उपन्यास कौन से हैं और इंगलैण्ड मे उपन्यास की क्या स्थिति है; फ्रांस तथा रूस के उत्कृष्ट यथार्थवादी तथा अद्भुततावादी उपन्यासकार कौन हैं। इससे अनुमान किया जा सकेगा कि मराठी में अब तक लिखे गए उपन्यास किस कोटि के हैं और इन उपन्यासकारो से हमारी क्या अपेक्षाएँ है।

आज के मराठी उपन्यासकारो मे बड़े पैमाने पर ग्रन्थ-रचना करनेवाला एक ही साहित्यकार है : श्री हरि नारायण आपटे[१]। उपन्यासो ने अधिकाश पाठकों का मनोरंजन किया है और आशा है कि आगे चलकर और भी बड़े पैमाने पर करेगे। पर वे भी व्यक्ति-विषयक उपन्यासो के आगे नही बढ पाये है। इंगलैण्ड के सोसायटी-नॉवेल्स की अपेक्षा आपटे के उपन्यास अधिक सरस है पर उस कोटि के नही कि डिकन्स, थैकरे के साथ रखे जा सकें। वे ह्यूगो, ज़ोला, तॉल्स्तॉय से बहुत पीछे की रचनाएँ है। आपटे ने महाशब्दे, शखध्वनि, बुलिस्नीक, फेग्ररब्रेन, प्रो० इण्डी जैसे विख्यात पात्र अवश्य प्रस्तुत किये परन्तु वे उभरकर दिखाई नही देते। उनकी तुलना में एक उपन्यासकार ने कई दृष्टियो से श्रेष्ठ रचना दी है। वह है श्री ओक की "सरस्तेदार"[२]। इस कृति का महत्तम दोष यह है कि वह अत्यन्त सक्षिप्त है। यदि उसका आदि-अन्त विस्तृत होता और उसमे किंचित् अद्भुततावादी घटनाओं का समावेश किया जाता अर्थात् सरिश्तेदार से मुआमलदार, दफ्तरदार, कौन्सिलर बन जाने के बाद भी कारकुन अपना कारकुनी बाना नही त्याग कर पाता—

---

१ जीवन-काल : सन् १८६४-१९५९ ई०—अनु०।

२ सन् १८८१ ई०। इस उपन्यास मे एक घूसखोर की उन्नति का इतिहास अंकित किया गया है—अनु०।

कुछ इस प्रकार उपन्यास की रचना की जाती तो वह पाँच रुपये से लेकर पाँच हजार रुपये कमानेवाले हिन्दुस्तानी कारकुन का हू-ब-हू चित्र होता। उपन्यासों के अन्तर्गत ओक महोदय की मात्र एक रचना वही है और वह भी अत्यन्त संकुचित एवं संक्षिप्त है इसलिए उनकी गणना आपटे-जैसे चार-पाँच कृतियाँ प्रस्तुत करनेवाले उपन्यासकार के साथ करना अनुचित होगा।

प्रतीत होता है कि आपटे ने कई अंग्रेजी उपन्यासकारो की रचनाओ से प्रेरणा ग्रहण की। ऐसा नही कह सकते कि किसी दूसरे की रचना पढ़कर अपनी रचना का खाका तैयार हो जाय तो उसके आधार पर निर्माण की गई कला-कृति घटिया होती है। मूल ग्रन्थ के आशय मे सुधार कर उसकी न्यूनताएँ हटा कर ग्रन्थ रचना की जा सकती है। शेक्सपीयर अथवा ड्यूमाज़ जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थकार उधार की चिन्ता नही करते। पर यह तो मानना ही होगा कि सामान्य ग्रन्थकार की दृष्टि से इस बात को गौण मानना चाहिए। मानवीय ससार मे और सुधार के क्षेत्र मे इतनी अजीब बातें बिखरी हुई हैं कि उनमे लाखो उपन्यासो के लिए लाखो विषय मिल सकते हैं। ऐसी स्थिति मे हम अकारण अन्य उपन्यासकारो का मुँह क्यो ताके? इसके अतिरिक्त आपटे महोदय की अद्भुतता तथा यथार्थ के सम्बन्ध मे जो कल्पनाएँ है वे बहुत-कुछ सन्दिग्ध प्रतीत होती है। इसी कारण उनकी कृतियाँ पर्याप्तरूपेण स्पष्ट नही होती।

अद्भुतता तथा यथार्थता का सम्बन्ध

हम लोग जिसे मराठी में अद्भुततावादी तथा यथार्थतावादी कहते है उसे यूरोप में "रोमाण्टिक" और "रियलिस्टिक" कहा जाता है। समाज और संसार मे अद्भुतता तथा यथार्थ का नाना प्रकार से सम्मिश्रण पाया जाता है। विशुद्ध अद्भुत अथवा विशुद्ध वास्तविक जैसी कोई वस्तु है ही नही। सर्वत्र सम्मिश्रण पाया जाता है; इस स्थिति में विशुद्ध यथार्थवादी उपन्यास रचने का दावा करना बकवास – बकवास नहीं तो भ्रामक अवश्य है। चित्रकारी की भाँति उपन्यास-लेखन एक कला है। चित्र मे किसी वस्तु का हू-ब-हू आरेखन कर पाना असम्भव होता है; काले और सफेद रग का सम्मिश्रण कर सही आकार का भ्रम आँखो के सामने उपस्थित करना होता है, उपन्यास के सम्बन्ध मे भी वही घटित होता है। संसार अथवा समाज की भिन्न-भिन्न प्रकार की घटनाओ मे से कुछ घटनाओं को छोड़कर, कुछ घटनाओ को लेकर उन्हे वास्तविकता की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से उभारकर दिखलाने मे उपन्यास रचना का रहस्य निहित है। अनेक घटनाओं-कार्यों तथा गुणो या दोष तथा

अध्याहार और कुछ का प्रदर्शन प्रत्येक उपन्यासकार करता है किन्तु जब गुणों अथवा घटनाओं-कार्यों का वर्णन करते समय स्पष्टता, अतिशयोक्ति अथवा अतिशयता के तत्व के उपयोग का प्रश्न उठता है, तब उसे यह देखकर सुलझाना पडता है कि रचना अद्भुततावादी है अथवा यथार्थवादी। एक लेखक अतिशयोक्ति का अधिक उपयोग करता है तो दूसरा कम। उदाहरण के लिए "पॉल और वर्जीनिया" एक उत्कृष्ट अद्भुततावादी उपन्यास है। उसकी तुलना करने के लिए एकाध यथार्थवादी उपन्यास ले। अत्यन्त यथार्थवादी रचनाओं मे जासूसी उपन्यासो की गणना की जाती है किन्तु अद्भुतता का काफी अंश उनमे भी होता है। अवगुणो की मूर्ति, नीचता की परिसीमा और धोखेबाजी के पुतले देखने हो तो वास्तविक समाज मे नही देखे जा सकते, वे मिलेंगे गाबोरियो की रचनाओं मे। जोला की कृतियाँ लीजिए—"नाना" ही सही। अद्भुतता सर्वत्र फैली हुई पायेंगे। ह्यूगो के "ला मिजरेबुल्स" में तो जान-बूझकर अद्भुतता का सहारा लिया गया है। डिकन्स के उपन्यास यथार्थवादी कहलाते हैं और उनमे भी "पिकविक पेपर्स" यथार्थवादी उपन्यासो मे शीर्षस्थ माना जाता है, किन्तु वह भी अतिशयोक्ति से अछूता नही है। साराश यह कि यथार्थवादी कहलाने वाला कोई उपन्यास लीजिए, अद्भुतता का नितान्त अभाव उसमे नही होगा। ससार मे एक ही कृति ऐसी है जिसमे अद्भुतता नही के बराबर मिलती है—वह कृति है न्यायालय के मुकदमो की समाचारपत्र मे छपनेवाली खबरें। समाचारपत्रो की खबरो का आश्रय लेने के पूर्व आइए, हम श्री आपटे के यथार्थवादी उपन्यासो की ओर देखे। उनमे भी अतिशयोक्ति और अद्भुतता मिलेगी। उक्त उपन्यासकार का एक यथार्थ पात्र "राधाबाई" लीजिए। वृद्ध पति के साथ पातिव्रतपूर्वक रहनेवाली, पति की मृत्यु के बाद केश-वपन न करनेवाली, किन्तु इतनी प्रगत होते हुए भी केश रखकर पुनर्विवाह न करनेवाली स्त्री वास्तविक कही जाय अथवा अद्भुत, इसका निर्णय यथार्थवादी ही करें। तात्पर्य यह कि अद्भुतता-रहित उपन्यास पाना प्रायः असम्भव है। और मिल भी जाय तो बेखटके मान लीजिए कि वह घटिया से घटिया है। संसार नही तो मनुष्यता नही, अद्भुतता नही तो उपन्यास भी नही।

जोला, तॉल्सतॉय आदि विख्यात् उपन्यासकारो को "रियलिस्टिक" अथवा यथार्थवादी कहा जाता है तो उसका अर्थ यह नही कि उनके उपन्यासों मे अद्भुत कल्पनाएँ खोजे नहीं मिलतीं, बल्कि उन्हे इसलिए यथार्थवादी कहा जाता है कि वे ससार के और समाज के गुण-दुर्गुणो का वर्णन अद्भुत शब्दों मे करते हैं। खान मे काम करनेवाले हजारो तरुण स्त्री-पुरुष गलत राह पर

चलकर भूल कर बैठे और उनकी भूल की कथा तारस्वर से और आन्तरिक व्यथा के साथ कहनेवाला जो उपन्यासकार अतिशयोक्ति के भय से चुप नहीं बैठता वही यथार्थवादी कहलाने का सच्चा अधिकारी है। न्याय से हो या अन्याय से, कालेपानी की सजा भुगतकर लौटने वाला अपराधी साधु-वृत्ति से तथा उदार-चरित्र बनकर रहने लगे और समाज उसे कष्ट दे तो समाज को खरी-खरी सुनानेवाले ह्यूगो जैसे महात्मा ही यथार्थवादी उपन्यासकारों में सुशोभित होते है। उनके सामने वे अन्य लेखक जो अपने को उपन्यासकार कहते हैं, केवल कलमघिसुए है। अधिक-से-अधिक वे सटर-फटर कहानियाँ लिखकर व्यक्ति का मन बहलाया करें, इसी में उनका हित है।

यूरोपीय तथा आपटे इत्यादि मराठी उपन्यासकार

उपर्युक्त निवेदन से स्पष्ट होगा कि "रियलिस्टिक" अथवा यथार्थवादी शब्द का हमारे यहाँ का प्रचलित अर्थ यूरोप के उपन्यासकारों के अर्थ से एकदम भिन्न है। किसी विशेष व्यक्ति अथवा विचार का अतिशयोक्तिपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत करना उनकी कला का मर्म है। आपटे भी अपने उपन्यासों में यूरोपीयों की राह पर चलते है, पर इसका पृथक्करण करते समय कि हम किस पद्धति से अपना कार्य करते हैं, वे कठिनाई में पड जाते है। आपटे महोदय, "रियलिस्टिक" शब्द का अर्थ लगाते है जो जैसा है वह वैसा ही चित्रित किया जाय, किन्तु "रियलिस्टिक" शब्द का यह अर्थ उपन्यास तथा किसी भी कला में काम देने वाला नहीं है। हाँ, समाचार पत्र के सम्वाद में अत्यन्त उपयोगी होगा। आपटे के उपन्यास समाचारपत्र की खबरें नहीं है, जिससे सिद्ध होता है कि यथार्थवाद का उनका अर्थ यूरोपीय उपन्यासकारों से मेल खाता है। मन में एक अर्थ, कला के प्रतिबन्ध से प्रकट होने वाला दूसरा अर्थ— कुछ ऐसी स्थिति होने से उनके उपन्यासों के कितने ही अंश अकारण विस्तार पा गये है और नीरस लगते हैं, इसी कारण कथानक कमजोर पड़ जाता है। कला के मर्म के विषय में गलतफहमी होने का यही परिणाम होता है। "नेचुरल" और "रियलिस्टिक", इन दो शब्दों ने इस उपन्यासकार के मस्तिष्क में बहुत भ्रम फैला रखा है। एक गलतफहमी और भी है। वे कदाचित् मानते हैं कि समाज की नीति और आचार-विचार की दृष्टि से दरिद्र और गन्दे बने अंश का प्रदर्शन कराना सत्साहित्य का कर्त्तव्य नहीं है। किन्तु यह विचार प्रकृति के प्रतिकूल है। प्रकाश और अन्धकार, भगवान और शैतान, अच्छा और बुरा, सद्गुण और दुर्गुण को द्वैत ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ से चला दिया है। कोमल मन का एक उपन्यासकार किसी वस्तु का निषेध करें तो वह नष्ट

थोड़े ही होने चली है। मुँह बालू में घुसेड़ देने से शत्रु से छुटकारा थोड़े ही मिल जाता है। अत: प्रत्येक उपन्यासकार को समाज के पतित अंश की स्थिति का वर्णन करना अथवा आद्य कर्तव्य मानना चाहिए। अमीरी के नशे में अन्धे हो चुके देशों के उपन्यासकार कर्तव्य पालन करने में लज्जा अनुभव करें तो खुशी से करे, किन्तु हिन्दुस्तान के और विशेषकर महाराष्ट्र के उपन्यासकार वैसा अनुभव करे तो अहित होगा। इस देश की दरिद्रता से पीड़ित, रोग से शक्तिहीन और ज्ञान की दृष्टि से पिछड़ी हुई जनता के प्रति सहानुभूति, सहृदयता के प्रतिमूर्ति उपन्यासकार न दिखलाएँ तो कौन दिखलायेगा ? जनता की वास्तविक स्थिति का व्यवस्थित ज्ञान कराने के साधनों में उपन्यास जैसा अन्य साधन न मिलेगा। साधनों का उचित एवं परिपूर्ण प्रयोग करना महाराष्ट्र के उपन्यासकारों का महान् उत्तरदायित्व है। दो सौ वर्ष पूर्व के उपन्यासकार अद्भुततावादी उपन्यास के द्वारा जनता को बाहर लाये, उसे प्रासादिक कविता के मार्ग पर ले जाकर आत्मबोध कराया। हमारा अनुमान है कि आज के युग मे वही कार्य अधिकाश में यथार्थवादी उपन्यासों द्वारा और न्यूनांश में अद्भुततावादी कथाओं द्वारा सम्पन्न होने वाला है। अनुमान का प्रत्यक्ष प्रमाण है : आपटे महोदय की "रामजी"[१] नामक कथा।

संसार के समस्त उपन्यासों की तुलना श्री हरि नारायण आपटे के उपन्यासों से करना मराठी के आज के उपन्यासों का वास्तविक मूल्यांकन करना होगा। कारण यह कि आपटे महोदय के अतिरिक्त महाराष्ट्र में कोई मौलिक उपन्यासकार नहीं है। "मनोरंजन" मासिक-पत्रिका के सम्पादक श्री काशीनाथ रघुनाथ मित्र, "कादम्बरी-कल्पद्रुम" के सम्पादक श्री चितले तथा अन्य सामान्य लेखकों की गणना मराठी उपन्यास-सम्पादकों में करनी होगी। इन लोगों की भाषा अच्छी है परन्तु भाषान्तर अथवा रूपान्तर ही इनका प्रमुख लेखन-कार्य रहा है इसलिए यह नहीं कह सकते कि मौलिक ग्रन्थ-रचना का विचार करते समय उनका समावेश करें या न करें। हमारा यह अभिप्राय नहीं कि अन्य भाषाओं के उत्तम उपन्यासों के भाषान्तर अथवा रूपान्तर प्रस्तुत करना कोई बुरा काम है। आशय यह कि क्या भाषान्तर, क्या रूपान्तर, ग्रन्थ के गुणों का श्रेय मूल ग्रन्थकार को दिया जाता है।

---

१ 'काल तर मोठा कठिण आला' शीर्षक अकाल की भयानक स्थिति का वर्णन करने वाली कहानी जिसका 'रामजी' नाम से अंग्रेजी अनुवाद मि० फिन्नर-अनविन ने प्रकाशित किया था—अनु०।

भाषान्तरकार अथवा रूपान्तरकार रहा हो तो सारा दोष उसी का होता है।
इसी कठिनाई के कारण मैं उक्त दोनों सम्पादक महानुभावों तथा अन्य तद्वर्तीयों की कृतियों की कड़ी आलोचना नहीं करना चाहता, फिर भी श्री मित्र की पत्रिका में प्रकाशित कुछ छोटी कहानियाँ कदाचित् मौलिक हों तो उनका विचार करना ही पड़ेगा। भाषान्तरों और रूपान्तरों की भीड़ में मौलिक रचनाएँ कुछ इस प्रकार खो गई हैं कि उन्हें खोज निकालना बालू में सुई खोजना है। श्री आपटे की 'करमणूक'[२] में प्रकाशित अधिकांश छोटी कहानियों के बारे में यही पाया जाता है। आपके बड़े उपन्यासों में जो उपन्यास पाश्चात्य उपन्यासों से प्राप्त विचारों कल्पनाओं पर आधारित हैं उनका मूल्य भी अंशतः कम मानना चाहिए क्योंकि अन्य देशों के साहित्यकारों ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक जो कथानक प्रस्तुत किए, जिस युक्ति से उन्हें लिखा उन्हें लेकर रचना करने वाला लेखक जानकार और सहृदय समालोचकों के पर्याप्त सम्मान का अधिकारी नहीं बन सकता। यह एक बात छोड़ दें और तब आपटे की कृतियों की परीक्षा करें तो दिखाई देगा कि वे इधर के तीस वर्षों में यथार्थवादी उपन्यासकारों में उच्च योग्यता रखते हैं। आप राष्ट्रीय प्रश्नों की अपेक्षा सामाजिक प्रश्नों पर अधिक ध्यान देते हैं। सामाजिक प्रश्नों के बाहर से दीख पड़ने वाले पहलुओं का वर्णन वे अनावश्यक विस्तार देकर करते हैं किन्तु पाठक की जो अपेक्षा होती है कि लेखक अपने विचार-विकारों का प्रबल संघर्ष चित्रित करेगा, उसकी पूर्ति की ओर आपटे विशेष ध्यान नहीं देते। सामान्य कठिनाइयाँ, रोज का व्यवहार, घरेलू सम्भाषण, छोटा-मोटा पुरुषार्थ आदि विषयों के मनोरंजक विवरण आपटे के उपन्यासों में असंख्य हैं ; यही नहीं, उपन्यास समाप्त न करें तो विवरणों को यहाँ तक बढ़ाया जा सकता है कि पाठक ऊब जाए। तूलिका का न्यूनतम स्पर्श कराकर कुशल चित्रकार जहाँ अमर चित्र प्रस्तुत कर देता है वहाँ चित्र का आभास निर्माण करने के लिए आपटे को पृष्ठ पर पृष्ठ रँगने पड़ते हैं। सारांश यह कि जैसा कह आये हैं, आज आपटे महोदय "सोसायटी नॉवेल्स" से ऊँचे किन्तु डिकन्स, थॅकरे से नीचे

---

२ (हिन्दी : मनोविनोद) स्व० आपटे ने अपने सम्पादन में यह पत्रिका अक्टूबर १८९० ई० में प्रकाशित की जो बराबर २८ वर्षों तक चलती रही। "करमणूक" पारिवारिक पत्रिका का रूप लेकर आई परन्तु उसने लोक-शिक्षा का कार्य भी किया। "करमणूक" का साहित्यिक मूल्य यह है उसमें स्वयं आपटे ने अपनी तथा अन्य लेखकों की ललित साहित्यिक कृतियाँ प्रकाशित की—अनु०।

के धरातल पर स्थित है। यों उपन्यास-लेखन के क्षेत्र मे आपने सिर्फ दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व प्रवेश किया है। आगामी दस-बीस वर्षों में वे कल्पनातीत चमत्कार दिखला सकने है यह भविष्य "रामजी" नामक आपकी कहानी देकर कथन किया जा सकता है।

तो, आज के मराठी-उपन्यास की यथार्थवादी शाखा की स्थिति इस प्रकार है। इंगलैण्ड के "सोसायटी नॉवेल्स" की अपेक्षा उत्तम उपन्यास लिखे जाने लगे हैं। फिर भी स्कॉट, फील्डिंग, डिकन्स आदि की बराबरी नहीं की जा सकती; जोला, टॉल्स्टॉय से टक्कर लेना दूर की बात है। यथार्थवादी शाखा की तुलना मे अद्भुततावादी शाखा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। "मुक्तामाला", "मंजुघोषा" जैसे पौधे लहराये नही; फौरन सूख गये। और आज तक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। दुख इसी बात का है। जर्मनी में जीन पॉल फ्रेडरिक रीख्तर जैसे लेखक अभी कल-परसों तक विख्यात अद्भुततावादी कथाएँ दे रहे थे और यहाँ हम सठियाकर कहते है कि अद्भुततावाद का ज़माना लद गया; यथार्थवाद का स्वागत करो, और इसी को बुद्धिमत्ता कहा जाता है। इसका वास्तव में कोई जवाब नही है। हमारी सरस्वती के साम्राज्य के अनेक प्रदेशों में सैकडो वर्षों से जब हल तक नहीं चला तब कैसे कह सकते है कि अमुक प्रदेश ऊसर है और अमुक उपजाऊ? विदेशी लोग अपने देश को ध्यान मे रखकर जो विचार प्रकट करते हैं उन्हे अक्षरशः स्वीकार कर उनकी चारो ओर घोषणा करने मे कोई अकलमन्दी है? इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि हमारे यहाँ के सरस्वती-प्रदेश का एक-एक क्षेत्र भरपूर फसल पाने के लिए कठोर परिश्रम करनेवाले और आवश्यकता हो तो पाश्चात्य यन्त्रो का उपयोग करनेवाले उद्योगशील कृषक की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा है। यह पुरातन आशा सफल हो सके तो वही क्षेत्र वह बेहिसाब फसल देगा कि उसे पाकर महाराष्ट्र अपने को कृतार्थ मानेगा और संसार उसकी प्रशंसा करेगा। परन्तु यह हो कैसे? प्रश्न यही है।

"बालमित्र" के अनुवादक श्री छत्रे से लेकर यथार्थवादी उपन्यासकार श्री आपटे तक मराठी उपन्यास की यात्रा के बारे में विचार करें कि उसने कितने वर्षो में मंजिल तय की और प्रश्न करें कि टॉल्स्टॉय तक पहुँचने के लिए उन्हें कितना समय लगेगा तो उसका उत्तर केवल भगवान ही दे पायेंगे। सन्तोष की बात है कि पग आगे की ओर बढा रहे है, पीछे की ओर नही। हम चाहें कि उपन्यास ह्यूगो, ज़ोला, टॉल्स्टॉय की बराबरी के लिये जायें तो एक ही उपाय है। हमारे देश के उपन्यासकारों को अपना मन उन महान् लेखकों को

भांति तैयार करना चाहिए। विधवाओं की दुःस्थिति देखकर उनका मन पिघल उठे, गरीबों की भूख देखकर कौर मुँह में न जाय, स्वदेश की दरिद्रता का विचार कर आँखों से नींद उड़ जाय, स्त्रियों को बेआबरू होते देख उन्हें भीम की भांति क्रोध जलाने लगे—जो लेखक इस मनःस्थिति में होंगे, जिनको ब्रह्म-समाधि की एकाग्र निमग्नता उपलब्ध होगी वही कैप्टेन ड्रेफू की ओर से सारे देश से लड़ सकते है, रूस के जार की ईंट-ईंट बजा सकते हैं। ऐसे कार्य सम्पन्न करने वाले उपन्यासकारों की माताओं का उन्हें जन्म देना सफल है। उत्तमोत्तम उपन्यासकार बनने के लिए जाज्वल्य मनोवृत्ति का होना नितान्त अनिवार्य है। श्रेष्ठ विद्या, व्यापक अध्ययन, विस्तृत यात्रा, पैना निरीक्षण अचूक परीक्षा, महान् उदारता, प्रगाढ़ अनुभूति तथा नाटकीय लेखनी—ये ऐसे गुण हैं जो प्रत्येक उल्लेखनीय उपन्यासकार में होने ही चाहिए। पर सबसे प्रमुख गुण है जाज्वल्य मनोवृत्ति। उसके अभाव में अन्य गुण व्यर्थ हैं। और वह मनोवृत्ति कृत्रिमता से उत्पन्न नहीं की जा सकती। उसे प्रभु की देन ही समझना चाहिए। प्रोत्साहिक मण्डलियों अथवा सोसाइटियों के पुरस्कार से रद्दी कविताएँ, घटिया उपन्यास, बेकार नाटक, व्यर्थ जीवन-चरित जैसे ग्रन्थों का निर्माण होगा। जीवन्त साहित्य निर्माण करता है जाज्वल्य तथा प्रखर मनोवृत्ति का जानदार बीज ही। पुरस्कारों से प्रसादपूर्ण रचनाएँ जन्म पाती तो बालाजी बाजीराव के कथनानुसार चुटकियों में बच्चे पैदा होते। आपटे महोदय की साहित्य-सन्तान उत्तेजनोत्पन्न नहीं है, यह उनकी एक विशेषता है।

आपटे महोदय के अधिकांश उपन्यास व्यक्ति-विषयक हैं और उनके अधिकांश पात्र सुधारक-वर्ग के हैं। श्री आपटे स्वयं उसी वर्ग के हैं अतः उनकी मनोरचना पात्रों को प्रभावित करे तो कोई आश्चर्य नहीं। अखिल विश्व के सुख-दुख के प्रति समदृष्टि रखने वाले व्यास, वाल्मीकि, होमर, गेटे, रामदास, रानाडे, वोल्तेर, दान्ते जैसे व्यक्तियों की बात और है और दो दिन की दलबन्दी में उलझने वाले हमारे-आपके जैसे सामान्य व्यक्तियों की ओर है। अतः उनके उपन्यासों में सुधारवाद की झलक दिखलाई पड़ना अत्यन्त स्वाभाविक है। श्री आपटे ने पाँच-छः बड़े उपन्यास 'करमणूक' में प्रकाशित कराये हैं। मान लिया जाय कि आज तक प्रत्येक उपन्यास दस-दस हजार पाठकों द्वारा पढ़ा गया तो स्वीकार करना होगा कि सुधारवाद से तमाम व्यक्ति परिचित हो चुके हैं। मेरा मत है कि सुधारवाद का प्रकाश इसी प्रकार फैले। किन्तु इस जंगम प्रेरणा को वहन करने वाले उद्धारक-दल के स्थावर मतों को स्थायित्व

देने का प्रयत्न उपन्यासों ने किया हो, ऐसा नहीं कह सकते। अपवाद रूप में प्रो० गोले का एक ही उत्कृष्ट ग्रन्थ इस विषय पर है : "हिन्दू धर्म और सुधार" (१८९८ ई०—अनु०)। अस्तु। मूल स्थावर का ही ठिकाना न हो तो जगम क्या करे ? अतः यह चेतावनी देकर कि आपटे महोदय के प्रगतिशील प्रयत्नों को वहन करने के लिए स्थितिशील प्रयत्नो की आवश्यकता है; और यथार्थवादी उपन्यासों की भविष्य में मौलिक उद्भावना की कामना कर यह विवरण यहीं समाप्त करता हूं।

हमने देखा कि यूरोपीय उपन्यासों की तुलना में हमारे उपन्यासों की क्या स्थिति है। आक्षेप उपस्थित किया जा सकता है कि महान् व्यक्तियों की लघु व्यक्तियो से तुलना कर लघु व्यक्तियो को निष्कृष्ट मानकर उनका उल्लास नष्ट करना सहानुभूति का लक्षण नही है। प्रस्तुत समीक्षक ने सहानुभूति के साथ सत्य की ओर और प्रोत्साहन के साथ प्रगति की ओर विशेष ध्यान दिया है, इसीलिए उसे तुलना का मार्ग श्रेयकर प्रतीत होता है। आज दो राष्ट्रों में जो जीवन-संघर्ष चल रहा है, उसमें उत्साहपूर्वक भाग लेने की इच्छा या आवश्यकता अनुभव करें तो यह नहीं भूल सकते कि संघर्ष में सहायक सिद्ध होने वाले शस्त्रास्त्र दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ—श्रेष्ठ नही तो बराबरी के सही—होने ही चाहिये। संघर्ष मे भाग लेने पर लघुता के कारण कोई तरस नहीं खाता। अतः हमारे उपन्यासों का मूल्यांकन करते समय विश्व के उत्कृष्ट सवर्गीय उपन्यास-साहित्य को विस्मृत नही किया जा सकता। एक और भी कारण है। ऐसी मान्यता है कि मराठी-उपन्यासकार रचना प्रस्तुत करता है महाराष्ट्र की सर्वसाधारण जनता के लिए। मेरी दूसरी मान्यता यह है कि श्रेष्ठ ग्रन्थ वही है जिसकी प्रशंसा महाराष्ट्र का अत्युच्च शिक्षा-प्राप्त वर्ग करे। आज का अत्युच्च शिक्षा प्राप्त महाराष्ट्र वर्ग यूरोपीय साहित्य से भली-भाँति परिचित है। वह उत्कृष्ट और निष्कृष्ट साहित्य का भेद खूब जानता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में उस वर्ग के सामने प्रस्तुत की जानेवाली रचना की परख पूरी सचाई के साथ एक विशेष प्रकार की कसौटी पर की जायगी। आज का शिक्षित रसिक वर्ग उच्च कोटि के यूरोपीय उपन्यासों में मग्न है। मराठी का उत्कृष्ट उपन्यासकार वह होगा जो उक्त वर्ग को मराठी उपन्यास पढ़ने को बाध्य करेगा और यह भी सोचने पर मजबूर करेगा कि न पढ़ने से वह उत्कृष्ट विचारों से वंचित रहेगा।

उपन्यास का कार्य

महाराष्ट्र के अद्‌भुततावादी तथा यथार्थवादी उपन्यासों की परम्परा, अद्‌भुततावादी उपन्यास का स्वरूप तथा यथार्थवादी उपन्यास का मर्म आदि विषयों का जितना संक्षिप्त ऊहापोह करना उचित था, हमने ऊपर किया। उससे प्रकट हुआ कि समाज और व्यक्ति के गुणों और विचारों का प्रदर्शन कराने के उत्कृष्ट माध्यम दोनों प्रकार के उपन्यास है, यही नही, समाज में उत्कृष्ट विचारों और पुरुषार्थ की कल्पनाओं का प्रसार करने की दृष्टि से उपन्यास जैसा सरल साधन नहीं मिल सकता। उपन्यासकार जिन श्रेष्ठ विचारयुक्त तथा पुरुषार्थी पात्रो का निर्माण करता है वे प्रायः वर्तमानकालीन समाज मे दिखाई नही देते, वे बसते हैं उपन्यासकार की अद्‌भुत सृष्टि मे। पर यथार्थवादी उपन्यासकार, एक बार उन्हे अपने यथार्थवादी कथानक मे पिरोकर प्रस्तुत करता है तो वे पाठको को तत्काल अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं और सन्तो की भाँति अपना बना लेते हैं। मत-प्रसार का कार्य उपन्यास इसी भाँति करता है। पात्रों से तादात्म्य पाना मनुष्य का स्वभाव हैं। उपन्यास पढ़ते समय पाठक के मन में भावना आती है कि पात्रों का सुख, दुख, आपदाएँ विजय और उनके मत वास्तव में हमारी अपनी वस्तुएँ हैं—उपन्यासकार की सफलता का यही लक्षण है। ऐतिहासिक उपन्यासो का यही तो उद्देश्य होता है। यों उपन्यासों का एक वर्ग "ऐतिहासिक" शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है, पर उसकी कोई आवश्यकता नही। ऐतिहासिक उपन्यासो का एक भिन्न वर्ग माना जाय तो नैतिक, वैज्ञानिक, प्रवासिक, प्रेम-भावनायुक्त, राजनीति आदि नाना प्रकार के असंख्य वर्ग बनाने होंगे जो अव्यवस्थित अतः अवैज्ञानिक होगा।

उपन्यास का सामाजिक कार्य उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होगा। लोग उपन्यास पढ़ते है इसलिए उनका तिरस्कार करने वाले और उनके विरुद्ध चीख-पुकार मचानेवाले अपने प्रतिद्वन्द्वी की पुरातनता और बलाढ्यता का पर्याप्त अनुमान नही कर पाते, यही कहना होगा। उचित अनुमान कर पाने पर समझ में आयेगा कि आत्मबोध की दृष्टि से पुरातन एवं शक्तिशाली राक्षस का अधिक्षेप करने के बदले उससे सहायता लेना अधिक हितकारी है। समाज एक विशेष मत का प्रसार कराना चाहता हो तो उसे सरस्वती के उसी माण्डलिक की शरण में जाना चाहिए; और वह सहर्ष शरण देगा। अपनी उपयुक्तता सिद्ध कर सम्मानित किये जाने का अलभ्य अवसर कौन छोड़ने चला है? समाज की इच्छा भली भाँति समझकर वह तत्परता से कार्य में

जुट जायगा—छोटे बालकों को पशु-पक्षियों की कहानियां सुनाकर उनमें युक्ति और साहस के बीज बोयेगा; स्त्रियों को गृहस्थी के सुख के रहस्य का ज्ञान करायेगा; युवकों को राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा का मर्म समझायेगा और वृद्धों को जीवन की इतिकर्तव्यता का दिग्दर्शन करायेगा—और पता तक नहीं चलने देगा कि वह सब उसने कब और कैसे किया। उस मयासुर की रचना विचित्र है। युधिष्ठिर की भांति जो लोग उससे लाभ उठाएंगे वे साधुवाद के पात्र होंगे।